

चौमासा

वर्ष-28 अंक-85
मार्च-जून, 2011

प्रधान सम्पादक
गणेश भालचन्द्र बागदरे

सम्पादक
अशोक मिश्र



आदिवासी लोक कला एवं तुलसी साहित्य अकादमी
मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्, भोपाल का प्रकाशन

© स्वत्वाधिकार सुरक्षित

सम्पर्क

आदिवासी लोक कला एवं तुलसी साहित्य अकादमी
मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्
मुल्ला रमूजी संस्कृति भवन, आधार तल
बाणगंगा, भोपाल-462003
फोन/ फैक्स : 0755-2551878, 2760668, 2770308
E-mail : mplokkala@rediffmail.com

मूल्य

एक प्रति बीस रूपये
वार्षिक - पचास रूपये
आजीवन सदस्यता - पन्द्रह सौ रूपये
चौमासा का वार्षिक शुल्क अनुषंग पुस्तिका के साथ सौ रूपये

प्रचार/प्रसार

श्रीमती उर्मिला पारखे, प्रवीण गावण्डे

शब्दांकन

आदिवासी लोक कला एवं तुलसी साहित्य अकादमी
मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्

आवरण

गोंडी चित्रांकन - श्रीमती दुर्गाबाई व्याम

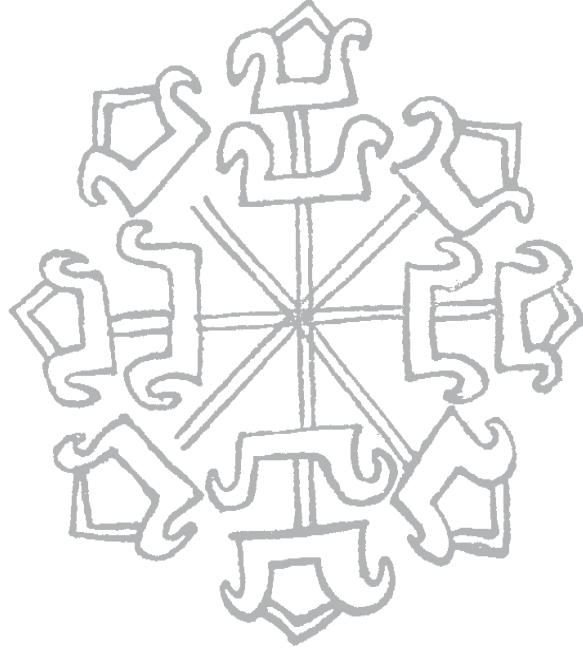
मुद्रण

शासकीय केन्द्रीय मुद्रणालय, भोपाल

- चौमासा में प्रकाशित सामग्री लेखकों के अपने कार्य और विचार हैं। आवश्यक नहीं कि अकादमी उससे सहमत हो।
- पत्रिका और प्रकाशन से संबंधित समस्त विवादों का न्यायालयीन कार्यक्षेत्र भोपाल रहेगा।

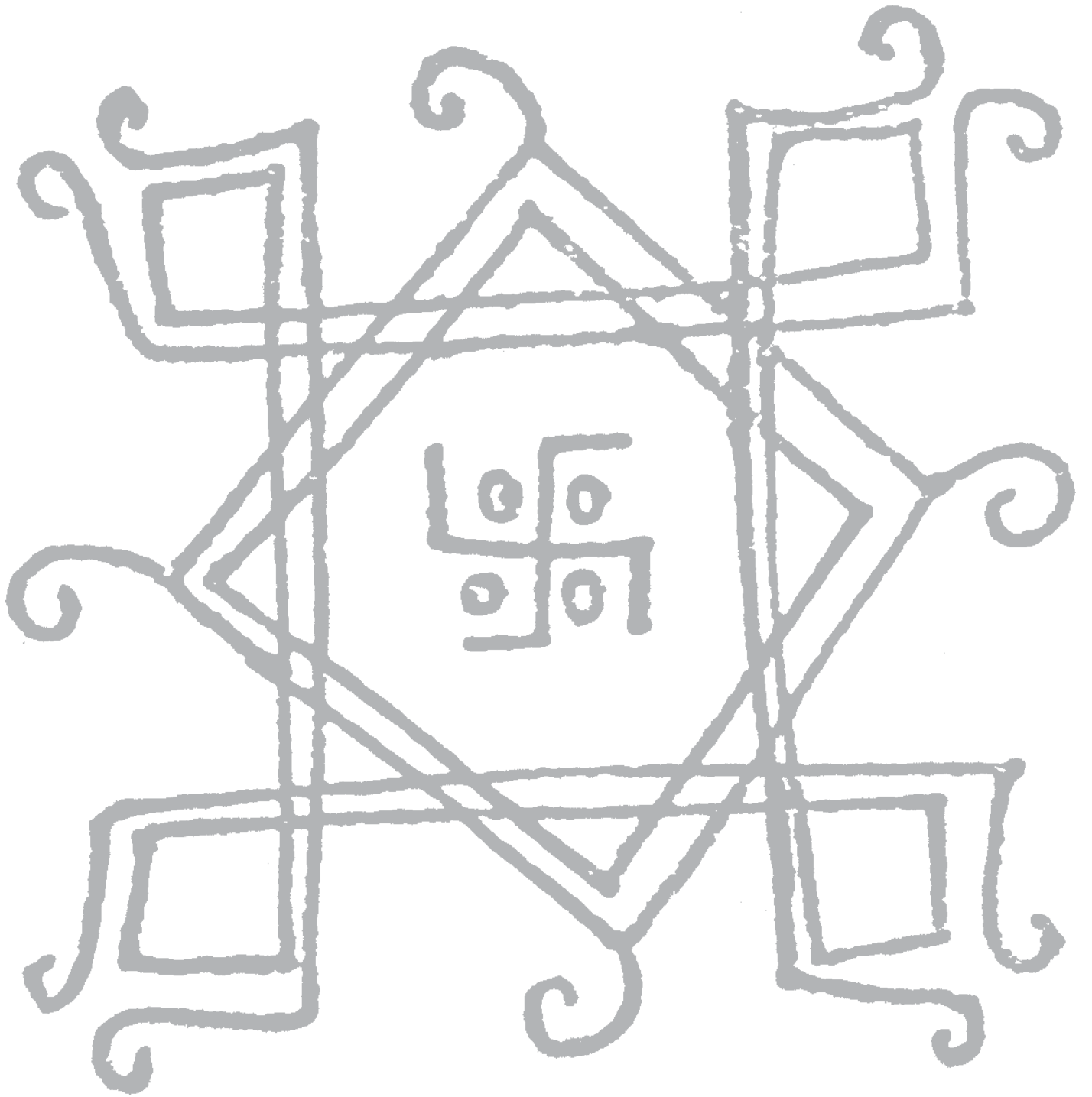
निदेशक, आदिवासी लोक कला एवं तुलसी साहित्य अकादमी, मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्, भोपाल, मुद्रक, प्रकाशक द्वारा शासकीय केन्द्रीय मुद्रणालय, मैदा मिल, भोपाल से मुद्रित कराकर आदिवासी लोक कला एवं तुलसी साहित्य अकादमी, मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्, मुल्ला रमूजी संस्कृति भवन, आधार तल, बाणगंगा, भोपाल से प्रकाशित।

सम्पादक-अशोक मिश्र



इस अंक में

- पूर्वजन्म एवं पुनर्जन्म का लोक / डॉ. महेन्द्र भानावत / 5
वाक्- लोकभाषा और बुन्देली-मालवी चित्रकला / डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित / 18
भुवाई और माच साहित्य मालवा / डॉ. पून सहगल / 26
बुन्देली गीतों में वात्सल्य / डॉ. हरीमोहन पुरवार / 34
मालवा का शिल्प / डॉ. शिव चौरसिया / 39
व्रत-त्योहारों में चित्रकला / डॉ. (श्रीमती) अर्चना श्रीवास्तव / 43
गोंड जनजाति की पुराण कथाएँ / निरंजन महावर / 50
लोकनाट्य नाचा में साखी परम्परा / डॉ. पीसीलाल यादव / 63
छत्तीसगढ़ी साहित्य में संस्कृति / डॉ. आरती झा / 70
ऋषि दुर्वासा और आनंद धाम / मायापति मिश्र / 74
ब्रज की लोककला / डॉ. रामनिवास शर्मा / 77
मुण्डारी गीतों में सौन्दर्य / डॉ. बालेन्दु शेखर तिवारी / 88
कुडुख साहित्य / अभिषेक अवतंस / 93
कुमाउनी बाल साहित्य / प्रो० शेरसिंह बिष्ट / 96
उत्तरांचल के लोक साहित्य में विज्ञान / दिवा भट्ट / 124
उत्तराखण्ड की जनजातीय कलाएँ / डॉ. शेखरचन्द्र जोशी / 129
मनुष्य में ईश्वर खोजे: बाउल / दीपक कुमार सिन्हा / 133
लोक साहित्य में रतिप्रसंग / डॉ. राजेन्द्र रंजन चतुर्वेदी / 138
कँवर जनजाति में बीजबोहनी / डॉ. उषा वैरागकर आठले / 142
भरथरी आख्यान में संगीत / डॉ. श्रीमती आशा खरे / 146



पूर्वजन्म एवं पुनर्जन्म का लोक

डॉ. महेन्द्र भानावत

पूर्वजन्म और पुनर्जन्म जितने दिलचस्प विषय हैं, उतने ही रहस्यमय तथा रोमांच देने वाले हैं। इनके संबंध में कोई निश्चित धारणा नहीं है। जितने मुँह उतनी ही बातें हैं। जो लोग इनमें विश्वास नहीं रखते, वे लोग भी जब बातचीत पर उतर आते हैं, तो बड़े विश्वासी एवं रुचिविज्ञ लगते नजर आते हैं। कई बार तो आपबीती घटनाएँ तथा अन्यों से सुनी बातों को बड़ी दिलचस्पी और तन्मयता से सुनाकर रसवान लगते हैं। लोकजीवन तो इन बातों से भरा पड़ा है। ऐसे कई लाल, सिद्ध पुरुष तथा साधक मिल जायेंगे, जो अपने अनुभूत सत्य के कई दृष्टान्त लिए हैं, लेकिन उन्हें खोजना मुश्किल, उन तक पहुँच पाना और मुश्किल तथा उनसे प्रामाणिक जानकारी प्राप्त करना तो महा मुश्किल है।

मैं पिछले पचास वर्षों से लोकजीवन में चरैवेति रहा हूँ। मैंने भूत, प्रेत, डाकिन, चुड़ैल, सिकोतरी आदि पर बहुत लिखा है। मूठ जैसी मारक विद्या पर भी कलम चलाई है। दिव्यात्माओं की शरण में भी गया हूँ। उनके मेलों तथा जनकल्याणकारी सरोकारों को मैंने नजदीक से देखा है। पूर्वजों के कर्तव्य-करिश्मों को भी मैंने ध्यानपूर्वक हृदयस्थ किया है। नवरात्रि में नौ दिन गाँवों में लोक देवताओं के देवस्थल, देवरों में उनकी यशगाथा, भारत की उच्च गायकी के साथ संबंधित देव-देवी को अपने पुजारी भोपे के शरीर में अवतरित होते, समस्याओं की जन सुनवाई करते और उनका समाधान देते देखा है। ग्रामीण अंचलों में जो जनजीवन है, वह तो इन्हीं देवशक्तियों में सम्पूर्ण-समग्र विश्वासी है। जन्म से मरण तक के जीवन परिवेश में अच्छा-बुरा जो भी घटित होता है, उन्हीं की अनुकम्पा, आशीष तथा आराधना का प्रतिफल माना जाता है।

1982 के वर्ष में मैं चित्तौड़ गया, लोकनाट्य की सशक्त विधा तुरा कलंगी के बारे में अध्ययन के लिए। इस विधा के खिलाड़ियों से मैं पूछताछ कर रहा था, तभी एक उम्रशुदा व्यक्ति ने कटाक्ष भरे लहजे में मुझे कहा- 'तुरा कलंगी तो यहीं के यहीं हैं, इनकी जानकारी तो फिर कभी लेना। आप तो यहाँ भूत-प्रेतों का मेला लगता है, उस पर कुछ लिखो तो बात बने।' मेरे लिए यह चुनौती थी। मुझमें एक अजूबे किन्तु महत्वपूर्ण पक्ष पर कुछ लिखने की ललक जगी। मैंने वहाँ तुराकलंगी छोड़, भूतों के लगने वाले मेले पर पूछताछ प्रारंभ कर दी। लोगों ने इस मेले संबंधी कई अचरज भरी बातें बताईं, पर देखा किसी ने नहीं था।

मैं लोकजीवन की सच्चाई का अविश्वासी कभी नहीं रहा। जो कुछ सुना, समझा उसका सदैव समाधान, प्रमाण ढूँढने का प्रयत्न किया। भूतों के लगने वाले मेले की पुख्ता जानकारी और सत्य-सच का पता किसी जीवधारी मनुष्य से संभव नहीं था, पर जिसकी खोजदृष्टि तीव्रतम बन किसी प्राप्ति में अहर्निश लग जाती है, उसे कुछ न कुछ हाथ लग ही जाता है। तब वह कहावत चरितार्थ हुई लगती है, धरती पर पड़ा पोटा (गोबर) धूल लेकर ही उठता है- 'पड़्यौ पोटा धूल लेइने उठै।'

मुझे लोकदेवता कल्लाजी की शरण मिल गई और उन्होंने 15 नवम्बर 1982 की दीवाली को वह मेला मुझे दिखा दिया। चित्तौड़ के किले पर कालिकामाता के मंदिर से मोती बाजार तक मैं इस मेले का साक्षी बना। लगभग साढ़े नौ बजे रात्रि को अचानक मानसिंहजी (तब के जयपुर के राजा, अब कल्लाजी के प्रधान सेनापति) आये और बोले- 'जल्दी करो, अपना सामान समेटो, सब इधर ही आने वाले हैं। दो दीवाली होने के कारण इस बार नुगरे (बुरे) ही अधिक आये हैं, मगर आप डरें नहीं। मैं आपके साथ रहूँगा।'

सारा सामान समेटने में मुझे कोई समय नहीं लगा और मैं चल पड़ा उनके साथ। ऐसा लग रहा था कि किसी बड़ी भीड़ में मैं जा फँसा हूँ। जैसे जानवर भड़क गये हों और बेरोकटोक भाग रहे हों, ऐसे भूत-प्रेत भागे जा रहे थे। भीड़ भरे मेलों में जो स्थिति किसी मानवी की होती है, वैसी ही मेरी होती रही, मगर उसी तेजी से मानसिंहजी कभी बाकले लुटाते, कभी मिठाई तो कभी धार देते। पूरे रास्ते हम त्वरा से बढ़ते रहे।

बीच राह पर एक जगह मुझे उन्होंने रोक दिया। सामने देखा, पत्ता महल के पास वाले तालाब में घुड़सवार के रूप में जयमलजी की आकृति। एक तेज प्रकाशपुंज। पृष्ठभूमि में घना काला अंधेरा। काफी देर तक मैं उस दिव्यात्मा के दर्शन करता रहा। बड़ा आत्मीय सुख मिला। जब तक मेरा मन नहीं भरा, तब तक वह दिव्य-आत्मा मेरे सम्मुख बनी रही। इसी पत्ता महल के आसपास डेरे डले हुए थे। तम्बू लगे हुए थे। थोड़ी देर बाद पत्ता महल से जोर-जोर की आवाज आई। मैंने देखा, महल के बीचोंबीच ठेठ भीतर तक वैसा ही प्रकाशपुंज, कुछ अधिक तेजोमय दिखा आकृति विहीन। यह दाताजी कृष्ण की छवि थी। इसके पश्चात् एक अपेक्षाकृत छोटी दिव्याकृति और दिखाई दी। यह कुंभाजी की थी, एक विराट आदमकद आकृति।

चित्तौड़ किले पर कुल सत्रह जौहर हुए। तीसरे जौहर के बाद संवत् 1702 में यह अदृश्य मेला प्रारंभ हुआ। अकाल मृत्यु प्राप्त कर जो जीव इधर-उधर हो गये, भटक गये, उनसे आपसी मेलमिलाप के लिए यह मेला प्रारंभ हुआ। इस मेले के लिए मैं दीवाली से एक दिन पूर्व रूप चतुर्दशी को कल्लाजी के सेवक सरजुदासजी के साथ चित्तौड़ चला गया। अन्नपूर्णा माता के मंदिर में हमारे ठहरने की व्यवस्था हो गई। सरजुदासजी के शरीर में ही कल्लाजी और मानसिंहजी का भाव आया। मेरे लिए सुरक्षा हेतु दस हजार सैनिक जगह-जगह नाकेबंदी कर खड़े कर दिये गये थे।¹

इस मेले में दिव्य आत्माओं के दर्शन ने मेरी उत्सुकता बढ़ा दी। मैं सोच बैठा कि नुगरी आत्माओं के मेले की तरह सुगरी (श्रेष्ठ) आत्माओं का भी मेला लगता होगा। पूछने पर कल्ला बावजी ने मेरी जिज्ञासा ही शांत नहीं की, दिव्य आत्माओं का मेला भी दिखा दिया। यह मेला दिखाया 1984 की बैकुंठ चतुर्दशी (कार्तिक शुक्ला चवदस) को। हम लोग बिड़ला धर्मशाला में ठहरे। जो आत्माएँ सद्गति में हैं, वे इस मेले में सम्मिलित होती हैं। महाराणा मोकल के समय इसका प्रारंभ हुआ। इसमें संत-सतियाँ तथा महापुरुष एकत्र होते हैं। जोगमाया जगत्जननी सबको काम की जिम्मेदारी सौंपती हैं और पिछले वर्ष का लेखाजोखा करती हैं। ऐसे मेले चित्तौड़ के अलावा और भी जगह लगते हैं। कहीं एकादशी को तो कहीं पूर्णिमा को।

मेले में जो गादी ढलती है, उसमें पहली पंक्ति सोलह

उमरावों की लगती है। उसके पीछे बत्तीसों की। फिर महापुरुषों की, साहूकारों की। उनके पीछे रावराजा आदि बैठते हैं। रावराजा पासवान्यों के लड़के होते हैं। इसके साथ पिता की बजाय माता का नाम चलता है। इस बार पहली बार रामदेवजी का पधारना हुआ जो मारवाड़ के मुख्य सोलह उमरावों में गिने जाते हैं।

धर्मशाला के सामने की भामाशाह की हवेली में बड़ी चहल-पहल देखी। लगा जैसे महा महोत्सव हो रहा है। इस हवेली से कुंभा महल तक कोई न कोई प्रकाश बिंब आता दिखाई दिया। इनमें कभी कोई हल्की रोशनी होती, कभी तेज तो कभी बहुत तेज। कभी नीली, कभी लाल, कभी लपलपाती। सभी महलों और हवेलियों में इन आत्माओं के ठहराने की व्यवस्था के कारण सबकी भव्य सजावट की गई थी। सब जगह नौकर, चाकर, सैनिक तैनात थे। रात्रि साढ़े ग्यारह बजे हम धर्मशाला से निकले और एक बजे तक सारा मेला देखकर लौटे।

पत्ता महल से गुजरते हुए हमें मालपुओं की तीव्र खुशबू आई। यहीं पर दो परछाइयाँ दिखाई दीं, जिनसे कल्लाजी ने बातचीत की और कहा- 'राजीरीजो (प्रसन्न रहना)। उन्होंने बताया कि यहाँ मरदाना भोज चल रहा है। कुंभा महल में जनाना भोज (जीमण) रखा गया था। यहाँ सारी व्यवस्था का जिम्मा पुरानी दासी कासीबाई को सौंप रखा था। मुसलमान आत्माओं के खाने की व्यवस्था नौ गजा पीर के वहाँ रखी गई थी। हम अपने साथ संतरा, नारंगी, सेव, केला, नारियल, दूध की बोटल तथा तीन-चार तरह की मिठाई लिये थे। कल्लाजी ने संकेत दिया कि रास्ते में कोई बोलेगा नहीं। एक अंगुली का इशारा करने पर नमन करना, दो अंगुली का इशारा पाकर फल और मिठाई डालना और हाथ पीछे करने पर अमल-दूध की धार देना नहीं भूलें।²

प्रकाश बिंब के रूप में दिव्यात्माएँ मानव-सृष्टि का संचालन करती हैं। रीति-नीति निर्धारण करती हैं। अन्यायियों, अत्याचारियों तथा आततायियों की खबर लेती हैं। चोर डाकुओं लुटेरों का पर्दाफाश करती हैं। ऐसे कई जगह अखंड दीपक, हजार-हजार वर्ष से जल रहे हैं। कितनी ही आंधी अंधड़ चले, ये बुझते नहीं हैं। कोई इन्हें दृश्य में तेल-घी नहीं पूर रहा है। बाती नहीं कर रहा है। गुजरात के अंबाजी में, अहमदाबाद की हठीजी की बाड़ी में अदृश्य कई जगह ऐसे दीपक जल रहे हैं। कब्रों, मकबरों,

टापुओं में पूरे विश्वास में ऐसे अदृश्य-दृश्य दीपक मिल जायेंगे, जो अब तक रहस्य को घेरे हैं।

जैन यति बड़े मंत्र सिद्ध और साधक होते थे। अपने मंत्र बल से उन्होंने कई हवेलियों, मंदिर और मालिये उड़ाकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर रख दिये। राजस्थान में इनके किस्से भरे पड़े हैं। उदयपुर की मालदास की सहरी से लगी टेकरी पर स्थित भूतमहल कोई 350 वर्ष पूर्व उड़ाकर लाया गया। भूत ही नहीं, वीर वैताल, जोगणी आदि शक्तियों के सहारे बड़े-बड़े कार्य सम्पन्न होते। राजकाज के संचालन तथा युद्ध में भी इनकी भूमिका बड़ी महत्त्वपूर्ण होती। यहाँ कई हवेलियाँ भूतहा हवेलियों के रूप में जानी जाती हैं। भूतों से युद्ध के किस्से भी यहाँ सुनने को मिलते हैं।

अपनी शोध यात्राओं में मैंने ऐसे कई महात्मा-संत देखे, जो अदृश्य आत्माओं से घिरे रहे। लंबे समय तक बतियाते रहे। ऐसे भी मिले जो हमसे बातचीत करते हुए ही अदृश्य हो गये। परकाया प्रवेश करते संत भी मिले। पांच सौ वर्ष तथा हजार वर्ष के सिद्ध महात्मा मिले। गिरनार के पहाड़ों में, सोमनाथ मंदिर के अहाते में, द्वारिका की धरती पर, मांडू के मैदान में, मंडावर के परिक्षेत्र में, बांसवाड़ा के जंगल में, चित्तौड़, मांडलगढ़, कुंभलगढ़, मेड़ता के खंडहरों में, नासिक के वीरानों में ऐसे कई देव-मानव मिले।

प्रभु, परमात्मा, ईश्वर आदि में जिनकी आस्था नहीं, उन अनास्थावादियों की कहीं कोई जगह नहीं। ऐसे लोगों को मृत्यु के समय भी बड़े कष्टों से गुजरना पड़ता है। लाख चाहने पर भी वे शरीर से मुक्त नहीं हो पाते। उनका इस जन्म से छुटकारा तब ही होता है जब वे किसी पराशक्ति परमेश्वर में आस्था प्रकट करने को बाध्य होते हैं। अकाल मृत्यु वरण करनेवाले को मृत्यु के बाद बड़ी यातनाओं से गुजरना पड़ता है। उन्हें बार-बार सात जन्म तक भटकना पड़ता है। पति-पत्नी भी मोटे रूप में सात जन्म तक साथ-साथ जीवनयापन करते हैं। उसके बाद उनकी योनि बदल जाती है। तब पुरुष-महिला और महिला-पुरुष बन जन्म लेते हैं। प्रेमी-प्रेमिका के संबंधों के पीछे भी पूर्वजन्म की अतृप्त वासना, कामना रहती है।

मनुष्य के अच्छे-बुरे कर्म का धर्मराज लेखाजोखा रखते हैं और मरणोपरान्त उसी कर्म के फलस्वरूप उसकी सुगति, दुर्गति निश्चित की जाती है, इसीलिए सभी धर्मात्मा तथा महात्मा-महापुरुष मनुष्य को अच्छे कर्म करने की सलाह देते हैं। समाज भी अच्छों की कद्र करता है पर गलती मनुष्य से ही नहीं, धर्मराज के सिपाहियों से भी हो जाती है।

मैं ऐसे अनेक व्यक्तियों के सम्पर्क में आया जो यमराज के दूतों द्वारा धरती से ऊपर उठा ले गये, किन्तु वहाँ पोथी में उनके लेखे में उनकी उम्र पूर्ण नहीं होने पर यमदूतों द्वारा उन्हें पुनः धरती पर, अपने निवास स्थल पर भेज दिया गया। ऐसे व्यक्ति बाद में बीस-पच्चीस वर्ष तक जीवित रहे। कुछ तो ऐसे हैं, जो पचास वर्ष बाद आज भी जीवित हैं। परलोक के उनके अनुभव भी बड़े विचित्र हैं। कुछ ऐसे भी मिले जो पुनर्जीवित होकर धरती पर आये, परन्तु कुछ भी बताने से इन्कार कर दिया। उनकी यह मान्यता रही कि ऊपर के लोक के रहस्य खोलने से उनकी आयु कम हो जायेगी। कुछ किस्से इस प्रकार हैं-

सालमगढ़ की माणकबाई जैन श्मशान में अचानक जीवित हो उठी। पूछने पर उसने बताया- 'मैं तो ऊपर चली गई थी। वहाँ बड़े अजीब-अजीब लोग देखे। आग का ढेर देखा। उबलते तेल की कढ़ाइयाँ देखीं। बड़े चोपड़े बांचनेवाले पंडत देखे। एक पंडत ने कहा- 'तुम्हारी उम्र अभी बाकी है, वापस चली जाओ। मैंने कहा- 'चली तो जाऊँगी, मगर क्या निशानी होगी?' वह बोला- 'यह लो चने। मेरे दोनों हाथों में लोहे के चने दे दिये।' यह किस्सा सुनाते हुए माणकबाई ने अपनी दोनों मुट्ठियाँ खोलीं तो लोहे के चने निकले।

छीपों का आकोला के पं. गोपीलाल बड़े आध्यात्मिक पुरुष थे। फरवरी 25 को 62 वर्ष की उम्र में सन् 1987 को उनका निधन हुआ। सन् 1976 में वे भयंकर बीमार पड़े। उदयपुर जनरल हॉस्पिटल में डॉक्टरों ने उन्हें मृत घोषित कर दिया, सो वे आकोला ले जाये गये। श्मशान यात्रा की सारी तैयारी कर ली गई, किन्तु अचानक उनमें प्राणों का संचार हो आया। पं. गोपीलाल ने मुझे बताया कि एक शक्ति-स्वरूपा स्त्री मुझे ले गई, जो लाल साड़ी पहने बड़ी खुशमिजाज थी। वहाँ एक बड़े पिंजरे में मुझे रख दिया गया, जिसमें और भी कई लोग थे। मैं उनसे परिचय कर रहा था

कि एक दिव्य आकृति आई और मुझे उस पिंजरे से बाहर निकाला और एक मल्ल को सौंप दिया। उसने मुझे जोर से उठाया और फेंका। मैं चिल्लाया और धरती पर धकेल दिया गया।

आबूरोड के आकरा भट्टा के बाबूखां कायमखानी ने बताया कि दो फरिश्ते घसीटते-घसीटते दरबार तक ले गये। वहाँ बाहर हजारों लोग बैठे थे। सभी की बारी-बारी से पेशी हो रही थी। इतने में मेरी आवाज पड़ी। कहा गया कि इसे यहाँ क्यों लाये? आगरावाले बाबूखाँ को लाना था। मुझे वापस नीचे भेज दिया गया। यह घटना सन् 1960 में घटी।

गंगार तहसील के बोलों का सांवता की अंबाबाई दशोरा का प्रसवोपरांत निधन हो गया। श्मशान में उनमें प्राणों का संचार हो आया। अंबाबाई ने बताया कि वह स्वर्ग में ऐसी जगह पहुँच गई, जहाँ भगवान की आरती हो रही थी। उसमें उनके पुरखे भी सम्मिलित थे। उसके दादा श्वसुर दामालाल माफीदार ने अंबाबाई को वहाँ देख साश्चर्य पूछा- 'तुम यहाँ कैसे? तुम्हारी सास घर में बीमार है। यदि मर गई तो लोग क्या कहेंगे।' इतना कहते ही अंबाबाई मंदिर के चबूतरे से कूदी। उधर श्मशान में उसकी लाश उछल पड़ी। यह घटना सन् 1936 की है। तब अंबाबाई 19 वर्ष की थी। इस घटना के बाद वह पचास वर्ष जीवित रही।

फतहनगर के पास धनेरिया गाँव के गणेश शर्मा की पत्नी प्रसूतावस्था में चल बसी। अचानक उसमें हरकत हुई। आँखें खोलीं। उठ बैठी। उसने बताया कि मुझे दो आदमी ले गये। रास्ते में मुझे वही भिखारिन मिली, जिसे मैं रोटी देती रही। वहाँ भी उसे रोटी दी। वह स्त्री भी मिली, जिसे मैंने एकबार ओढ़ने को पोमचा दिया। फिर सासुजी मिलीं। मैंने कहा कि पांच जल रहे हैं, छाले पड़ जायेंगे तो उन्होंने छतरी दी। ऊपर गई तो बड़ी सुहावनी छटा थी। कई औरतें और थीं। बहीड़ों (पोथियों) के ढेर पड़े थे। उनको खोलकर देखा गया तो पता चला कि उसके मरने के अभी कुछ दिन बाकी हैं।³

ये घटनाएँ बताती हैं कि इस जन्म में व्यक्ति जिस ढंग से रह रहा है, वह उसके पूर्वजन्म के फलानुसार है और जैसा वह कार्य कर रहा है, उसे मरणोपरान्त वैसा फल प्राप्त होता है। जो दुष्कर्म होते हैं वे इस लोक में भी नकारे जाते हैं और मृत्यु के उपरान्त उस लोक में भी तिरस्कार ही पाते हैं। उन्हें कई प्रकार की यातनाओं से

गुजरना पड़ता है। आग के गोले चबाने पड़ते हैं। करौत की तेज धार पर चलना पड़ता है। घाणी में पिलने को बाध्य होना पड़ता है। जहरीले जीवों के बीच रात काटनी होती है। सूली ऊपर शैय्या बनानी पड़ती है। जघन्य कष्टों से गुजरना पड़ता है।

जैसे सब मनुष्य होते हुए भी सबकी प्रकृति, रुचियाँ, आकांक्षाएँ, जीवनचर्या, पसंदगी, नापसंदगी, सोच, समझ एक जैसी नहीं होती, वैसे ही मरणोपरान्त जीवात्मा की स्थिति भी भिन्न-भिन्न रूपा होती है। मनुष्य की पहचान अथवा कहिये उसका अस्तित्व उसका शरीर है, पर देह त्याग के पश्चात् जीवात्मा का वह शरीर नहीं रहता, बल्कि स्थूल देह को त्याग वह सूक्ष्म शरीर धारण कर लेता है। कहते हैं, यह सूक्ष्म शरीरी जीवात्मा अपने साथ मनुष्य शरीरी इन्द्रिय, मन, प्राण, संस्कार, वासनाएँ, भावनाएँ तथा जीन्स से जुड़े गुण धर्म लिये जाती है, इसीलिए बार-बार व्यक्ति को यह कहा जाता है कि मरते वक्त वह सांसारिक मोह माया से अपना ध्यान हटाकर प्रभु अथवा परमात्म में लीन करे, ताकि उसे पुनः मनुष्य जीवन धारण नहीं करना पड़े।

यही कारण है कि मरणासन्न व्यक्ति को इस प्रकार के भजन, सिलोके, थोकड़े, गीत, शास्त्रवचन, महापुरुषों के कथन, स्तवन, स्तुतियाँ, आलोचना, चिंतारणा, कथा, आख्यान सुनाये जाते हैं, ताकि उसका चित्त उन्हीं में रमण करता हुआ शरीरान्त धारण करे। वह सूक्ष्म शरीरी आत्मा तब अपनी अन्तर्दृष्टि से सबको देख सकती है, पर हमारी दृष्टि उसे देख नहीं पाती और न उसके सूक्ष्म कंपन को ही हम सुन सकते हैं। हाँ, कई बार हमें उनका हमारे पास होने का एहसास जरूर होता है।

हमारा शरीर नौ द्वारों का पिंजरा कहा गया है, जिसमें हमारी आत्मा का बसेरा रहता है। ये नौ द्वार हैं- चक्षु द्वार, कर्ण द्वार, नासिक द्वार, मुँह द्वार, मल द्वार तथा मूत्र द्वार। प्रारंभ के तीन द्वार दो-दो हैं, जबकि अन्य तीन द्वारों की संख्या एक-एक है। शरीर छोड़ते वक्त आत्मा इन द्वारों से अपनी राह पकड़ती है। ऐसी स्थिति में मृतक का मुँह खुला का खुला रह जाता है। आँखें धंसी की धंसी रह जाती हैं। कभी-कभी दोनों आँखें बाहर निकलीं डरावना दृश्य भी पैदा कर देती हैं। नाक से खून बहने लगता है। ऐसा भी सुना कि शक्तिवंत आत्मा कहीं से भी अतीव द्रुतगामी रूप में अपना गंतव्य पकड़ने की सामर्थ्य लिए होती है। मैंने अपने

एक निकटस्थ परिजन का वह रूप देखा, जब उसकी आत्मा उसके सीने पर बीजली सी त्वरित दस्तक देती हुई अलोप हो गई।

जन्म और मृत्यु तो आत्मा के पड़ाव मात्र हैं। न जन्म आत्मा को नया जन्म दे सकता है, न मृत्यु आत्मा का वध कर सकती है। जब मृत्यु आत्मा पर आक्रामक हो उसका वध करने चलती है, तो वह कहीं की कहीं धरी रह जाती है और आत्मा अपनी खोल से निकल अपनी अजेय शक्ति से नया आवास ढूँढ लेती है। आत्मा की शक्ति के आगे मनुष्य की कोई शक्ति नहीं। यदि मनुष्य की अपनी शक्ति होती तो आत्मा के चले जाने के बाद भी उसका अस्तित्व बना रहता। वह मृत घोषित नहीं किया जाता, लेकिन जब तक मनुष्य जीवित रहता है, परिजनों का उसके साथ ममत्व या कि श्रद्धाभाव जुड़ जाता है, जिसे वह कायम रखना चाहता है।

लोकमानस में उसकी स्मृति को चिर जीवित बनाये रखने के लिए जिन मान्यताओं का विकास हुआ, उनमें अन्त्येष्टि स्थल पर कोई पत्थर या काष्ठ चिन्ह लगाना, दिवंगत की स्मृति में अपने घर या किसी खेत बाड़े में उक्त चिन्ह रोपण करना, अति लगाव के चलते गले में उसका स्मृति चिन्ह टांगना और कोई विशेष निर्माण करना। पूर्वजों अथवा पितरों के प्रति श्रद्धा भाव का कारण दुष्ट आत्माओं से बचाव, कार्य सिद्धि के लिए उनका स्मरण तथा फल प्राप्ति भी है।

पितरात्माएँ व्यक्ति के आसपास मंडराती रहती हैं। उनकी अवज्ञा होने पर वे अनिष्ट करने को मचल पड़ती हैं, जबकि अच्छी मानता होने पर प्रसन्न हो खुशहाली देती हैं। व्यक्ति के शरीर में प्रवेश कर समस्याओं का निवारण करती हैं और संकट अथवा विपदा से बचाती हैं। कार्तिक पूर्णिमा तथा बैसाखी पूर्णिमा पर इन्हें रतजगा दिया जाता है। उनकी स्थापना या तो लच्छे में बांधकर, गले में लटकाकर या फिर बांस के कंडिये अथवा लकड़ी की पेटी में धातु की छोटी प्रतिमा आदि रूप में की जाती है।

उदयपुर के निकटवर्ती छोटी ऊंदरी गाँव में कार्तिक पूर्णिमा की रात पूर्वजों के नाम की रहती है। समूह रूप में पूर्वजों के चीरास्थलों का परम्परानुसार सजाव-श्रृंगार किया जाता है। सन् 2004 की कार्तिक पूर्णिमा की रात मैंने चीरास्थलों पर गायन वादन के बीच भोषों को एक के बाद एक पूर्वजों के भाव आते देखा।

नंगा तथा चैना पारंगी को पचास के करीब पूर्वजों के भाव हुए। प्रत्येक पूर्वज ने अपनी प्रकृति, पहनावा, रुचि और कर्म के अनुरूप अभिव्यक्ति दी। किसी ने धनुष साधकर अपने आने का संकेत दिया तो किसी ने साफा बांधकर दर्पण में अपना मुँह देखा। किसी ने रोटी, किसी ने राब छाछ तो किसी ने धार (शराब की बोतल) मांगी। आदिवासियों ने हर इच्छा पूरी की। एक पूर्वज ने बंदूक मांगी, तब उसे यह कहकर मना कर दिया गया कि राज्य की ओर से भड़ीका करने (बंदूक चलाने) की मनाही है।⁴

पूर्वजों के बने रहने तक ये आत्माएँ अस्तित्व में रहती हैं। कार्य सिद्धि होने तक उनका महत्त्व बना रहता है। शक्ति कमजोर होने, बुलाने पर नहीं आने तथा कार्य सिद्ध नहीं होने पर उनके प्रति लोगों का विश्वास उठ जाता है और यह समझ लिया जाता है कि उस आत्मा की पितृलोक से मुक्ति हो गई है। बाल मृत्यु होने पर अत्यल्प आयु के बच्चे भी पूरबज बनते हैं। मैंने नौ दिन का पूर्वज भी देखा। जिन बच्चों की अकाल मृत्यु हो जाती है, तब उनके शरीर के किसी भाग पर माता कुंकुम, काजल आदि के चिन्ह कर देती है, ताकि अगला जन्म वह जहाँ भी ले, उस स्थान विशेष पर उसी रंग का चिन्ह मिले और वह अकाल मृत्यु से बचा रह सके। ऐसा चिन्ह 'लासण' कहलाता है।

ऐसी ही एक क्रिया 'जूण' है, जिसके माध्यम से यह पता लगाया जाता है कि मृत्युपरान्त मृतक किस योनि में गया है। इसमें जिस स्थान पर मृतक रखा जाता है उसे लीपकर आटा गोहली की जाती है और उस पर दीपक जला चलनी ढक दी जाती है। चलनी हटाकर देखने पर आटे पर कोई आकृति उभर आती है। इस आकृति से यह अनुमान लगाया जाता है कि मृतक को कौनसी योनि प्राप्त हुई है। आटे पर उभरे मानव चित्र से मृत्युलोक, पक्षी आकृति से पक्षीलोक, जानवर की आकृति से पशुलोक, सर्प जैसी आकृति से देवलोक तथा मछली-मगर की आकृति से मृतक का जललोक का प्राणी बनने का संकेत मिलता है। कोई आकृति नहीं उभरने पर उसका मोक्ष हुआ मान लिया जाता है।

यह भी मान्यता है कि जिस व्यक्ति की जिस स्थान पर मृत्यु होती है, वह वहीं बना रहता है। उसे परिजनों द्वारा सुरक्षित मनचाहा स्थान नहीं मिलने से वह छटपटाता रहता है और बाजवक्त परिवारवालों के लिए भी कई परेशानियों का सबब बन जाता है।

ऐसी स्थिति में मृतक के स्वप्न देने अथवा किसी समझेबूझे के बताने पर परिजन कार्तिक पूर्णिमा से पूर्व वहाँ जाकर उस स्थान विशेष पर दीपक जलाते हैं, सिंदूर कुम्कुम से पूजा कर मृतक पूर्वज से अपने साथ चलने की अरदास करते हैं। कहते हैं तब उस दीप जोत के साथ पूर्वज उनके साथ हो जाता है। तदनन्तर, विशेष उत्सव रात्रि जागरण के साथ उस पूर्वज की प्रतिष्ठा की जाती है। उदयपुर के सार्वजनिक अस्पताल में भी ऐसी घटनाएँ घटती रहती हैं, जब किसी वार्ड में किसी की मृत्यु होने पर परिवार वाले भोपे के साथ आते हैं और मृतक पूर्वज को ले जाते हैं।

युद्ध में अकाल मृत्यु को प्राप्त हुए कई सैनिक और अन्य लोगों की गति वहीं की वहीं डोलती रहती है। उनके परिजनों द्वारा उन्हें उचित स्थान पर प्रतिष्ठित नहीं करने पर वे वहीं रहकर उत्पाती बन जाते हैं और जब भी कोई मानव उधर प्रवेश करता है, वे उस पर टूट पड़ते हैं। यही कारण है कि गढ़ों-हवेलियों की वीरानी बड़ी भयावह और भयप्रद लगती है। वहाँ कोई प्राणी जाना नहीं चाहता।

चित्तौड़गढ़ पर संवत् 1303 में अल्लाउद्दीन खिलजी द्वारा किये गये आक्रमण के दौरान गोरा और बादल ने जो शौर्य प्रदर्शित किया, उसके कारण आज भी जन-जन में वे श्रद्धा के देव बने हुए हैं। बादल, रानी पद्मिनी का बारह वर्षीय पुत्र था। गोरा, बादल का चाचा था। दोनों चाचा-भतीजा ने रानी पद्मिनी द्वारा खिलजी को भेजे सात सौ डोलों का नेतृत्व किया था। दिल्ली में घमासान युद्ध के दौरान दोनों वीरों के पराक्रम से खिलजी के सैनिक भौचक्के रह गये, पर अंत में दोनों बच नहीं पाये। दोनों की लाशें ऊँटों पर लाई गई जो सात दिन में चित्तौड़ पहुँची। यहाँ उनकी चंदन चिताएँ की गई। चिता स्थल पर दोनों की छतरियाँ बनाई गई। ये छतरियाँ सर्वाधिक ऊँची छतरियों में उनकी कीर्ति की प्रतीक बनी हुई हैं।

यही नहीं, चित्तौड़ जिले के गरदाना गाँव के एक खेड़ाखूंट देवी मंदिर में दोनों वीरों की प्रतिमाएँ स्थापित हैं, जो पूजान्तर्गत हैं। मंदिर में पूर्वाभिमुख एक प्रतिमा के कंधे के पास लगे लेख में महाराजाधिराज समरसिंह के पुत्र महारावल रतनसिंह का उल्लेख है, जिसके अनुसार ये प्रतिमाएँ संवत् 1359 में बनाई गई। इतिहास से अनभिज्ञ होने के कारण ग्रामीण इन प्रतिमाओं को गोरा बोदा के नाम से जानते हैं। डॉ. श्रीकृष्ण जुगनू के अनुसार इनकी ग्रामीण

नवरात्रियों सहित अन्य लोकपर्वों, उजरणी आदि पर पूजा करते हैं, सिंदूर-घी भी चढ़ाते हैं।

भारतीय लोकमानस सूक्ष्म शरीर का रंग श्वेत मानता है। ऐसा माना जाता है कि वह शरीर हल्का होता है। उसका वजन ढाई तोले के लगभग माना गया है। उच्च आत्मा का भार इससे भी कम होता है। यद्यपि सूक्ष्म शरीर हल्का होता है, पर उसमें असीम शक्ति होती है। उसे भूत, भविष्य तथा वर्तमान तीनों का पर्याप्त ज्ञान होता है। उच्च योगी अपनी योग साधना द्वारा अपने सूक्ष्म शरीर को प्रत्यक्ष देखता है। इस शरीर का प्रतिबिंब ही छाया पुरुष है। परोपकारी योगीजन का सूक्ष्म शरीर अपने किसी प्रेमी शिष्य अथवा विपत्तिग्रस्त व्यक्ति की सहायता के लिए भी चला जाता है। स्वप्नावस्था में जो शरीर आश्चर्यजनक कार्य करता है, वह सूक्ष्म शरीर ही है। इस शरीर में इन्द्रिय ज्ञान होता है, पर स्थूल शरीर के अभाव में वह किसी वस्तु का भौतिक रूप से उपभोग नहीं कर सकता।⁵

आबू, गिरनार तथा इसी तरह के पहाड़ों, गुफाओं में कई संत-महात्मा तपस्या निरत हैं। वे सब बड़े शक्तिवंत हैं। उनमें यह सामर्थ्य है कि वे जब चाहें सूक्ष्म और स्थूल शरीर धारण कर सकते हैं। वे कभी कोई रूप धारण कर लेते हैं। सूक्ष्म शरीर के चारों ओर आभा मंडल व्याप्त रहता है, उसी तरह जिस तरह देवी-देवता अथवा किसी महापुरुष के चित्र में सिर के पीछे गोलाकार आभा मंडल देखने को मिलता है। सूक्ष्म शरीर की गति इतनी तीव्र होती है कि हम नहीं आंक सकते। यह शरीर पारदर्शी कहा गया है और पलक झपकते ही एक छोर से दूसरे छोर, कहीं भी पहुँच जाता है।

प्रेतों की दुनियाँ बड़ी विचित्र है। उच्च प्रेत बड़े संयमी और सात्विक होते हैं, जबकि नीच प्रेत बड़े दुष्ट और यातना देनेवाले होते हैं। उनका विचरण अंधेरी रात्रि के साथ-साथ खरी दुपहरी होती है। इसीलिए व्यक्ति दोपहर के समय प्रायः घर से नहीं निकलता। लोकजीवन में ऐन 12 बजे घर से निकलना अथवा किसी नये कार्य को हाथ में लेना निषेध किया गया है। किसी वृक्ष के नीचे, गंदी एवं उबड़खाबड़ जगह टट्टी पेशाब करना वर्जित कहा गया है। इस समय प्रेत लगने का भय बना रहता है।

आदिवासियों में यह धारणा है कि रात्रि में नुगरी शक्तियाँ तेज हो जाती हैं और कई तरह के कष्ट देती हैं। संभवतः इसीलिए वे नग्न शयन करते हैं, ताकि वे शक्तियाँ उनसे दूर ही बनी रहें। यों

रात्रि को भी आदिवासी एक देवी मान उसका सम्मान बनाये रखते हैं। दिन को देव मानकर वे उसकी सत्ता में विश्वास करते हैं और उसे दाड़ाबावजी कहते हैं। दाड़ा से तात्पर्य दिन से है। दशामाता व्रत में महिलाएँ दाड़ाबावजी का व्रत भी करती हैं।

मुझे भी बचपन में यह सीख दी गई कि खरी दुपहरी में बाहर कहीं जाना-आना नहीं और अपरिचित जगह कहीं भी टट्टी पेशाब नहीं किया जाय। यदि ऐसा करना अत्यन्त आवश्यक हो तो पहले मन ही मन- 'उत्तम धरती, मध्यम काया, उठो देव म्हेन मूतण (या टट्टी) आया, का उच्चारण करना चाहिये ताकि बुरी हवा से बचा जा सके। मैं यथा अवसर आज भी माँ की यह सीख भूला नहीं हूँ।

प्रेत किसी भी वस्तु पर मोहित हो जाता है। अच्छी पोशाक पर, अच्छे खाद्य पदार्थ पर, अच्छी गंध पर। उसे बाधा पहुँचाने पर वह लग जाता है और कई तरह के उत्पात शुरू कर देता है। उसका कहा विश्वसनीय नहीं होता। झूठ बोलना, बहाने बनाना, धोखा देना, छल कपट करना तथा कई तरह की चालबाजी में उलझाये रखना, उसका सामान्य स्वभाव होता है। बहुत कम प्रेत अपना वादा निभाते हैं। अच्छे प्रेत आजीवन किसी को पकड़े रहते हैं। वे उसे तथा अन्य परिजनों को सुख समृद्धिपूर्ण रखते हैं। नुगरे लाख प्रयत्न करने पर भी भला काम नहीं करते और न जिसे लग जाते हैं उसे ही छोड़ पाते हैं। बाजवक्त उसका भख (भक्षण कर) लेकर ही पिंड छोड़ते हैं।

राजेन्द्र वीरानी ने बताया कि उदयपुर में उनकी हवेली में रह रहे शांतिलाल की पत्नी गंगा को मंडप में, फेरे खाने के दौरान ही उसके रूप पर मोहित हो जिन्न लग गया। बहुतेरी कोशिश पर भी वह उसके शरीर से नहीं निकला। जब वह आता तो गंगा पुरुष भाषा बोलती। शांतिलाल को सदैव उसने गंगा से दूर ही रखा। एक दिन गंगा तगारी में राख बिछा बैठ गई और अपने पर घासलेट छिड़क जल मरी। मरते समय उसने उफू तक नहीं किया।

मेरे गाँव में तालाब के किनारे इमली वृक्ष का भूत बड़ा खूंखार था। मैं जब भी उधर निकलता, मुझे कंपकंपी छूटने लगती। एकबार वह नारायणलाल नलवाया को लग गया। बहुत इलाज कराने पर भी वह नहीं निकला। शैतान ही बना रहा। एकबार एक तगड़े समझेबूझे तांत्रिक से उसकी सुलह हुई तो उस प्रेत ने

बकरे की बलि देने पर नारायणलाल को मुक्त करना कबूला। नारायणलाल के पिता जेठाबा बोले- 'मैं जैन हूँ। हर्गिज बलि नहीं दे सकता, चाहे कुछ भी हो। नारायणलाल लगभग 45 वर्ष जीवित रहा- मगर बेबस, बेहाल।

अमंगलकारी शक्तियों पर नजर रखनेवाले, उनके असर को कम करने वाले और जड़मूल से समाप्त करने वाले साधक, ओझा, झाड़फूँके, तांत्रिक नुगरी शक्तियों को वश में करते हैं। डॉ. पुरुषोत्तम छंगाणी ने बताया कि जैसलमेर में उनके चाचा गोविन्दलाल इस विद्या के उस्ताद थे। वे पेशे से शिक्षक थे। उनकी प्रेतबाधा दूर करने वाली कला से दूर-दूर तक के लोग परिचित थे। एकबार उनके स्कूल के कुछ अध्यापकों ने उन्हें प्रेत दिखाने को बाध्य कर दिया। स्कूल के पास बावळ (बबूल) का वृक्ष था, जिसके ऊपरी सिरे पर प्रेतों का वास था। गोविन्दलाल ने अपने मित्र अध्यापकों को बबूल के पास बिठा दिया और मंत्र साधना से प्रेतों को नीचे आने को बाध्य कर दिया। वे प्रेत कील रखे थे, अतः ऊपर ही रहते थे। गोविन्दलाल के मित्रों ने उन प्रेतों को देखा। वे उन्हें देख बुरी तरह भयभीत हो गये, अतः गोविन्दलाल को उन्हें अदृश्य करने को कहा।

गोविन्दलाल से उन प्रेतों ने कहा कि अब वे मुक्त हो गये हैं। मनचाहा उत्पात करने के लिए स्वतंत्र हैं। जो चाहा, अनर्थ करेंगे। हमारे पर अब किसी का बंधन नहीं रहा। यह सुन गोविन्दलाल सकपका गये, पर वे कच्चे खिलाड़ी नहीं थे। जरा सी गफलत में होते तो उन सहित उनके मित्र भी प्रेतों के शिकार हो जाते। गोविन्दलाल ने तत्काल अपनी मंत्र-शक्ति जगाई। उस शक्ति के बल पर सारे प्रेत फिर से कील दिये गये। गोविन्दलाल ने बबूल के तने में लोहे का बड़ा कीला ठोक सारे प्रेतों को ठिकाने लगा दिया। सन् 1959 में 70 वर्ष की उम्र में गोविन्दलाल का निधन हो गया, पर उनकी उस्तादी के चर्चे आज भी सुनने को मिलते हैं।

कहा जाता है कि प्रेत शरीर जब स्थूल शरीर के सर्वांग में समाया रहता है, तब उसका अंश अवश्य ही स्थूल शरीर की त्वचा से बाहर तक फैला रहता है। प्रेतावस्था का वायुमंडल जिस प्रकार सूक्ष्म होता है, उसी प्रकार उसकी पृथ्वी, जल, अग्नि तथा प्रकाश आदि क्रियाएँ भी सूक्ष्म होती हैं। प्रेत तोल में अत्यधिक खा सकता है, परन्तु अपने प्रेत शरीर से वह खाद्य सामग्री का केवल

रस ग्रहण कर सकता है। यही कारण है कि प्रेतग्रस्त परिवार की रसोई स्वादिष्ट नहीं होती। प्रेत के जूटे भोजन में केवल रसहीनता ही नहीं होती, अपितु उसकी पौष्टिकता भी नष्ट हो जाती है।

कोई-कोई प्रेत मिर्ची की तीव्र गंध को सह नहीं सकते, इसीलिए ओझा बहुधा मिर्चों की धूनी देते हैं। प्रेत का वेग प्रायः प्रति सेकण्ड 500 से लेकर 2000 मील तक होता है। प्रेत उड़ते हैं, दौड़ते नहीं, लेकिन ऐसा नहीं कि उनके पाँव नहीं होते। प्रेत का प्रेम अच्छा नहीं होता। प्रेमी प्रेत अपने प्रेम पात्र के शरीर में घर कर लेता है और निरन्तर उसके साथ रहता है।

कभी-कभी प्रेम इतना बढ़ जाता है कि जीवित को मारकर और प्रेत बनाकर अपने साथ निरंतर रखने की उसे उत्कट कामना हो जाती है। इसलिए वह अपने प्रेम पात्र को मार डालने का प्रयत्न करता है और यदि ममता इस दर्जे की हो गई तो प्रेम पात्र उसी रोग में मरता है, जिस रोग में उस प्रेत ने शरीर छोड़ा था।

यह सच है कि हम अपने सम्बन्ध में न पूर्वजन्म को जानते हैं और न पुनर्जन्म को, किन्तु तब भी पूर्वजन्म को जानने की हमारी जिज्ञासा उतनी नहीं रहती, जितनी अगले जन्म को जानने की और उससे भी अधिक उसको सार्थक बनाने की, सद्गति प्राप्त करने की, स्वर्ग जाने की रहती है। हजारों में से एक आध बच्चों को अपने पूर्वजन्म की स्मृति हो आती है। वे सत्य भी घटित होती हैं, लेकिन तदनुसार वे बच्चे सामाजिक मान्यता प्राप्त नहीं कर पाते हैं और बहुत शीघ्र ही उनसे वह स्मृति भी लुप्त हो जाती है या कहिये परमात्म शक्ति द्वारा हर ली जाती है।

यहाँ यह भी विचारणीय है कि पूर्वजन्म की स्मृति रखने वाले जितने भी दृष्टान्त मिले, वे सबके सब हिन्दू थे। हिन्दू शास्त्र और लोक में शव को दग्ध करने, जलाने अथवा भस्म करने का विधान है, न कि उसे गाड़ने या कि जल में प्रवाहित करने का। शव दाह में कपाल क्रिया का अति महत्त्व है। इसके अनुसार अधजले मुर्दे का सिर बाँस की सहायता से फोड़ दिया जाता है। यह होने पर ही दाह क्रिया सम्पूर्ण मानी जाती है। कहा जाता है कि मस्तिष्क में जीवात्मा का वास स्थान होता है। लाख विपत्तियाँ आने पर भी जीवात्मा चाहे तो मस्तिष्क में अत्यन्त सुरक्षित रह सकती है, ऐसी स्थिति में हलन चलन नहीं होने पर भी वह व्यक्ति मरा हुआ नहीं समझा जा सकता। इसी सिद्धांत के चलते सर्प से

दंशित और चेचक से पीड़ित मुर्दा जलाया नहीं जाता। कपाल क्रिया के अभाव में ऐसा भी होता है, जब जीवात्मा उस शरीर से मोह अथवा आसक्ति के वशीभूत बाहर ही न निकले। नूतन शरीर धारण करने में विलम्ब हो जाने पर भी पूर्व स्मृति का अनुभव नहीं रह पाता है। जिस जाति-समाज में शव-दाह की परम्परा नहीं है, वह पूर्वजन्म को नहीं मानता और न उसकी स्मृति में ही विश्वास करता है।

कई ऐसे मंत्रों के जानकार एवं साधकों से मेरा सम्पर्क हुआ, जो अपनी मंत्र शक्ति के प्रभाव से बड़े चमत्कारी काम करते हैं। ऐसे भी मिले जो परोपकारी भावना से निःस्वार्थ सेवा कर दुखियों को सुख पहुँचाते हैं और ऐसे भी मिले, जिनका लक्ष्य ही गलत-सलत कार्य कर पैसा ऐंठना होता है। ऐसे व्यक्ति नुगरी विद्या के अधिक साधक होते हैं, जो समस्याएँ घटाने की बजाय बढ़ाते पाये जाते हैं या फिर कार्य तो करते हैं, पर परेशानी देते हुए पैसा वसूलते हैं।

उदयपुर के रोशनलाल बाबेल कई मंत्रों के साधक हैं और वर्षों से जनसेवार्थ इस काम में लगे रहे। उनके सम्पर्क में कई अच्छे-बुरे साधक आये। उनका कहना है कि साधक कैसा भी हो, उसके साथ भी कर्मवाद का सिद्धांत तो लागू होता ही है। बुरा काम करने वाले, ठगी, छलिये, स्वार्थी, धोखेबाज अन्ततोगत्वा बुरी गत में जीते हैं और उनका परिवार भी सुखी नहीं रहता। श्री बाबेल को 9 दिसम्बर 1963 को डूंगरपुर (राजस्थान) जिले के भुवनेश्वर गाँव के विद्यानन्द मिले, जो तब 70 वर्ष के थे। वे अच्छे साधक थे। उन्होंने एक मंत्र ऐसा बताया जिसको साध लेने पर सभी तरह की समस्या का निदान किया जा सकता है और भावी घटनेवाली घटना का पूर्वाभास लिया जा सकता है। ठीक से मार्गदर्शित नहीं होने के कारण बाबेल उस मंत्र को नहीं साध सके। अच्छे गुरु के अभाव में की गई साधना उल्टी होने पर साधक का बड़ा अनिष्ट कर देती है। बाबेल का मंत्र कुछ इस प्रकार था-

पहला मंत्र - 'ओम् मूलि मूलि शूल पाणये स्वाहा।' प्रतिदिन रात्रि को दस बजे बाद स्नान कर चमेली तेल के दीपक तथा अगरबत्ती जलाकर ग्यारह माला प्रतिदिन के हिसाब से ग्यारह दिन तक फेरनी।

दूसरा मंत्र - 'ओम् आर विन्दे स्वाहा।' उपर्युक्त क्रम से

12वें दिन से पहले वाले मंत्र की ग्यारह माला के साथ इस मंत्र की ग्यारह माला प्रतिदिन के हिसाब से ग्यारह दिन तक फेरनी यानी प्रतिदिन 22 माला फेरनी।

बाईस दिन पूर्ण होने पर 23वें दिन से फिर 11 दिन तक पहले एवं दूसरे मंत्र की 11-12 माला और उसके बाद तीसरे मंत्र- 'तारा तुरी स्वाहा' की 11 माला फेरनी यानी प्रतिदिन 11 + 11+11 कुल 33 माला 11 दिन तक फेरनी फिर 34वें दिन केवल पिछली 33 माला तथा चौथे मंत्र की एक माला यानी 35 माला फेरनी।

चौथा मंत्र है- 'या बन्धु मंजुला लाल / चार मवक्किल ने भेजा साथ। राजा राणी होवे हाथ / मंक्ष हासिल होवे साथ।।'

पैंतीसवें दिन कपूर जलाकर उस पर कटोरी औंधी रख काजल तैयार करें। उस काजल में चमेली का तेल मिलाकर गाढ़ा लेप तैयार करलें। सुबह 9 बजे पूर्व या फिर रात्रि 10 बजे बाद किसी बालक के अंगूठे के नाखून पर काजल का लेप लगा दें और उस बालक को नाखून देखने को कहें। वह बालक देखेगा कि प्रारंभ में एक हरिजन अपने हाथ में झाड़ू लिए सफाई कर रहा है। उसके बाद भिश्ती आयेगा जो मशक के पानी से उस स्थान को पवित्र कर रहा है। फिर उस दरिखाने पर जाजम बिछानेवाला बिछात करेगा और तब राजा रानी दोनों साथ आकर राजदरबार में सिंहासनारूढ़ होंगे। इसके बाद जो भी प्रश्न मंत्रक करेगा, बच्चा अपने नाखून पर उभरे चित्र को देखकर उसका जवाब देता रहेगा। यह क्रिया हाजरात जगाना कहलाती है।

इसके बाद यदि साधक प्रति रात्रि पूर्वानुसार चारों मंत्रों की एक-एक माला फेरता रहेगा, तो उसकी साधना फलीभूत हुई चलती रहेगी और उस रात्रि में ही उसे अगले दिन की समस्या का समाधान मिलता जायेगा। ऐसी साधना और समस्या के सैकड़ों प्रकार हैं। साधना का सबसे अच्छा दिन दीवाली और उसके पूर्व चतुर्दशी (काली चवदस) की रात्रि माना गया है, जब कई नये साधक तैयार होते हैं और पुराने अपना नवीनीकरण करते हैं। यह सारा कार्य अत्यन्त गोपनीय ढंग से होता है।

सभी विशेषज्ञ विशारदों ने मनुष्य जीवन को श्रेष्ठ कहा है और यह भी कि चौरासी लाख जीव योनियों में भटककर मनुष्य जीवन का श्रेष्ठत्व प्राप्त होता है। ऐसी स्थिति में अन्य प्राणियों की

तुलना में मनुष्य जीवन अपनी चेतना और विकास का अधिक विस्तार लिए है। विवेक शक्ति होने के कारण वह जिस ढंग से रहता है, वैसा जीवन अन्य कोई जीवात्मा व्यतीत कर रहा हो, ऐसा नहीं लगता। मनुष्य संवेदनशील होने के कारण क्रोध, माया, लोभ, शोक, भय, चिंता, मान-अपमान, नफा- नुकसान, मिलन-बिछोह आदि की अनुभूति का आधिक्य लिए रहता है, तब स्वभाविक है शारीरिक कष्टों से भी अधिक उसे मानसिक यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं।

जिनकी मृत्यु किसी हिंसक घटना या कि आक्रमण के दौरान हुई होती है, उनका जन्म जल्दी होता है- ऐसा लोक विश्वास है। ऐसी स्थिति में पैदा होनेवाला जब अपने पूर्वजन्म का स्मरण करता हुआ वर्तमान में रह रहे व्यक्तियों से अपने संबंध होने का स्मरण कराता हुआ एक एक घटना का सही ब्यौर प्रस्तुत करता पाया जाता है तो लोग चकित हो जाते हैं, पर उससे पूर्वजन्म में उसके द्वारा बताये संबंध या कि रिश्ते-नाते को कबूल नहीं कर पाते हैं। यह संभव भी नहीं होता, बल्कि हास्यास्पद ही अधिक लगता है। इसलिए सत्य घटना को जानते हुए भी तदनुकूल व्यवहार नहीं निभ सकता है।

एक गाँव के ब्राह्मण परिवार में रह रहे करीब 45 वर्षीय व्यक्ति का निधन हो गया। उसने बाद में उसी गाँव के राजपूत परिवार में जन्म लिया। जन्म के बाद उसने अपने पूर्वजन्म की सारी घटनाओं का सच-सच बखान कर दिया। उसकी मृत्यु के कारण ब्राह्मण परिवार में रह रही विधवा हुई महिला का नाम, स्वभाव तथा उसके पीहर पक्ष का हू-ब-हू सही वर्णन प्रस्तुत कर दिया गया। मगर विधवा की जाति बदल चुकी थी, साथ ही न राजपूत परिवार उसे छोड़ने के लिए और न ब्राह्मण परिवार उसे अपनाने के लिए तैयार हुआ। आत्मा अमर है, जानते हुए भी यह कैसे संभव होता कि विधवा हुई महिला के सम्मुख उसके पौत्र की उम्र के लड़के को वह पति रूप में स्वीकार कर लेती।

पहुँची हुई दिव्यात्माएँ जिनका विचरण सर्व लोकों में हो सकता है, वे सब कुछ जानती हुई भी इस भेद-रहस्य को छिपाये रखती हैं कि कौन अपने पूर्वजन्म में क्या था ! सर्व शक्तिमान परम आत्मा होती है, जिसे परमेश्वर कहते हैं। उसे जगत् जननी भी कहते हैं। उनके साथ जो आत्माएँ जुड़ी होती हैं, वे सृष्टि संचालन

में महत्वपूर्ण योग देती हैं। उन्हें अलग-अलग शक्तियाँ दी हुई होती हैं, ठीक वैसे ही जैसे मनुष्य लोक में हम देखते हैं। उनके पास भी सेनापति-सैनिक आदि होते हैं, पर वे सब हमारे लिए अदृश्य होते हैं। उनकी शरण में जाने पर वे जो धागा, फूल आदि देते हैं। रक्षक के रूप में, समस्या के निराकरण के रूप में, रोग मुक्ति के रूप में अदृश्य सैनिक ही होते हैं जो हर समय साथ रहते हैं और व्यक्ति को संकटों से उबारते हुए सुरक्षित रखते हैं। ऐसे सैनिक मेरी खोज यात्राओं में भी रहे जो लोकदेवता कल्लाजी द्वारा प्रदान किये गये थे।

आदिवासियों में नैकट्य स्थापित करनेवाले भगवानलाल कछावा ने बताया कि हिन्दुओं में जिन्न और मुसलमानों में जिन्नायत भी ऐसी ही उच्च आत्मा होती हैं, जो किसी पर रीझ कर उसका हर दृष्टि से उपकार करने में आगे रहती है। उन्होंने बताया कि चित्तौड़ के काजी साहब उनके नाना कजोड़जी की गानविद्या से प्रसन्न हो गये, लिहाजा एक दिन उन्हें कहा कि यदि तू शराब- सेवन से अपना नाता तोड़ दे तो तेरे को किसी तरह का आर्थिक अभाव नहीं रहेगा। उन्होंने काजी साहब का कथन सिर आँखों पर उठा लिया। इस पर उन्हें उनके घर के एक आलये से प्रतिदिन चाँदी का सरूपशाही सिक्का मिलता रहा। एक दिन कुछ मेहमान आ गये। कजोड़जी ने अपनी नामवरी को ऊँचा रखने के लिए उनकी अच्छी खातिरदारी की, जिसमें सबसे उत्तम दौरे तो पीने पिलाने का ही चला। उसके बाद से उन्हें वह सिक्का मिलना बंद हो गया।

कछावा ने बताया कि देवताओं को चढ़ाये गये प्रसाद में रस और पौष्टिकता की मात्रा घटने की बजाय अधिक मिलती है। जितने भी मंदिर-देवस्थान हैं, उन सबमें नियमित रूप से देवता को भोग लगाया जाता है। पूर्वजों को भी घर में धूप-अगरबत्ती की जाती है। भोजन करने से पूर्व बहुत से लोग भोजन थाल में से एक कौर अलग निकालकर भोजन करते हैं। यह सब अकारण नहीं है। मैं भी इसी क्रम का आदी हूँ।

एक दिन कछावा के घर दलिया बना। पति-पत्नी भोजन करने बैठे। कछावा बोले- 'आज तो दलिया बनाया है। दलिया तो दलिया ही है, बाबा को इसका क्या भोग दूँ।' सीता को सूझी तो उसने दलिये की कटोरी ऊपर कर कहा- 'लो बाबा दलिया है तो क्या, अरोगो।' रात्रि को मजाकिया मूड में बाबा ने कछावा को

दर्शन दिये। कहा- 'आज तो तूने मुझे भूखा ही रख दिया। यह तो सीता थी जिसने सुध ली।'

पूर्वजन्म के रचाव को हम जान नहीं पाते हैं, परन्तु जब एक दूसरे के मिलन और विछोह को देखते हैं तो आश्चर्य अवश्य होता है। कई स्थान ऐसे हैं, जहाँ मुख्य देवता से भी अधिक उनके रक्षक सहायक की धाम अधिक चलती है। बाड़मेर जिले में नाकोड़ा तीर्थस्थान पार्श्वनाथजी के नाम से अधिक जाना जाता है, परन्तु मुख्य द्वार पर भैरव की प्रतिमा अधिक सजग जाग्रत और चमत्कारी होने से उनकी धाम अधिक चलती है। नाकोड़ा भैरव के रूप में लोक में उनकी मान्यता, मनौती अधिक चलती है। यही नहीं, ऐसे पुरुष और महिलाएँ भी हैं जिन्हें नाकोड़ा भैरव के भाव आते हैं। ऐसे और भी कई स्थान हैं। कहीं देव मंदिर के साथ देवी प्रतिमाएँ तो कहीं देवी मंदिर में देव प्रतिमाएँ स्थापित हैं। हिन्दू मंदिर में मुस्लिम पुजारी और मुस्लिम दरगाह पर हिन्दू सेवा करते मिलते हैं। ऐसे देवता भी हैं जिन्हें क्या हिन्दू, क्या मुसलमान सभी पूजते हैं। रामदेव जहाँ मुसलमानों में रामसा पीर हैं, वहाँ हिन्दुओं में बाबा रामदेव के रूप में प्रतिष्ठित हैं। ऐसे ही गोगादेव और गोगापीर हैं।

खंडहर बने पुराने महलों, हवेलियों में छाई वीरानगी से सभी परिचित हैं। वे उजाड़ और भयावनी लगती हैं। रात की बात छोड़ो, दिन में भी उधर जाने का, किसी का मन नहीं करता। कोई भूले भटके चला भी जाता है, तो उसे तत्काल चमत्कार मिल जाता है। यही हाल किलों की वीरानगी का है। चित्तौड़ के किले को ही देखें। गौमुख के पास का स्थान उजाड़ और वीरान नहीं लगता, जबकि रतनसिंह के महल और लाखोटिया बारीवाला हिस्सा बड़ा भयावह लगता है। वे सारे दुश्मन जो अकाल मौत मारे गये, आज भी वहाँ छटपटा रहे हैं, इसलिए कोई भी प्राणी उधर जाता है, सबके सब उस पर टूट पड़ने को मचलते हैं। आबादवाले स्थान उच्च आत्मा के निवास रहे। भोजराज का महल गौमुख के पास था। वे पक्के शिवभक्त थे। पाटवी होते हुए भी उन्होंने राजगद्दी नहीं ली, न तलवार ही चलाई। मीरां इन्हीं भोजराज से विवाहित थी। यही कारण है कि वह महल आबाद और आत्मसुख प्रदान करने वाला है।

लोकदेवता कल्लाजी को चित्तौड़ के युद्ध में देवी ने शक्ति (तलवार) प्रदान की, जिसके सहारे मुंड (सिर) नहीं होते

हुए भी वे रूंड (सिर विहीन शरीर) से दुश्मनों का सफाया करते हुए सलूमबर तक बढ़ते रहे। अंत में जहाँ उनका रूंड गिरा, वह स्थान रूंडेडा के रूप में आबाद हुआ। तब से कल्लाजी लोकदेवता के रूप में केवल शक्ति (तलवार) की नोक के सहारे सभी रोगों का इलाज करते आ रहे हैं। उनके सेवक सरजुदास का सान्निध्य पाकर ही मैंने मीरांबाई की खोज में छह पांतों का भ्रमण कर 'निर्भय मीरां' पुस्तक लिखी। ये सरजुदास भोजराज के अवतार कहे गये।

ऐसे ही लोकजीवन में पाबूजी लक्ष्मण के अवतार माने गये। देवनारायण के प्रति राणा प्रताप की अटूट श्रद्धा थी। कहते हैं, उन्होंने ही प्रताप को चेतक जैसा घोड़ा दिया जो देव घोड़ा कहलाया। राजस्थान में ऐसे और भी जुझार हुए जो केवल धड़ के बल लड़े। ऐसे ही चौमू के पास सीकर रोड पर जहाँ जुझार का सिर गिरा वह स्थान निधड़ और जहाँ धड़ गिरा वह बेनाड़ कहलाया। इन नामों से बाद में वहाँ दो गाँव बसे।

यह अध्ययन का रुचिकर विषय है कि जितने भी महान् व्यक्ति हुए हैं, उनका कोई न कोई इष्ट देव अवश्य रहा, जिसके प्रति उनकी अटूट श्रद्धा आस्था रही और मुँहमांगा वर पाने में सफल रहे। पं. मोतीलाल नेहरू निस्संतान थे। एकबार पं. मोतीलाल, पं. मदनमोहन मालवीय और पं. दीनदयाल शास्त्री तीनों ऋषिकेश गये। संध्या को भ्रमण के दौरान उन्होंने गंगा तट पर एक पेड़ के ऊपर जटाधारी योगी के दर्शन किये। पेड़ के नीचे की डाली पर एक हंडिया लटकी हुई थी। पता लगा कि योगी पेड़ पर ही रहकर तपस्या करते हैं। हंडिया में कुछ मिलता है तो खा लेते हैं, नहीं मिलता है तो भूखे ही रहते हैं।

दूसरे दिन उन्होंने योगी को नजदीक जा प्रणाम किया। योगी ने पूछा- 'क्या चाहते हो?' मालवीयजी ने मोतीलाल की तरफ इशारा कर कहा- 'इनको पुत्र की अभिलाषा है।' योगी बोला- 'इनके नसीब में तो पुत्र नहीं है।' मालवीय बोले- 'आप तो कर्मयोगी हैं। असंभव को भी संभव कर सकते हैं।' योगी कुछ नहीं बोला। उसने घड़े से थोड़ा जल लेकर तीन बार जमीन पर छिड़का और चौथी बार मोतीलाल पर। बोला- 'आप लोगों ने मेरे साथ बड़ी ज्यादती की है। मेरी जन्म-जन्म की तपस्या का फल मुझसे ले लिया।'

दूसरे दिन योगी उस पेड़ पर नहीं था। उस पेड़ की जड़ के पास उसकी मृत देह पड़ी थी, लेकिन पं. मोतीलाल को उसकी तपस्या का फल मिल गया। दस माह बाद उनको पुत्र रत्न मिला जिसका नाम जवाहरलाल रखा गया।

2 जनवरी 2008 को उदयपुर में रह रहे तेरापंथ धर्म संघ के सुश्रावक गोकुलचंद पीतलिया का संथारापूर्वक शरीरान्त हो गया। निधन पूर्व उनके पुत्र मदनलाल ने वैद्य गौरीशंकर श्रोत्रिय (70) को फोन किया कि पिताजी का स्वास्थ्य कुछ नरम चल रहा है, देख लीजिये। वैद्यजी ने उत्तर दिया- 'अब उन्हें देखने की जरूरत नहीं है। आगे की तैयारी करें।' दो दिन बाद मदनजी ने मुझे वैद्यजी की यह बात कही। मैंने वैद्यजी को उनकी कही बात का रहस्य जानने के लिए फोन किया। उन्होंने कहा- 'मैं पिछले 25 वर्षों से बासाहब की स्वास्थ्य सेवा करता आ रहा हूँ। मदनजी के फोन करते समय मुझे अनुभूति हुई कि बासा गोकुलचंदजी मेरे सामने हाथ जोड़े खड़े हैं और कह रहे हैं- अब आप मत आना। मेरा आयुष्य पूरा हो चुका है। मैं जा रहा हूँ।'

बातचीत के दौरान मदनजी की पत्नी कमला ने बताया- 'सन् 1976 में बासाहब को कुलदेवी जवालिया माता दर्शनार्थ ले गये। वहाँ बासाहब ने छतरी बनाने की भावना व्यक्त करते हुए कहा कि हो सकता है फिर आपके दर्शन नहीं कर पाऊँ। इस पर माताजी ने उनको आश्वस्त किया कि सन् 1990 तक उनका कोई बाल बांका नहीं कर सकता। कमलाजी ने बताया कि सन् 90 में बासाहब ने अचानक बैठे-बैठे आँखें फेर दीं। दो घंटे तक उनका शरीर निढाल हो पड़ा रहा। परिवार में रोना धोना शुरू हो गया कि अचानक उनमें प्राणों का संचार हुआ और वे उठ बैठे। यह एक बड़ी घात थी, जो टल गई। बासा के पुण्य कर्मों का ही यह आलम था। बाद में 18 वर्ष उन्होंने राजीखुशी निकाले और 19 वर्ष में प्रयाण किया।'

गोकुलचंदजी का प्रारंभिक जीवन कष्टप्रद संघर्षमय रहा। जीने और कमाने दोनों में वे बड़े संयम और सीमा में रहे, फलस्वरूप उनके सुकर्म की जड़ हरी होती वृद्धि पाती रही। अपने जीवन में उन्होंने कई अच्छे कार्य किये, पर कभी उनका ढोल नहीं पीटा। अधिक नहीं तो भी 10 लाख के करीब की राशि उनसे लोगों ने उधार ली, किन्तु वापिस नहीं लौटाई। उनके ना

कहने का रूख देखते हुए बासा ने उनसे वह राशि मांगना भी ठीक नहीं समझा। मदनजी से कहा- 'मांगने से संबंध बिगड़ जाते हैं। पूर्वजन्म का ही कोई कर्ज देना रह गया है, जो तब नहीं चुका पाया, अब इस जन्म में पूरा कर मुझे संतोष हुआ है।' मैंने देखा, मृत्यु के 24 घंटे बाद भी गोकुलचंदजी में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। वे वैसे ही लगे, जैसे मुख वस्त्रिका बांधे सामायिक में बैठे हैं।

बाहरी यात्रा तो सभी कर रहे हैं। इस यात्रा का भी अपना आकर्षण, अनुभव और आनंद है, पर अन्तर्यात्रा उससे भी अधिक आनंद देनेवाली है। जैसे अच्छे स्वप्न निश्चय ही अधिक आनंदित करनेवाले, मनोरम और सम्मोहित करने वाले होते हैं। इस अन्तर्यात्रा के प्रयोगधर्मी मुनिश्री किशनलालजी बड़े सिद्ध साधक हैं। वे प्रेक्षाध्यान के माध्यम से व्यक्ति की प्राणधारा को शक्ति केन्द्र से ज्ञानकेन्द्र की ओर ऊर्ध्वमुखी बनाते हैं। ऐसे उन्होंने कई प्रयोग किये हैं और अन्यों को प्रयोगों द्वारा पूर्वजन्म की उपलब्धिमूलक अनुभूति कराई है।

तेरापंथ धर्मसंघ के मुनिश्री किशनलालजी का यह कथन उल्लेखनीय है- 'पूर्वजन्म की यात्रा के लिए सर्वप्रथम प्रेक्षा से तटस्थ चेतना का विकास करते हैं, ताकि किसी भी परिस्थिति में व्यक्ति तटस्थ रह सके। उसके पश्चात् यात्रा का प्रारंभ कायोत्सर्ग के माध्यम से करते हुए साधक को अतीत की यात्रा पर ले जाया जाता है। एकाग्रता के साथ पूर्वजीवन की स्मृति स्पष्ट होने लगती है। गर्भ का अंधकार मंत्र ध्वनि से दूर होते ही गर्भावस्था से पूर्व अवस्था का साक्षात् होने लगता है।'

पूर्व अवस्था के प्रयोग जाति-स्मृति के प्रयोग कहे जाते हैं। संकल्प एवं अनिमेत्र प्रेक्षा के माध्यम से भी ये प्रयोग होते हैं। अनुप्रेक्षा भी जाति स्मृति का सशक्त माध्यम है, जिससे पूर्व अवस्था में क्रमशः प्रवेश किया जाता है। मूलतः जिनकी तीव्र अभीप्सा होती है, वे ही जाति स्मृति में प्रवेश कर पाते हैं। उन्हें एक विशेष प्रयोग से जाति स्मरण में उतारा जा सकता है।

मुनिश्री के अनुसार जाति स्मृति सम्मोहित अवस्था का परिणाम नहीं है। एक ही प्रयोग को दस व्यक्तियों को एक साथ करवाया जाता है। उन सबको अपना पूर्वजीवन अलग-अलग अनुभव होता है। अकेले में भी प्रयोग करवाये गए। दोनों अवस्थाओं

में जिन पर प्रयोग करवाये गये, वे सब अलग-अलग ढंग से अपनी-अपनी स्थिति का विश्लेषण करते हैं। यह न तो सम्मोहन अवस्था है और न ही इनमें कोई चालाकी है, अपितु व्यक्ति अपने दृढ़ संकल्प एवं प्रयोक्ता के सहयोग से पूर्वजन्म की यात्रा में गतिशील हो जाता है।⁸

मुनिवर किशनलालजी ने ऐसे जाति स्मरण के, पूर्वजन्म अनुभूति के प्रयोग स्वयं तो किये ही हैं, अन्यो को भी अधिकांश में समूह में करवाये हैं। उनमें सबके भिन्न-भिन्न अनुभव हुए हैं जो बड़े दिलचस्प, रोमांचक तथा दिल दहलाने वाले भी हैं। इनसे प्रयोगकर्ताओं की मनःस्थिति में सकारात्मक परिवर्तन आया है, साथ ही उनकी जीवनचर्या भी बदली है। मानसिक क्षोभ, अशांत मन तथा अस्तव्यस्त मनःस्थिति के विपरीत मानसिक संतोष, आत्मशांति तथा तटस्थ भाव से जीवनयापन करने का मनोबल दृढ़ बना है। एक तरह से नया जीवन ही उन्हें मिला है, जो मोह ममत्व से परे निश्चिंतता का है।

‘रहस्य पूर्वजन्मों के’ पुस्तक में मुनिश्री किशनलालजी द्वारा समय-समय पर जाति स्मृति प्रयोगकर्ताओं में उन कुछ के अनुभव संयोजित किये हैं, जो सामान्य तथा सबके नहीं हो सकते। इस तरह अलग-अलग प्रयोगों से जो अनुभूतियाँ हुईं, उनसे पूर्वजन्म की स्थितियों, विशिष्टताओं, विशेषताओं एवं विरूपताओं का अध्ययन कर बहुत सारे उन तथ्यों का पता लगाया जा सकता है, जो पूर्वजीवन और वर्तमान जीवन के सेतु बनते हैं।⁹

यों भी कोई जीवन किसी एक जन्म का परिणाम नहीं है और न वह किसी एक जन्म से बंधा हुआ है। जिसका जो भी

जीवन है, वह कई जन्मों का मिश्रित रूप है जो व्यक्ति के साथ अदृश्य छाया की तरह लिप्त है। बहुत कुछ जानते हुए भी बहुत कुछ अनजाना रहेगा। रहस्य की बहुत सारी बातें रहस्यमय ही रहेंगी और मनुष्य कितना ही प्रयोगधर्मी हो जाय, तब भी इस सृष्टि के रहस्य को समग्रतः नहीं जान पायेगा।

मुनिश्री किशनलालजी में जो रहस्य संपदा है, वह बहुत कुछ उनकी अपनी निजी है। सबके लिए खोलने की भी नहीं हो सकती। बहुत सारा रहस्य तो कहने बताने का भी नहीं होता। उसकी गुंडी खोलने बताने से वह ज्ञान ही नष्ट हो जाता है। लाख यत्न करने पर भी उसकी प्राप्ति फिर संभव नहीं होती।

लोकजीवन में ऐसे कई किस्से मिलते हैं, जब कोई व्यक्ति अपने जीवनकाल में बड़ा चमत्कारी और असाधारण कृत्य किये रहा, पर उसने अपनी विद्या अपने किसी प्रियतर व्यक्ति को भी नहीं दी और मरने पर उसके साथ ही चली गई। गादी पर एकबार लोकदेवता कल्लाजी ने मुझे कहा भी कि असली डोर, सृष्टि संचालन की तो जगत्जननी के हाथ में है। मनुष्य तो उसका मात्र माध्यम भर है।

पूर्वजीवन और पुनर्जीवन के लोयण के पीछे यह बात तो साफ है कि मनुष्य सर्वसत्ता सम्पन्न नहीं है। उसका संचालन किसी अन्य के हाथ में है, जिसका उसे अता-पता नहीं है। वह किसी अदृश्य डोर से पुतली की तरह संचालित होता है। ऐसी घटनाएँ हर मनुष्य के जीवन में घटित होती हैं, जिनके आधार पर भी यह कथ्य-तथ्य सच लगता है।

टिप्पणी

1. अजूबा राजस्थान, डॉ. महेन्द्र भानावत, मुक्तक प्रकाशन, 352 श्रीकृष्णपुर, उदयपुर, 1986 में प्रकाशित भूतों का मेला, पृ. 25-29।
2. अजूबा भारत, डॉ. महेन्द्र भानावत, संघी प्रकाशन, सी-177 महावीर मार्ग, जयपुर, 2002 में प्रकाशित एक मेला दिव्यात्माओं का, पृ. 31 से 40।
3. लोककलाओं का आजादीकरण, डॉ. महेन्द्र भानावत, मुक्तक प्रकाशन, उदयपुर, 2002 में प्रकाशित मर कर जीने वाले, पृ. 238 से 245।
4. जनजातियों के धार्मिक सरोकार, डॉ. महेन्द्र भानावत, मुक्तक प्रकाशन, उदयपुर, 2006 में प्रकाशित पितृ-पूजन से जुड़ा जनजाति समाज तथा जनजातियों में जादू टोना, पृ. 58 से 115।
5. पुनर्जन्म, परलोक और परामनोविज्ञान, डॉ. श्याममनोहर व्यास, गौरव प्रकाशन 1587 संधीजी का रास्ता, जयपुर, 2004 में प्रकाशित सूक्ष्म शरीर की अलौकिक शक्ति, पृ. 80 से 85।
6. मृत्यु और उसके बाद, गंगाप्रसाद गौड़ नाहर, पुस्तक भंडार, पटना 1959 में प्रकाशित प्रेतात्मा, परलोक विषयक, पृ. 200 से 206
7. मरणोपरान्त जीवन : तथ्य एवं सत्य, पृ. 42
8. यात्रा पूर्वजन्म की, मुनि किशनलाल, आदर्श साहित्य संघ, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण, 2007 स्वकीय
9. रहस्य पूर्वजन्मों के, मुनि किशनलाल, अहा जिन्दगी बुक्स, 2009

वाक् - लोकभाषा और बुन्देली-मालवी चित्रकला

डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित

भाषा और भूषा से देश और काल की पहचान होती है। उनमें से भी वाणी की कृपा से ही समस्त लोकयात्राएँ होती हैं। राजा भोज के अनुसार जीवन का सार वाक् है और वाक् के दो स्तर हैं-वक्तृत्व और कवित्व। और यह प्राप्ति वाग्देवी की कृपा से ही संभव है।

जब से सृष्टि का आरंभ हुआ, तब से ही परस्पर व्यवहार के लिए मनुष्य ने वाणी के प्रयोग की यात्रा प्रारंभ कर दी होगी। और सतत् प्रयास से अन्ततः उसे सफलता प्राप्त हुई। उसका विश्लेषण परवर्ती विद्वान चिन्तकों और दार्शनिकों द्वारा सम्पन्न हुआ। उन्होंने वाक् को सूक्ष्म से स्थूलता की ओर, अन्तः से प्रकाश की ओर आते हुए क्रमशः इस प्रकार बताया-सूक्ष्मा (परा), पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। वैखरी द्वारा वाक् जब प्रकट हो जाती है, तब पुनः उसका क्रम आरंभ होता है-ध्वनि, वर्ण पद और वाक्य। इन सबका विश्लेषण करने में वैदिक काल से ही जो प्रयास प्रारंभ हुए, वे कभी पूरे नहीं हुए। उन पर निरंतर चिन्तन होता ही रहा। कहते हैं महेश्वर का व्याकरण समुद्र के समान व्यापक और अगाध था। उसमें से आधा घड़ा भर लिया। वह वृहस्पति का व्याकरण था। उसका सौवां हिस्सा इन्द्र का ऐन्द्र व्याकरण था। और कुश घास की नोक एक बूँद से उड़कर गिरा हुआ भाग है पाणिनि का व्याकरण।

*समुद्रवद् व्याकरणं महेश्वरे तदर्धकुम्भोद्धरणं बृहस्पतौ।
तद्भागभाच्च शतं पुरन्दरे कुशाग्र बिन्दूप्रतितं हि पाणिनौ ॥*

उस बिन्दु बराबर पाणिनि ही हमें उपलब्ध हैं, और उसकी भी इतनी महत्ता है कि वार्तिक, भाष्य, टीकाएँ लिख-लिख कर परवर्ती विद्वान गौरवशाली होते रहे और आज पाणिनि के व्याकरण सूत्रों की वैज्ञानिकता को सारा विश्व स्वीकार करता है। इस

व्याकरण पर कात्यायन वररूचि ने संग्रह नामक इतना प्रौढ़ और विस्तृत ग्रन्थ लिखा था कि महर्षि पतंजलि भी उसे निरंतर गौरव देते रहे, उद्धृत करते रहे।

वररूचि मूलतः ऐन्द्र व्याकरण के गहन अध्येता थे, और उन्होंने पाणिनि की अष्टाध्यायी का संशोधन करते हुए वार्तिक लिखे, जिनमें से कुछ प्राप्त होते हैं। पाणिनि ने वैदिक को साथ लेते हुए समकालीन संस्कृत को भाषा कहा है। भाषा बोलचाल की होती है। वररूचि ने यवन लिपि की चर्चा की है। उन दिनों यवन भाषा लिपि आदि से भारत का सम्पर्क था। उन दिनों म्लेच्छ भाषा न बोलने की हिदायत दी जाती थी।

संस्कृत के मूल शब्द तो कम होते रहे, परन्तु उनके तद्भव अनेक रूप लोक में प्रचलित होते थे। जैसे गौ शब्द के गावी, गोणी, गोपोतलिका (गोपुत्रिका) आदि प्रचलित थे, जिनमें से कुछ तद्भव गावड़ी, गुत्री आदि आज भी मालवादि में प्रचलित हैं। वररूचि के अनुसार इन तद्भव रूपों का मूल संस्कृत शब्द है—शब्दप्रकृतिरपभ्रंशः इति संग्रहकारः (वररूचि)। यह उल्लेखनीय है कि वररूचि ने लोक को सर्वप्रथम महत्त्व दिया था। उन्होंने यवनलिपि, म्लेच्छ भाषादि की चर्चा ही नहीं की, बल्कि प्राकृत भाषा का पहला व्याकरण भी रचा था। नाट्यशास्त्र में भी तत्कालीन प्राकृत भाषाओं की गहन चर्चा प्राप्त होती है। भर्तृहरि ने व्याकरण की इस गहन धारा को दार्शनिक रूप दे दिया अपने वाक्यपदीय में। उसमें उन्होंने भाषा को समझने की प्रक्रिया बताते हुए कहा है कि जैसे सिखाने पर बच्चा अम्बा (अम्मा) बोलता है। उस समय उसके लिए वह अस्पष्ट होता है। परन्तु ज्ञात होने पर अर्थ का निश्चय हो जाता है और उस एक शब्द से वह अपनी पूरी बात कह देता है।

अम्बाम्बेति यथा बालः शिक्षमाणः प्रभाषते।

अव्यक्तं तद्विदां तेन व्यक्ते भवति निश्चयः॥

जनसाधारण बहुधा तद्भव भाषा बोलते हैं। उनमें कुछ शब्द रूढ़ हो जाते हैं।

पारंपर्या दपभ्रंशाः विणुणेष्वभिधातु षु।

प्रसिद्धिभागता येषु तेषु साधुर वाचकाः॥

भिन्न-भिन्न काल में विद्वान अपने समय के अनुकूल अर्थ करते रहे। पाणिनि-वररूचि के समय यवन से तात्पर्य ईरानी

डेरियस आदि रहे। पतंजलि ने जब उस पर भाष्य लिखा तो अर्थ हुआ तत्कालीन यवन अर्थात् यूनानी ग्रीक। परन्तु किसी कालिदास ने अपने कोष में यवन तुरूष्क (तुर्क) का वाचक बताया (यवस्तु तुरूष्कः स्यात्)। जब यूरोप के लोग भारत में आये तो वे भी यवन कहलाने लगे।

संस्कृत तो सघन विचार-विमर्श से परिपूर्ण सम्पर्क भाषा रही। परन्तु उसके रहते भी लोकभाषाएँ भी निरंतर पनपती ही रहीं और जनभाषा वे ही रहीं। अशोक ने लेख जनभाषा में लिखवाये और जनभाषा पैशाची प्राकृत में वड्ढकहा जैसी अनेक कृतियाँ तैयार हुई। राजसभा में जनकवियों का भी स्थान निर्धारित रहता था। क्योंकि जनता की भाषा में भी प्रचुरमात्रा में साहित्य रचना होती जा रही थी और सबको अपनी-अपनी बोली प्यारी लगती है। इस बात को राजशेखर और विद्यापति भी रेखांकित करते रहे, जबकि दोनों ही संस्कृत के समर्थ रचनाकार थे।

देसिल बअना सब जन मिट्टा।

कबीर का कहना है कि संस्कृत तो कूपजल है और जनभाषा बहता नीर है।

संस्करित तो है कूपजल भाषा बहता नीर।

परन्तु संस्कृत ऐसा अखण्ड कूपजल है कि उसमें से कितना जल निकालते रहें, ताजे पानी से वह निरंतर भरता रहता है और कभी रिक्त नहीं होता। परन्तु जनभाषाएँ उससे रस लेकर सतत् प्राणवती होती जाती हैं। उदाहरण के लिए मालवी गीत में तीसरे महीने को 'अग्न्या' मास कहा गया। नारदपुराण में 'अग्न्यामी' त्रेता युग को कहा गया। अर्थात् 'तीसरा' अर्थ होता है उसका। त्रेता तीन का वाचक है। यों तो अग्नि भी तीन प्रकार की होती है—गार्हस्पत्य, अहवनीय, दक्षिणा। तात्पर्य यह कि 'अग्न्या' शब्द की जड़े कितनी गहरी हैं। इसी प्रकार मालवी की प्रसिद्ध गाथा है हीड़। प्रत्येक पंक्ति के पहले 'हीड़े' टेक रहती है। ईड् पूजा वाचक है। ईडे=पूजा करता हूँ, तो पूरी हीड़ गो पूजा का गाथा गीत है।

वाचिक परम्परा ही मूल है। लिखित परम्परा परवर्ती ही है। नाटक लिखित होने पर भी प्रस्तुति में अभिनेता संवादों को याद करके मौखिक बोलता है, क्योंकि विद्या विनिमय बहुधा वाचिक होता है। यह है वाचिक परम्परा की रक्षा और महत्ता।

लिखित परम्परा सीमित है। वाचिक परम्परा असीम। जन्म से मृत्यु तक वाचिक परम्परा में ही लोक व्यवहार होता है। भाषाएँ, बोलियाँ, उपबोलियाँ असंख्य हैं और उन सबमें अपार कथित रचित साहित्य मौखिक रूप से, वाचिक रूप में कण्ड-कण्ड से होता हुआ अनजाने काल से संचरित होता हुआ आज तक बहता आ रहा है।

पूरे भारत की ये लोक भाषाएँ, जनजातीय भाषाएँ अन्तःसूत्रित हैं। परन्तु व्यापक स्तर पर अभी उनके तुलनात्मक कोष या अध्ययन की अपेक्षा बनी हुई है। यदि भारतीय लोकभाषा कोष तुलनात्मक रूप से तैयार होता है तो पूरे देश की आन्तरिक एकता प्रकट करने का सुदृढ़ आधार तैयार ही नहीं हो जाता, सिद्ध भी हो जाता है।

बुन्देली चित्रकला

बुन्देलखण्ड और मालवा दोनों ही भारत का मध्यदेश है। इन दोनों की सीमाएँ सटी हुई हैं। अतः प्रकृति और प्रवृत्ति में परस्पर ये अधिक भिन्न नहीं है। यद्यपि मालवा नाम प्रायः दो हजार वर्षों से पश्चिम मध्यप्रदेश के एक निश्चित भू-भाग के लिए सर्वत्र प्रसिद्ध रहा। जबकि बुन्देलखण्ड नाम प्रायः पाँच सौ वर्षों से ही प्रचलित है, जब बुन्देले राजपूतों का इस क्षेत्र पर शासन आरंभ हुआ। उससे पूर्व यह क्षेत्र दशार्ण कहलाता था, जो कालान्तर में मालवा की सीमा में सम्मिलित होकर मालव ही कहलाने लग गया था। पूर्वी दशार्ण चेदि के अन्तर्गत आने के बाद भी पश्चिमी दशार्ण मालवा के अन्तर्गत ही बना रहा। इस प्रकार मूलतः बुन्देलखण्ड और मालवा राजनीतिक दृष्टि से बहुधा एक ही राज्य के रूप में चिरकाल तक रहे।

मुस्लिम काल में देश की राजनीतिक शक्तियाँ जब क्षीण होकर बिखरती गयीं, तब ये इकाईयाँ पृथक-पृथक तल ग्रहण करती गयीं और अपनी स्वतंत्र पहचान बनाती और बढ़ाती गयीं। बुन्देलखण्ड पहले चन्देलों और फिर बुन्देलों के आधिपत्य में फलता-फूलता रहा। चेदिराज चन्देलों के समय स्थापत्य और मूर्तिकला का प्रचुर विकास हुआ और बुन्देलों के समय चित्रकला भी विकसित होती गयी।

चित्रकला अपने आधार के आधार पर विभिन्न प्रकार की बताई जाती है। यथा भूमिचित्र-धरती पर बनाते हैं, भित्तिचित्र-

भीत या दीवार पर बनाते हैं, पटचित्र-कागज, कपड़े या पत्ते पर बनाते हैं और देहचित्र-शरीर पर बिन्दियाँ, गोदना, मेहंदी या महावर लगाना है।

मालवा के भील हों या बुन्देलखण्ड के गोंड अपने शरीर को गुदवाने की उन सबमें ललक रहती है। गुदना सौभाग्य का प्रतीक माना जाता है और सुन्दरता का भी। दोनों क्षेत्र के मेले तथा हाट में गोदने वालों के यहाँ महिलाओं की भीड़ लगी रहती है। पुरुष प्रायः अपने नाम, फूल आदि गुदवा लेते हैं, पर स्त्रियाँ हाथों पर विशेष गुदवाती हैं। साहित्य में कपोल या स्तनों पर बेलबूटे लता के डंठलों के रस से या विभिन्न रंगों से बनाने की परम्परा थी। चन्दन, कुंकुम आदि से भी ऋतु के अनुसार ये चित्र बनाये जाते थे।

भूमि पर माँडने खड़िया या सफेद मिट्टी, गेरू आदि से बनाने की प्रथा रही। मंगल भाव प्रकट करने के लिए यह सब अलंकरण होता रहता था। पटचित्र बहुधा कपड़े पर बनते रहे, जिसे फड़ भी कहते हैं। ऐसे आधार कागज, पत्ते आदि भी हो सकते हैं। पटचित्र प्राचीनकाल से ही बनते रहे। मध्यकाल से कागज पर भी सुन्दर चित्र बनते रहे। रीतिकाल की कई पुस्तकें ऐसे चित्रों से भरी हैं। केशवदास की रसिक प्रिया संबंधी चित्रों का तो संसार ही खड़ा हो गया। कितने ही चित्र राग-रागनियों पर बनते रहे। मतिराम के रसराज पर प्रचुर चित्र बने। ओरछा और दतिया बुन्देली चित्रधारा के दो प्रमुख केन्द्र रहे। रागमाला, बारामासा, मामूलिया, आखेट, राजयात्रा, शासकों के एकांकी चित्र चित्रकला की दिशा में तथा मिनियेचर चित्रकला में बुन्देली की अपनी अलग पहचान हैं। मुगल प्रभाव इस युग की चित्रकला में सर्वत्र पाया जाता है।

मालवा की चित्रकला भी मुगल प्रभाव से अछूती नहीं है। परवर्ती काल में जिस प्रकार बुन्देली कला मराठी प्रभाव से अछूती नहीं रही, उसी प्रकार मालवी कला भी मराठी धारा से प्रभावित रही। जिस प्रकार झाँसी, ग्वालियर आदि मराठी प्रभाव में रहे, उसी प्रकार उज्जैन, इन्दौर, देवास, धार भी मराठी प्रभाव क्षेत्र में रहे। यह उल्लेखनीय है कि सिन्धिया राज्य के ग्वालियर में जहाँ चित्रकला की बुन्देली शैली पल्लवित होती रही, वहीं उस राज्य के दक्षिणी भाग में मालवी शैली पल्लवित होती रही। इन दोनों शैलियों पर मुगल प्रभाव भी रहा। मुगल प्रभाव वास्तव में

युग प्रभाव है। क्योंकि मुगल सत्ता के केन्द्र में थे। फलतः भारत का साहित्य, संगीत, कला यहाँ तक कि जीवन शैली भी मुगल प्रभाव से अछूती नहीं रही। मालवा चित्रकला के विषय भी धार्मिक, श्रृंगारिक, आखेटपरक तथा व्यक्ति चित्रों से भरपूर हैं। लघुचित्रों की प्रचुरता सर्वत्र है।

राधोगढ़ खीची राजपूतों का केन्द्र रहा। यह ऐसा समृद्ध कला केन्द्र है, जहाँ के प्रासादों और मंदिरों में भित्तिचित्रों की प्रचुरता है। साथ ही राग-रागनियों के अंकन भी विपुल मात्रा में होते रहे। 1670 से 1860 के मध्य प्रायः दो शताब्दियों तक राधोगढ़ में जो चित्रधारा बनती रही, वह जहाँ एक ओर सीमावर्ती कोटा की राजपूत शैली का प्रभाव ले रही थी, वहीं वह दूसरी ओर बुन्देली प्रभाव से भी अछूती नहीं रही। राजा धीरज सिंह की चित्रांकन की ओर विशेष रूचि रही। धीरज सिंह के आखेट चित्र उनकी पासवान ऐश्वर्या के द्वारा बनवाये गये राग-रागनियों के चित्र, रामायण, भागवत संबंधी चित्र के साथ ही रामदरबार का अंकन भी मनोहर हुआ है। इन चित्रों में अनुपात का विशेष ध्यान रखा गया है। बहुमूल्य कला की यह धरोहर सारे संसार के कला जगत में सुविख्यात और लोकप्रिय है। दिल्ली, अहमदाबाद, बड़ौदा, पटना, हैदराबाद, ब्रिटिश म्यूजियम- लंदन, डबलिन, बोस्टन, न्यूयार्क, सिडनी आदि तक इन मनोहर चित्रों की व्याप्ति पायी जा सकती है। चमकदार रंग और सधी रेखाएँ इनकी अपनी विशेषताएँ हैं। पुरुष पहनावा मुगल प्रभाव लिये है। वनस्पति का हल्के हरे रंग की पृष्ठभूमि में अंकन हुआ है। राधोगढ़ के विभिन्न राजाओं के अंकन के साथ ही गणेश, चित्रलेखा, उषा, भृंगी श्रृषि, शिव-पार्वती आदि का भी प्रचुर अंकन हुआ है। परम्परागत विषय होने पर भी व्यक्तिचित्र आकर्षक व जीवन्त है। बैंगनी रंग का उपयोग इस कला की विशेषता है। मालवी चित्रकारों ने आंचलिक विशेषताओं की चाहे उपेक्षा न की हो, परन्तु सीमावर्ती प्रभावों से भी वे अछूते नहीं रहे हैं। उनमें पूजा स्थान, शिल्प, स्थापत्य आदि का भी मनोहर और बारीकी से अंकन हुआ है। नारी चित्रों में राजपूती पहनावा विशेष पाया जाता है, परन्तु पुरुषों के पहनावे पर मुगल प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। जबकि मराठा चित्रों में पोशाकों पर मराठी प्रभाव पाया जाता है।

इस प्रकार क्षेत्रीय अपनी निजी विशेषताएँ होने पर भी सीमावर्ती क्षेत्रों की चित्रकला के भेद में भी अभेद के तत्त्व प्रखर

रूप से पाये जाते हैं। यहाँ तक कि लोककला में भी सामान्य रूप रेखाएँ देखी-परखी जा सकती हैं।

यह उल्लेखनीय है कि ग्यारहवीं सदी के राजा भोज ने अपने समरांगण सूत्रधार में चित्रकला के विषय में जो विस्तृत विवरण दिया है। वह चित्र संबंधी सर्वांगीण होने पर भी मालवी-बुन्देली की साझी प्रवृत्ति को विशेषतः इसलिए रेखांकित करता है कि उसकी राजधानी यदि मालवा में धारा नगरी रही तो राज्य क्षेत्र वर्तमान बुन्देलखण्ड के भीतर तक पहुँच रहा था। फिर कला संबंधी जो भी सिद्धान्त बनते हैं, वे प्रायः सर्वांगीण होते हैं। अतः राजाभोज वर्णित चित्र सिद्धान्त यदि मालवा में स्वीकृत रहे तो बुन्देलखण्ड में भी स्वीकृत रहे।

पन्द्रहवीं सदी के दार्शनिक विद्वान विद्यारण्य ने अपनी पञ्चदशी नामक दार्शनिक पुस्तक में चित्र संबंधी सूक्ष्म विवेचन किया है, जो मध्ययुगीन चित्रकला के अनुरूप है। तदनुसार चित्रपट पर चार अवस्थाएँ देखी जाती हैं। पट धौत, घट्टित, लांछित और रंजित होता है। स्वयं सफेद धौत होता है। उस पर अन्न का लेप घट्टित होता है। स्याही जैसा हो तो लांछित होता है और रंग देने पर रंजित होता है। एक ही आधार पर निर्मित होने पर भी चित्र में उत्तम तथा अधम दिखाई देते हैं। वस्त्र अलग-अलग प्रतीत होते हैं। हालांकि वे एक जैसे बनाये जाते हैं। ये ऐसे तथ्य हैं जो किसी भी स्थान की कला में देखे-परखे जा सकते हैं। मालवा हो या बुन्देलखण्ड कला के मूल सिद्धान्तों में अन्तर नहीं होता है। क्षेत्रीय कुछ भेद तो होना स्वाभाविक है। वह भेद तो एक ही क्षेत्र के एक कलाकार से दूसरे कलाकार में भी देखा जा सकता है। तब भी बुन्देली कलम तथा मालवी कलम अधिक समानता होने पर भी थोड़ी बहुत भेदकता होना तो स्वाभाविक ही है। और उतनी होनी ही चाहिए, तभी तो क्षेत्रीय पहचान संभव हो सकती है।

आछा-आछा माँडणा बणाजो चितारा

मालवा कला का पुरातन एवं पारम्परिक के केन्द्र रहा है। स्थापत्य, प्रतिमा, चित्र, संगीत या काव्य किस-किस कला की चर्चा की जाए, उसकी प्रत्येक दिशा प्रसन्न प्रतीत होती है। कलाएँ चौंसठ हों या क्षेमेन्द्र वर्णित तीन सौ से अधिक, पर उन सबमें चित्रकला के अपने बहुविध आयाम हैं। मालवा मध्यप्रदेश में होने से भारत के हृदय में है। स्वभावतः देश की विविधता का मालवा में एकत्र समन्वय और उस समन्वय से पल्लवित कलाधारा की

अपनी परम्परा रही है, जिसे मालवी कला कहा जाता है। इस कला परम्परा में मालवा की बदलती धारावाही जीवन शैली निरंतर प्रकट होती रही। क्योंकि मालवा के कलाविदों ने कला को परम्परा द्वारा आत्मसात् किया है, साधा है और जीवन्त किया है। यह एक बार नहीं, निरंतर या सतत् अटूट क्रम है, जिसे पीढ़ियों से परिवार और जातियों का समूह साध रहा है। इस बहती धारा में प्राणवत्ता है, नवीनता है, पुरातन को अस्वीकृत न करते हुए नवीनता के प्रति ललक है।

प्राचीन शास्त्रों में अवन्ती और मालवा के नाम पर विभिन्न शैलियों का नामकरण हुआ है। अवन्ती की प्रवृत्ति, प्राकृत भाषा, वेश के साथ ही यहाँ पुरुषों में मालव पुरुष, मालव या मालविनी राग, मालव लिपि आदि बार-बार प्राचीन ग्रंथों में उल्लेख होते रहे हैं।

मालवा में चित्रकला पर चिन्तन भी हुआ, उसके सिद्धान्तों की व्याख्या हुई और व्यावहारिक रूप से उसकी प्रस्तुति भी होती रही। कभी यह प्रस्तुति कालिदास की कविता के द्वारा हुई तो कभी भित्ति, पट या भूमि पर साकार विविधवर्णी। चित्र रचना के छहों अंगों का समन्वय एक साथ रूपभेद, प्रमाण, भाव, लावण्य, सादृश्य, वर्णिकाभंग। पहले रेखांकन फिर रंग भरना। बिना रेखांकन के न स्थापत्य का आकार बनता है न प्रतिमा का और न लिपि का। तो मूल है रेखांकन, फिर रूपांकन उसमें से पनपता हुआ चित्रांकन।

ये अंकन जिन अधिकरणों पर होते रहे, वे भी तरह-तरह के हैं, समय के साथ बदलते भी रहे। बिना अधिकरण के अनोखा संसार रच देने की कला तो केवल शिव के पास है। शून्य भित्ति पर चित्र तो वे ही लिख सकते हैं न। मानव भला बिना आधार के कैसे बना सकता है चित्र। आधार बनते हैं- भित्तियाँ, भूमि, पटिया, कपड़ा, कागज शरीर। पत्तियों पर भी कला उतर सकती है। सहज सुलभ रंग हैं-कोयला, गेरू, खड़िया या फिर विभिन्न प्राकृतिक उपकरणों से बने रंग। भीमबेटकादि प्राकृतिक गुफाओं, शिलाश्रयों या रॉक शेल्टर में बने ऐसे सैकड़ों चित्रों का संसार आज भी चित्रकारों, सैलानियों तथा पुराविदों का ध्यान आकर्षित करता रहता है। कहीं नृत्य, कहीं आखेट। अदम्य उत्साह, अटूट गतिशीलता। रंग-रेखाओं का अनोखा सामंजस्य। त्रिकोणों के सहारे बनता कला संसार-भागता हिरण, अश्वारोही, एकल या समूह

नृत्य, आखेट, उत्सव, गर्भिणी गाय आदि के अंकन में चित्रकारों की सूझ, कल्पनाशीलता की बारीकी और व्याप्ति की युगों पूर्व की प्रस्तुति को आज भी यथावत् देखा परखा जा सकता है। शिलाश्रयों में रहते मानव अपनी अनुभूतियों को रंग रेखाओं से प्रकट अनजाने काल से करते रहे और कालिदास का यक्ष भी रॉक शेल्टर में ही रहते हुए यक्षिणी का चित्र गेरू से बनाता है, धातुराग से। रायसेन, भोपाल, नरसिंगढ़, मंदसौर जिलों के वनपर्वतों की गुफाओं में ऐसे ज्ञात-अज्ञात असंख्य चित्र अपने एकत्र संकलन और अध्ययन की प्रतीक्षा कर रहे हैं। प्राकृतिक गुफाओं में निवास करते वनवासी कलाकारों की कला सम्पदा के अकूत खजाने से मालवा भरा पूरा है, तो कृतिम अलंकृत गुफाओं से भी यह सम्पन्न है। अजंता जैसे ही मार्गी (क्लासिकल) चित्रों का संसार धार जिले की बाग की गुफाओं में अंतिम सांसें गिन रहा है। बरसात में रिसती-धँसती गुफाओं में बिगड़ते-नष्ट होते उन गुप्तकालीन प्रायः डेढ़ हजार साल पुराने चित्रों में मालवी नर-नारी का परिवेश, मनुष्यों और पशुओं की स्थानीय नस्ल, रहन-सहन, अलंकरण विधा आदि को रंगों के संतुलन में वहाँ देखा जा सकता है। उत्सव-यात्रा, उपासना, मनुष्य, देवता, पशु सब कुछ मालवी धज में। हमारे पुराणकार कहते हैं कि आवास चित्र के बिना सूना होता है। आवास में न चित्र का अभाव होना चाहिए और न चित्रों की बहुलता होनी चाहिए।

घर के दरवाजे के आसपास की दीवारें चित्रांकित होनी चाहिए। मेघदूत के यक्ष के भवन द्वार के आसपास शंख और पद्म साकार बने थे। आवासीय भित्तियों के सामने ऐसे चित्र बनाने की परम्परा मालवा में न्यूनाधिक आज तक है, जो मंगलकारी हों-सामने गणेश, द्वार के आसपास सूरज-चंद्रा। कहता है यही बात मालवी लोकगीत-

सामी भींते माँड्यो रे गणेश।

कँवरे सूरज चन्दा की राणी।।

यह उल्लेखनीय है कि आज भी चित्रावण में सूर्य-चन्द्र का अंकन तो होता ही है। मालवा में आज भी गाँवों में तथा पुरानी मानसिकता के नागरिकों के पुराने घरों की बाहरी भित्ति विवाहादि उत्सवों के अवसरों पर ऐसे चित्रों में मण्डित होती रहती है। शिवजी की बारात, गणेश, ऋद्धि-सिद्धि, स्वस्तिक, पुत्र जन्म के पगल्ये, दशहरा, काला-गोरा भेरू, माता पूजन, यज्ञोपवीत, समधी-

समधन। मालवी के एक गीत में चित्रकार या भित्तिचित्र करने वाले चितरे को आमंत्रण दिया जाता है कि बहिन के विवाह में आकर बढ़िया और प्यारे-प्यारे चित्र बनाने हैं। पहले गणपति, ऋद्धि-सिद्धि, सरस्वती फिर बनाते हैं- चन्द्र, सूर्य, तारे, ब्रह्मा, विष्णु, शंकर के मंदिर, शिवजी की जटा के बीच से उठती गंगधार, राम-लक्ष्मण-सीता, वेद-पुराण-गीता, बड़े-बड़े पर्वत और नगर, हाथी-घोड़े-ऊँट। विवाह की वेदी या चँवरी के आसपास तो ऐसे चितरावन होने ही चाहिए।

बेन्या बाई का ब्याव में चालो नी चितारा।
तो आछा-आछा माँडणा बणाजो प्यारा-प्यारा।
पेलाँ बणाजो गजानन्द गणपत।
रिद्धि-ने सिद्धि ने माता सरसत।
चाँद सूरज और नवलख तारा।
ब्रम्मा विसनु ने शंकर बनाजो।
तीनी देवता का मंदर बनाजो।
शिव की जटा बिच गंगा की धारा। बेन्या बाई....
राम लखन ओर सीता बणाजो
वेद पुराण ने गीता बणाजो
मोटा-मोटा परबत नगर बणाजो
हाथी घोड़ा ने ऊँट बणाजो
चँवरी का चारी-चारी खूँट बणाजो
तो लाड़ा ने लाड़ी जाँ परणे कुँवारा।। बेन्या बाई...
ब्याई ने ब्याण रंगीला बणाजो
रंगीला बणाजो ने छबीला बणाजो
तो बेगा-बेगा चालो ने साते हमारा।
बेन्या बाई का ब्याव में चालो नी चितारा।।

घर की भित्तियाँ चित्रित करने वाले चितेरों का वर्ग ही बन गया था, जो यही काम करता था। नगरों में तो इनके मुहल्ले ही बस गये थे। उज्जैन में भी चितेरा बाखल थी, जो अब केवल नाम से ही रह गयी। बदलती मानसिकता के कारण चितेरे भी नहीं रहे। बस एक परिवार रह गया। धूलजी बा बड़े सिद्ध चितेरे थे। अब उनका गुणी पुत्र अनिल अपने पिता की कला का समर्थ वाहक है। ऐसे गुणी शाजापुर, रतलाम, मंदसौर सब दूर हैं, जो इस डूबती हुई चितरावन परम्परा का अपनी बूढ़ी कूची से वहन कर रहे हैं। पुराने कच्चे मकानों की पठारों-बरामदों में तो कहीं-कहीं चितरावन की परम्परा को वहन की तमन्ना जहाँ-तहाँ दिखाई भी देती है,

परन्तु जैसे-जैसे वे नये पक्के मकानों में बदलते जा रहे हैं, उनके साथ उनके निवासियों की भी मानसिकता बदलती जा रही है और वे उस चितरावन की परम्परा से मुँह मोड़ते जा रहे हैं। घर की पारम्परिक कोठी, कोटल्ये, मड़ीले, कागज की टोकरियाँ, घट्टी (चक्की) के थाले आदि को भी नारियाँ विभिन्न चित्रों से अलंकृत करती रही। पर अब सब गाँवों में भी दुर्लभ होता जा रहा है।

भवन के भीतर और आँगन की भूमि मांगलिक आकृतियों में अंकित करने या मंडित करने की कला को मालवा में माँडने कहते हैं। मालवा में हर वार-त्योहार पर घर की भूमि लीपकर उसके मध्य सातिया या स्वस्तिक बना दिया जाता है। स्वस्तिक भारत का सर्वव्यापी आदिम चिह्न है। वैदिक परम्परा में स्वस्तिपाठ होता है। स्वस्ति एक मंगल प्रतीक है, अक्षर है, शब्द है, वाक्य है। उसकी आकृति ईसवी पूर्व के सिक्कों पर भी वैसी है, जैसी आज है। ऐसा ही वर्ण ओम् है। उसे हर भारतीय अनजाने काल से लिखता, बोलता, जप करता, योग साधना करता और इस अक्षर से विद्यारंभ करता आ रहा है। परन्तु हमारी भारतीय परम्परा निरपेक्ष वर्णमाला में इसका कोई स्थान नहीं है, जिसे सीखना हो वह अपने प्रयास से सीखे।

स्वस्तिक के साथ ही विभिन्न आकृतियों के माँडनों से लीपी-छाबी भूमि मंडित कर दी जाती है। मण्डन से मण्डप तक पहुँच जाते हैं, जब हम वैवाहिक भूमि अलंकरण की बात करते हैं। जिस घर विवाह होता है, वहाँ मण्डप होता है, इसीलिए मन्दसौर क्षेत्र में विवाह को माण्डा कहते हैं। पूर्णिमा या त्योहार पर लीपकर स्वस्तिक बना देती हैं नारियाँ। देहरी पर सात बिंदियाँ लगाकर घर में गेहूँ, ज्वार या चावल के दाने बिखेर दिये जाते हैं। माण्डने की अनोखी रचनाएँ लाल, पीले, नीले, सफेद रंगों से बनायी जाती हैं। माता, बहनें, बहुएँ परम्परा से बनाती रहती हैं। गेरू-खड़िया के पारम्परिक रंगों को रुई, कपड़े की चिन्दी या सिर से निकले बालों के गुच्छे को अंगुलियों में दबाकर माँडने बनाये जाते हैं। कोमल होने से बालों से माँडने बनाने में समय कम लगता है। कपड़े की बनी लकीरें मोटी होती हैं। यही पारम्परिक तूलिका है। परन्तु आजकल ब्रश और वाटर कलर या आइल पेंट का उपयोग होने लगा है। यह उल्लेखनीय है कि माँडने दिन में बनाये जाते हैं, रात में नहीं बनाये जाते। माँडना आरंभ करने के बाद अधूरा नहीं छोड़ा जाता। अपूर्ण माँडना शुभ नहीं माना जाता।

लड़की ससुराल के लिए विदा हो तो पीहर की देहरी पूजा में कुंकुम से स्वस्ति बनाती है। माँडने का आकार छोटा भी होता है और वृहद भी, उसके कई रूप होते हैं।

कपड़े पर चित्र या चित्रों की श्रृंखला बनाने की परम्परा बहुत पुरानी है। चित्रों की श्रृंखला के माध्यम से कथा गायन को फड़ कहा जाता है। फड़ पट शब्द का ही तद्भव रूप है। राजाभोज पट पर हनुमान बनाने की बात कहता है। बाणभट्ट ने पट चित्र की चर्चा की है।

राजस्थान तथा मन्दसौर जिले तक यह परम्परा आज भी थोड़ी बहुत प्रचलित है। विष्णु धर्मोत्तर पुराणादि के साथ ही राजाभोज के समरांगण सूत्रधार में तत्संबंधी चर्चा विस्तार से हुई है। पंचदशी में पटचित्र का विधिवत् विवरण दार्शनिक भूमिका के साथ अद्वैत सिद्धि में प्रस्तुत हुआ है। कपड़ा धोया, घीसा, लाँछित और रंगा जाता है। धोने से सफेद हो जाता है, आटा लेपन कर घीसा जाता है, स्याही आदि से उसे लाँछित करते रहे। रंग भरकर उसे रंगा जाता है। उस पर गिरि, नदी, घाटी आदि ऊँचा-नीचा सपाट दिखाया जा सकता है। जबकि वास्तव में वह आधार तो सम ही होता है।

पटचित्रों की परम्परा में ही वस्त्रों की छपाई कला को भी देखा जा सकता है। अठाना, भेरूगढ़, बाग आदि में वस्त्र-छपाई की कला का जो विकास होता रहा और हो रहा है, वह सब कला प्रेमियों को आकर्षित करता रहता है। इस छपाई कला के साथ ही वस्त्रों पर भाँत या डिजाईन डालने की बारीकी में रंगारा परिवारों की पारम्परिक दक्षता का विशेष योगदान रहता है। चादरें, परदे, जाति-जाति के लुगड़े-घाघरे आदि वस्त्रों की छपाई की कला में दक्षता परम्परा से ही अर्जित की जा सकी है। उन सधे कलाकारों की मालवा में अब भी बहुलता नहीं है, कुछ गिने-चुने परिवार हैं, जो इस कला को संभाल पा रहे हैं।

कागज बनने के बाद उन पर किताबें लिखने के साथ ही उनमें कथागत चित्रों से अलंकरण का उत्साह भी प्रकट होने लगा। रंगों रेखाओं से विभिन्न लीला पात्रों, घटनाओं या दृश्यों को अंकित करने के साथ ही पुस्तक के पन्नों को अलंकृत करने की भी परम्परा बनने लगी। बाऊंड्री डेकोरेशन में फूल-पत्तियाँ भरी बेल अंकित होने लगी। विभिन्न रंगों से धातु रंगों से भी। ऐसी कितनी ही बहुमूल्य हस्तलिखित पुस्तकें देश तथा विदेश तक

पहुँची-सुरक्षित हैं। यह कला मालवा में भी खूब पल्लवित हुई। पुस्तकों की नकल करने वाले तथा उन्हें कलांकित करने वाले दक्ष कलाकारों का कारोबार छपाई से पहले तक खूब फलता-फूलता रहा। यहाँ तक कि ऐसे कतिपय गाँव तक बसे हुए थे, जहाँ यही काम होता था। विदिशा के पास ऐसे गाँवों की सूचना प्राप्त होती है। उज्जैन में सिन्धिया प्राच्य शोध संस्थान में हस्तलिखित ग्रंथों का भण्डार है। उनमें श्रीमद्भागवत सहित ऐसे कई ग्रन्थ हैं, जिन पर मध्ययुगीन चित्रांकन होता रहा। इसी प्रकार विभिन्न जैन ग्रंथ भण्डारों में भी ऐसे चित्रांकित ग्रन्थों की प्रचुरता है।

मन्दिरों तथा भवनों को अलंकृत करने की जो परम्परा रही है, उसमें भी मालवा पीछे नहीं है। इन्दौर का महाराजवाड़ा मराठा कालीन चित्रकला का बड़ा केन्द्र रहा। परन्तु कुछ वर्ष पूर्व अग्रिसात् हो जाने से उस कलाभण्डार की बड़ी हानि हुई। उज्जैन में रामजनार्दन मंदिर, सत्यनारायण मंदिर, चिटनिस आदि मराठों के बाड़े-मंदिरों में मराठा प्रभाव लिए पर्याप्त चित्रांकन हुआ है। इसी प्रकार राजगढ़-नरसिंहगढ़, मंदसौर की हवेलियों आदि में राजपूत शैली के चित्रों से भवनों को अलंकृत करने- करवाने, बनाने में न कलाकार थका, न भवन स्वामी का मन।

चंदन, कुंकुम, केसर वन पत्तियों के रसों आदि से शरीर को सजाने की परम्परा मालवा में भी चिरकाल से रही है। पैरों में महावर और हाथों में मेहंदी रचाने की कला तो आज भी खूब फल फूल रही है, परन्तु शरीर मंडन की यह कला तो आदिम रही है। यहाँ तक कि इस कला को सीखने की अनुशंसा संबंधित कामसूत्रादि शास्त्रों में भी की गयी है। चौंसठ कलाओं में पत्र रचना को भी स्थान दिया गया है।

शरीर को अलंकृत करने की आदिम प्रवृत्ति नर-नारियों में रही है। भाल पर बिन्दी, विभिन्न प्रकार के तिलक, शरीर पर छापे आदि तो धार्मिक जन भी लगाते रहते हैं। स्त्रियाँ बिन्दी तथा विवाह में बिन्दियों से भाल व कपाल रचना भी करती हैं। हाथों में भाँति-भाँति की मेहंदी लगाती है। पैरों में महावर या मेहंदी की रचना करती हैं। इनमें से चन्दन, कुंकुम आदि के चित्र अस्थायी होते हैं और मेहंदी आदि दीर्घ कालीन। पत्र रचना द्वारा शरीर को अस्थायी रूप से अलंकृत करने की प्रवृत्ति नारियों में चिरकाल से रही है, जिसके उल्लेख सौन्दरानन्द, चतुर्भङ्गी सहित प्राचीन विभिन्न ग्रन्थों में पाये जा सकते हैं। इस पत्र रचना या प्रतीकों को शरीर पर

स्थायी करने की लालसा का ही परिणाम है गुदना की परम्परा। स्वस्तिक, लता, केरी, फूल, ओम्, विभिन्न कोण, प्रिय या दृष्ट के नाम को शरीर के किसी अंग पर गुदवाने को धार्मिक भावना से भी कतिपय जातियों में जोड़ दिया गया है। शरीर का बाहरी अलंकरण तो हटाया जा सकता है, परन्तु यह अलंकरण शरीर के साथ ही रहता है। जिस प्रकार भवन बिना चित्र का मंगलकारी नहीं होता, उसी प्रकार शरीर भी बिना अलंकार का मंगलकारी नहीं होता है। अलंकार बाहरी हो तो पहना या हटाया जा सकता है। परन्तु गुदना ऐसा स्थायी अलंकरण है, जो शरीर को आजीवन अलंकृत रखता है। तब नर-नारी घर-बाहर दूर सदा मंगल ही मंगल के वाहक होते हैं। मालवा में गोदने वाले मेलों में बहुधा उपस्थित रहते हैं। तब उनके आस-पास गुदवाने वाले बालक-बालिकाओं, युवा-युवतियों का मेला लगा रहता है। कोई अपना नाम, कोई ओम्, कोई स्वस्तिक, कोई प्रिय का नाम, कोई फूल, कोई लता तथा कोई किसी अन्य प्रतीक का अपने हाथ, गाल, भुजा, पैर आदि पर अंकन करवाकर प्रसन्न होता रहता है। गालों पर तिल, कानों पर फूल, अंगुली के पोर या कन्धों पर अंगूठी, पत्तेदार बेल, कलाई पर कड़ा, मोर, साँप, मछली आदि का अंकन करवाया जाता है। स्त्री अपने से बड़े, सौत या बेटी का नाम नहीं गुदवाती है। सब साथ छोड़ दे तो छोड़ दे, परन्तु यह गुदा हुआ अंकन कभी साथ नहीं छोड़ता। शरीर का श्रृंगार है गुदना। आदिवासी भीलों में तो गुदवाने की परम्परा इस कदर बद्धमूल है कि एक लोकगीत में बेटी से आग्रह किया जाता है कि वह गुदवा ले-माथे पर बिन्दी, गाल पर दाने, कनपटी पर चिरल्या, छाती पर आम और मयूर, ठुड्डी पर दाने, हाथ-पैर पर सितारा और चौक।

*गुदावणो गुदाड़ वो लाड़की नानी
माथा पे बिन्दी अरू गाल पे दाणा
कनपटी पे चिरल्या गुदाड़ वो नानी
छाती पे मोर अरू दाढ़ी पे दाणा
हाथ पाय पे तारा ने चोक गुदाड़ वो नानी।*

भीलों में वालोर का रस लेकर बबूल के काँटे से छाबड़ी

का दाना, फूल आदि अपने तन पर गुदवाने की परम्परा है। पुरुषों की अपेक्षा नारियों में गुदवाने की ललक अधिक होती है। क्योंकि उनमें सुन्दरता की अधिक चिन्ता और आतुरता होती है।

कुम्हार अपने पात्र रंगीन रेखाओं से अलंकृत कर उन्हें आकर्षक बनाते रहते हैं। इन पर लता, रेखाओं की लहरिया, मयूर, तोता, त्रिभुज, षट्कोण आदि विभिन्न आकार होते हैं। यह कलांकन बहुधा उन परिवारों की स्त्रियाँ सधे हाथों से ऐसा करती हैं कि वे भाँत खुल जाती हैं।

भारतीय जीवन प्रायः अनुष्ठान से अनुप्राणित है। किसी उत्सव या अनुष्ठान या व्रत पर महिलाएँ चित्र बनाती हैं और उनमें से अनेक व्रत की पूर्णता के लिए होते हैं। हाथ के छापे से द्वार के दोनों बाजुओं को अलंकृत करने की परम्परा रही है। ये छापे-घर की बहू के हाथ के होते हैं। कुंकुम या एण (चावल के घोल) के ये छापे शीतला सप्तमी की पूजादि के बाद घर लौटते समय द्वार के आसपास लगाकर ही घर में प्रवेश करती हैं सधवाएँ।

दशामाता माता के दिन हल्दी के छापे लगाये जाते हैं। बच्चे के जन्म पर उसके कुंकुम के पगल्ये (पदचिन्ह) कागज पर बनाकर ननिहाल से शिशु के पिता के पास भेजे जाने की परम्परा भी है। वड़ बदरु समधी के घर जाता है या समधी जाते हैं, तो भी उनकी पीठ पर पीठी या हल्दी के छापे लगाये जाते हैं। नये रसोई घर में नये चूल्हे पर कुंकुम का स्वस्तिक बनाकर भित्ति पर हल्दी के पाँच छापे लगाये जाते हैं।

प्रत्येक मंगल अवसर पर स्वस्तिक बनाया जाता है। नागपंचमी पर सात नाग बनाकर पूजा की जाती है। नाग संबंधी अनेक गीत मालवी में हैं। यहाँ तक की लोक देवता तेजाजी की पूजा भी सर्प पूजा का ही एक रूप है।

मालवी लोक परम्परा में चित्रकला के जो विभिन्न प्रयोजनों से विविध रूप दिखाई देते हैं, वे सब लोक मानस में रची-बसी अपनी संस्कृति से समर्थ और अन्तर्निहित लगाव की ही रंग रेखाओं के माध्यम से परम्परागत अभिव्यक्ति है।

भुवाई और माच साहित्य में मालवा

डॉ. पूरन सहगल

जब हम मालवा की बात करते हैं, तब हमें मालव सम्मत की भी बात करना होगी। मालव सम्मत को आज 2068 वर्ष पूरे हुए। मालव सम्मत ही इस बात का प्रमाण है कि मालवा का अस्तित्व 2068 वर्ष पुराना तो है ही। इतिहास में, पुराणों में तथा महाकाव्यों में मालवा का उल्लेख हुआ है। यह अंचल सुखी, सम्पन्न, शांतिमय एवं वात्सल्य मय माना जाता रहा है।

मालव देस रहे घर जाँको। खेती वनिज जीविका ताँको।।

यह अंचल कृषि और व्यापार प्रधान रहा है। पानी और अन्न की यहाँ कभी कमी नहीं रही है। पड़ोसी अंचलों में अकाल पड़ने पर मालवा उन्हें माँ के आँचल की तरह आश्रय देता था। रूपमती ने भी मालवा का यशगान अपने पदों और साखियों में खूब किया है। एक साखी में वे कहती हैं-

*मालवो हिरदे बसे, मन चित्त रहे सुतेज।
रूपमती रम्मत रमें, नाभ कमल की सेज।।*

इस दार्शनिक पद में वे कहती हैं कि मालवा मेरे हृदय में बसता है। इसी कारण मेरे मन और चित्त में तेजस्विता बनी रहती है। रूपमती उसी तेजोमय स्वरूप का आनंद लेती हुई आनंदित होती हैं। रूपमती उसी तेज में लीन होकर नाभिकमल की सेज पर रमती हैं।

मालवा की प्रदर्शनकारी कलाओं का वर्णन एक भुवाई उस्ताद ऊँकार जी नायक एक साखी में करते हैं-

*अजब भुवाई नाचबो, गजब माच को खेल।
अदभत नट बेहरूपिया, जादूगर अलबेल।।*

यहाँ के कुछ प्रमुख त्योहारों के लिए एक साखी में वे कहते हैं-

*संझाबई से मांडणो, गणगोरां री झेल।
दसा मात री पूजणी, पाती बागां खेल।।*

ऐसी ही एक साखी में वे यहाँ के ग्रामीण अंचल की लोकप्रिय उपजों के बारे में कहते हैं-

*खट-मिठ बागां ईमली, झरबेरी रा बोर।
बागड़ मातिंगो घणो, इमरत मीठो गोर।।*

मालवा के बागों में इमलियाँ, जंगल में झरबेरियों में बेर। खेतों की बागड़ों पर मातिंगा खूब होता है। यहाँ का गुड़ अमृत जैसा मीठा होता है। मातिंगा को ही नागर मोथा भी कहा जाता है। यह आयुर्वेदिक औषधि है। इस तेलीय पौधे का उपयोग श्रृंगार प्रसाधनों के अतिरिक्त अनेक रोगों में किया जाता है। एक अन्य गाथा में भी इसका विशेष रूप से वर्णन किया गया है। मालवा के साथ ही मालवी का उल्लेख भी भुवाई नायक ऊँकार जी ने किया है-

*पेलां मीठी मालवी, फेर जाणजो गोर।
जाया का जाया गणू, कारजा की कोर।*

सबसे मीठी तो मालवी बोली होती है। उसके बाद गुड़ मीठा होता है। बेटे का बेटा (पौत्र) तो कलेजे का टुकड़ा होता है।

भुवाई और माच का तो जन्म ही संगीत और आध्यात्म के आधार पर हुआ है। भुवाई के आदि आचार्य श्री असाइत जी संगीत के प्रकांड विद्वान थे। इसी प्रकार माच का उद्गम स्थल चंदेरी बैजूबावरा की जन्मभूमि है। वहीं पर गोस्वामी तुकन गिरि और फकीरशाह अली के आध्यात्मिक शास्त्रार्थ के फलस्वरूप ही माच के दोनों अखाड़ों तुरा और कलंगी की स्थापना हुई। सारा शास्त्रार्थ गीतमय तथा संगीतमय था। सात दिनों तक चले उस

शास्त्रार्थ का अमृत था 'माच'। यहीं से यह परम्परा पूरे राजस्थान और मालवा में विकसित हुई। अपने-अपने अंचलों में माच के अलग-अलग स्वरूप बनते व गठित होते रहे।

तुरा का इष्ट शिव तथा कलंगी का इष्ट शक्ति स्थापित हुआ। शिव-शक्ति, पुरुष-प्रकृति का प्रतीक माच माना गया। राग-रागनियाँ और नृत्य प्रधान अभिनय, संवादों से ओतप्रोत माच तथा भुवाई मालवा की पहचान बनता चला गया। राग- रागनियों की परांगतता दोनों खेलों में आवश्यक है। राग-रागनियों की प्रतिस्पर्धा कई बार हो जाती है। भुवाई नायक ऊँकार जी ने राग-रागनियों से अनभिज्ञ व्यक्ति को फटकारते हुए कहा है-

*राग न जाणे रागणी छेड़े मेघ मल्हार।
कै तो जाणो नूगरो कै कोई मांगण हार।।*

राग-रागनियाँ जानता नहीं और मल्हार गाने की बात करता है। ऐसा व्यक्ति या तो नुगरा है या मंगता है। माच और भुवाई मालवा की प्रदर्शनकारी कलाओं में सर्वोपरि स्थान रखते हैं। दोनों ही काव्यमय और अभिनय प्रधान नाट्य प्रस्तुतियाँ हैं। इधर दशपुर अंचल से लगे राजस्थान तथा दक्षिण में निमाड़ अंचल में भी माच और भुवाई के खेल खूब खेले जाते रहे हैं। माच और भुवाई में संगीतमय अभिनय के साथ नृत्य भी सुसंगति करता है। राजस्थान में तो भुवाई नृत्य की पृथक से लोक परम्परा भी रही है। आज भी बरकरार है। भुवाई लोकसाध्य नाट्य-नृत्य कला है। इस समाज की इष्ट देवी सीतला माता हैं।

मालवा में भुवाई के घराने, जिन्हें नायक कहा जाता है, अपने-अपने आसामियों के आमंत्रण पर भुवाई के खेल जमाते हैं। इसे भुवाई नचाना कहा जाता है। भुवाई नायक सीतला माता का साधक होता है। आसामियों में उसका मान-सम्मान खूब होता चला आ रहा है। वे बालकों व अन्य आयु वर्ग की सीतला माता के कोप से रक्षा करने के लिए माता से प्रार्थना करते हैं। मूल भुवाई पाटीदार समाज की मानी जाती हैं। बाद में सामाजिक कारणों से अन्य समाजों ने भी अपनी-अपनी भुवाईयाँ गठित की, जो अब एक स्वतंत्र जाति का रूप ले चुकी है। माच और भुवाई के नायक काव्य मर्मज्ञ एवं काव्य सर्जक होते हैं।

मालवा में माच का आगमन निकटवर्ती राजस्थान से हुआ

माना जाता है। इसका उद्गम चंदेरी में हुआ। दशपुर अंचल में नीमच, मनासा, जावद, सिंगोली, रतनगढ़ और पड़दां माच के मुख्य केन्द्र रहे हैं।

माच के खेलों की सुसंस्कृत एवं सुदीर्घ परम्परा रही है। जब भी कोई माच दल कहीं माच का खेल खेलने जाता था, वहाँ माच का उस्ताद सबसे पहले मंच पर आकर अपने देस (देश की अवधारणा तब राज्य तक ही सीमित थी) तथा अपने गाँव का वर्णन करता था। कौन से नाट्य का खेल होगा, यह भी बतलाता था। अपने उस्ताद, माच के प्रकार (तुरा या कलंगी अखाड़े) का हवाला देकर अपना परिचय देता था और फिर राम-सलाम कहकर नगर-ग्राम की खुशहाली और अमन-चैन की शुभकामना व्यक्त करता था। इस परिचय में कई बार बहुत ही महत्वपूर्ण वर्णन वह करता था- पड़दां गाँव तुरा अखाड़ा परंपरा का महत्वपूर्ण केन्द्र रहा है। यहाँ के उस्ताद लक्ष्मण गिरि गोस्वामी ने अनेक खेलों की रचना की। उनकी ख्याति दूर-दूर तक फैल चुकी थी। राजस्थान में दूर-दूर के नगर शहरों में वे माच का खेल करने जाते थे। उनका समय लगभग 150 वर्ष पूर्व माना जाता है। गोस्वामी परिवार यहाँ राजस्थान से आकर बसा। ऐसी मान्यता है कि पड़दां को इन्हीं गोस्वामियों ने दोबारा बसाया। इससे पहले यह 'पड़त खेड़ा' अर्थात् खंडहरों का गाँव कहलाता था। संवत् 1483 विक्रमी में इनके मूल पुरुष रामेश्वर गिरी को महाराणा लाखा के समय में मठ की जमीन व पूजा का पट्टा प्रदान किया गया था। इससे इनके परिवारों का पड़दां आना सिद्ध हो जाता है। इन्हीं गोस्वामी के वंशजों में कई विद्वान हुए। दौलत गिरि गोस्वामी तंत्रशास्त्र और मोड़ी लिपि के विद्वान हुए। इन्होंने संस्कृत ग्रंथों का मोड़ी लिपि में अनुवाद किया। इसी परंपरा में लक्ष्मण गिरि गोस्वामी हुए तथा इसी वंश में एकलिंग जी गिरि गोस्वामी हुए। एकलिंग जी भी संस्कृत और तंत्रशास्त्र के विद्वान थे। वे कुशल कवि भी थे। मैंने शोध के दौरान उनके संग्रह में एक लकड़ी की बड़ी संदूक में अनेक हस्तलिखित पोथियाँ देखीं। सभी नष्ट हो गईं। वर्तमान पीढ़ी ने उन्हें सम्हाल कर नहीं रखा।

लक्ष्मण गिरि जी महाराज ने अनेक खेलों की रचना की। एकलिंग जी के संग्रह में से माच के सम्बंध में तीन वखाण एकत्र किए थे। प्रथम वे जब निम्बाहेड़ा राजस्थान में माच खेलने गए थे तब उन्होंने पड़दां का व स्वयं का परिचय दिया था। दूसरा उनके

शिष्य नोबत गिरि गोस्वामी द्वारा चौकड़ी ग्राम कजाड़ा पठार पर खेल किया तथा तीसरा नागोर राजस्थान में माच का खेल रचाया। तब जो उन्होंने मालवा का, अपने गाँव का व अपना परिचय दिया, यह परिचय मालवा और दशपुर अंचल का अद्भुत यशोगान है। इतना सहज परिचय अन्यत्र नहीं मिलता। इस परिचय में मालवा व विशेष रूप से दशपुर जनपद का भूगोल, इतिहास, संस्कृति एवं लोकाचार का परिचय लक्ष्मण गिरि ने अत्यंत सधे हुए शब्दों में दिया है। इसी प्रकार मालवा की आर्थिक स्थिति का भी वर्णन किया है।

पड़दां के वखाण में 24 साखियाँ हैं। वे प्रारंभ करते हुए कहते हैं -

दसपर अर दस बावड़ी, कँवलां भरो तराब।
दूध धुल्या बगुला तिरै, सतरंगा सुरखाब।
पार घाट मंदिर घणा, शीतल छायांदार।
धूल कोट मगरो धुवे, चारी दसा दुआर।।

पड़दां में दस बावड़ियाँ हैं, कँवलों से भरा तालाब है। उस तालाब में दूध के समान सफेद बगुले तैरते हैं और सतरंगे सुरखाब तैरते हैं। तालाब की पाल पर घाट बने हैं। मंदिर बने हैं, शीतल छायादार वृक्ष लगे हैं। गाँव के चारों ओर धूलकोट बना है। चार द्वार हैं। यह दसपुरों का शहर है। यह पड़दां है।

आगे के बावीस पदों में पड़दां के इतिहास, भूगोल के अलावा वहाँ की रहन-सहन, खान-पान, ठाठ-ठप्पा, सहधर्मिता और सहनशीलता का अद्भुत वर्णन है।

लक्ष्मण गिरि उस्ताद की नागोर वाली प्रशस्ति में दशपुर जनपद का तथा फिर समग्र मालवा का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार का वर्णन 'धरमधणी देवनारायण' की गाथा में भी सादूमाता द्वारा किया गया है। एक और वखाण परथा भील का मिलता है, जिसमें परथा भील ने मालवा की यश गाथा बखानी है। परथा भील की यशगाथा पढ़कर लगता है कि वह गाथा धरमधणी देवनारायण में सादूमाता द्वारा वखाने गए वर्णन का ही शेष भाग है, जो सम्भवतः मेरे संग्रह से छूट गया। धरमधणी देवनारायण की गाथा भी भीलों के लोक साहित्य की ही परंपरागत गाथा है। उसका एक सर्जक एक भील है। निश्चित ही वह 'परथा भील'

ही था। जैसाकि मोहनलाल भुवाई नायक का भी मानना है। जैसा कि मैंने पहले भी कहा है, माचकारों ने अपनी पोथियों में इस प्रकार के वर्णन किए हैं, जिनसे अनेक नगरों की विशेषताओं की जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

मालवा की चर्चा करते समय हमें ईश्वर संहिता के 35 वें अध्याय के श्लोक की स्मृति आ जाती है जिसमें कहा गया है-

सर्वदेशे भूषिता मालवीयै, सर्वेविज्ञा भूषिता मालवीयै।
सर्वधर्म आश्रिता मालवीयैः सर्वे विद्या आश्रिता मालवीयै ॥

इससे बड़ी प्रशंसा किसी अंचल की नहीं हो सकती। पृथ्वी पर यह मालवदेश महान है। इसकी महनीयता स्तुत्य है-

‘महि महति मालव देस!’

माच के मर्मज्ञ विद्वान सिद्धेश्वर सेन ने भी अपनी साखी में यही भाव प्रकट करते हुए कहा है-

मोती की मानवार मालवो ममता भयों टिपारो।
धन-धन या मालव की धरती, धन हे मनक जमारो ॥

लोक इसी बात की पुष्टि करता हुआ कहता है-

ज्युं जामण रो अंचरो, त्युं मालव री भोम।
अमन-चमन सुख भोगती वसे अठे सब कोम ॥

ये पंक्तियाँ भी मनासा में खेले गए एक माच का ही अंश भाग हैं। तुरा अखाड़ा के उस्ताद श्री शंकर लाल जी मांडेश्वर ने मनासा के यश बखान में कही थीं। शेष वखाण उपलब्ध नहीं है। संत कवि सुंदरदास ने भी मालवा के विषय में एक साखी में कहा है-

वृच्छ अनंत सुनीर, वहंत सु सुंदर संत विराजै तहीं तें।
नित्य सुकाल पड़ै न अकाल, सुमालव देस भलो सबहीं तें ॥

कबीर जी ने तो -

मालव माटी गहन गम्भीर, पग-पग रोटी डग-डग नीर।
कहकर अपनी प्रमाणिकता की छाप लगा दी है।

परथा भील की यशगाथा 14 साखियों की है। वह भी यही कहता है-

हरियालो घण लातो, रेवे सदां सुकाल।
वका पड़याँ आजो अठे, मालव देस सुखाल ॥

यदि इसे मैं देवनारायण वाली गाथा का अंश नहीं मानूँ तो श्री नारायण जी सेन और भूरा महाराज के कथनानुसार यह वखाण माच की प्रस्तुति का ही भाग है। इसकी प्रथम पंक्तियाँ जो भी हों, किन्तु अंतिम पंक्तियाँ ‘हरियालो घण मालवो’ हैं।

परथा की 14 वीं पंक्ति में भुवाई खेल का उल्लेख है। इस कारण यह यशगाथा परथा भील द्वारा माच की परम्परा का निर्वाह करते हुए भुवाई के खेल के आरम्भ में कही, ऐसा अधिक सही लगता है। जहाँ से मुझे ये पंक्तियाँ उपलब्ध हुई हैं, उस घराने से धरमधणी देवनारायण की सम्पूर्ण गाथा भी उपलब्ध हुई है। श्री मोहनलाल जी, ओंकारलाल जी नायक भुवाई ने ये पंक्तियाँ देवनारायण पुस्तक प्रकाशित होने के बाद सुनाई। इस कारण देवनारायण में इनको संग्रहीत नहीं किया गया। भुवाई खेल का ही भाग हो सकती है। जैसाकि यह वखाण भी कहता है-

हरियालो घण मालवो, रेवे सदां सुकाल।
वका पड़याँ आजो अठे, मालव देस सुखाल ॥

गामो-गाम बावडियाँ, खेड़े-खेड़े ताल।
कुआँ खुदया हे मोकरो, मालवा देस खुसाल ॥

सब रितुआं सरसे अठे, मोसम सदां सुहाल।
वरसालो भरपूर वे, धरती मात निहाल ॥

अन्न घणों अर धन घणों, नेम धरम री चाल।
भरयोड़ा रे वे सदां, कुआँ बावडी ताल ॥

तेवारो रो देसडो, उच्छव पूरा साल।

वरदायी माता सदां, रच्छक हे माकाल ॥

दूध दही ममणा भर्या, कराकंद रा थाल।

दोजो तो घर-घर अठे, मालव देस खुसाल ॥

लाडूबाटी, चूरमो तीखी तूहर दाल।

छाछ मक्का री राबडी, मनडो करे खुसाल ॥

जवार हे माता अठे, खूब नीपजे माल।

मालव माँ रो अंचरो, नी आवण दे आल ॥

कोट्यां भरी अनाज री, नहीं अन्न रो काल।

कघां पांवणा आवजो, मालव देस खुसाल ॥

आयां हरसे हीवडो, जिवडो होय निहाल।

देव अठे सद पाँवणा, मालव देस खुसाल ॥
मालव देस सुवासणो, सरगा करे सुवाल ।
इन्दर आ लुर-लुर नमे, राखे सदां सुकाल ॥
गाम-गाम खेलो करां, नाचां देसां देस ।
सदा भवानी दाहिने, सम्मुख रहे गणेस ॥
धीरा रेह ने देखजो, करां भुवाई खेल ।
धार देखजो तेल की, मती देखतो तेल ॥
परथा री या वीनती, हिंगलाजां अरदास ।
सदां भरोसे सीतला, जजमाना री आस ॥

मालव देस खूब हरा-भरा है। यहाँ सदा सुकाल रहता है। मालवा में गाँव-गाँव बावड़ियाँ और खेड़े-खेड़े में तालाब हैं। इसी कारण मालव देस खुशहाल है। यहाँ सभी ऋतुएँ पूरे भाव से होती हैं। यहाँ का मौसम सदा सुहाना रहता है। वर्षा भरपूर होती है। धरती माता सदा हुल्लसित रहती हैं। यहाँ अन्न और धन खूब होता है। सभी लोग धर्म और नियम का आचरण करते हैं। यहाँ के कुँए, बावड़ियाँ, तालाब सदा जलपूरित रहते हैं। यह त्योहारों का देश है। उत्सव तो यहाँ वर्ष भर चलते हैं। माँ भगवती का इस देश को वरदहस्त प्राप्त है। स्वयं महाकाल इसके रक्षक हैं। दूध और दही के यहाँ कलश भरे रहते हैं। दूध से बनने वाले कलाकंद के थाल सजे रहते हैं। दूध तो हर घर में उपलब्ध रहता है। यह मालवदेस सदा खुशाल रहता है।

लड्डूबाटी और चूरमे का भोजन, साथ में तूअर की मसालेदार दाल तथा छाछ मक्का की घाट का आनंद मन को सुखी कर देता है। ज्वार यहाँ का प्रमुख अनाज है। यह मालवा में खूब होती है। इसे ज्वार माता कहा जाता है। यह माता की तरह सबका पालन करती है। किसी को भी कष्ट में नहीं आने देती। अनाज की यहाँ कोठियाँ भरी रहती हैं। अन्न की तो कमी है ही नहीं। आप कभी हमारे देश मालवा में मेहमान बनकर अवश्व आना। आपके पधारने से हमारा मन हर्षित होगा और जीव सुख पाएगा। यहाँ तो देवता भी अतिथि बनकर आते हैं। मेरा मालवा स्वर्ग से होड़ करता है। स्वयं इन्द्रदेवता यहाँ आकर, झुक-झुककर इसका वंदन करता है। कभी अकाल नहीं आने देता। सदा सुकाल रखता है।

हम अपनी भुवाई मंडली लेकर गाँव-गाँव खेल करते

और नाचते हैं। माता भवानी सदा दाहिने रहती हैं। गणपति सदा सम्मुख रहते हैं। आप धैर्य रखकर हमारा खेल देखना। हम आपके गाँव में भुवाई का खेल करने आए हैं। हमें भले ही मत सराहना। हमारे खेल की अवश्य सराहना करना। परथा की यह विनती है। परथा माता हिंगलाज से अपनी अरदास करता है। हमें माता सीतला का भरोसा है और यजमानों की आशा है। आप हमारा मान रखना।

लक्ष्मण गिरि उस्ताद ने अपने नागौर राजस्थान में खेले गए खेल के समय मालवा का जो परिचय दिया, वह इस प्रकार है-

मालव देस दसपुरो

सीस मुकुट हे अरवली, चरणा विंध्य पठार ।
चम्बल सिवना सीपरा, गरे मोतियन हार ॥
हाड़ोती हे उगमणे, आतमणे मेवार ।
लंकाऊ में निरमली, कल-कल रेवा धार ॥
नागर मोथा की अटे, खेतां पे कठवार ।
खेतां में घण नीपजे, मिठ रस भर्यो वाड़ ॥
मेढां मेहके केवड़ा, अणगण चम्पा बाग ।
आम्बा बागां कोयली, गावे पंचम राग ॥
बागां मेहके केतकी, दूरां उड़े सुवास ।
घर-घर फूले मोगरा, तीखी मरवा वास ॥
मज्ज आंगणा बीच में, सुभतुलसां को चौर ।
संज पड़याँ की आरती, जल को सिंचन भोर ॥
यो दसपुर्यो मालवो, नेम धरम को देस ।
सादो भोजन जीमणो, सादो पेहरण वेस ॥
छुन्नू आंगर मालवी, लट्ट खास हथिहार ।
गो जाया ज्युं भोरका, कोप्याँ गजब डकार ॥
ऊजरदंती पातरी, लाम्बा भम्मर केस ।
आखाँ तीर कमाण ज्युं, कामणगारो वेस ॥
नखरारी घण जाणजो, पण सतवंती नार ।
नीच नजर देखे कोई, आखाँ फूटे झार ॥
रित वसंत ज्युं सोवणी, गजबण कामणगार ।
आंगण मांडे मांडणा, तन सोला सिंगणार ॥
भंवरा हद भूले पड़े, रस पीवण री आस ।
गुज गुंजन करता फरे, पदमण उड़े सुवास ॥

कामणगारी मालव्याँ, केसर मेहके वास ।
 काम पिआसी हे घणी, पीव मिलण री आस ॥
 सतवंती पत राखणी, पति पत राखण हार ।
 घर आंगण हुलसी फरें, जाणे खिंडी बहार ॥
 थें चेतन्या रेवजो, मति कर लीजो रोर ।
 हे सुभाव मुलकावणो, रीस घणी घनघोर ॥
 मीठी बोली दसपुरी, खूब करे मनवार ।
 मीठा लाडू चूरमो, बाटी तूहर दार ॥
 जेसो जाण्यो दसपुरयो, वेसोई मारव देस ।
 दसपुर डावें राखतां, करजो अवस प्रवेस ॥
 अन्न पाणी हे मोकरो, जाण्यो नहीं अकाल ।
 थें विसवासा आवजो, मारव सदा सुकाल ॥
 माच भुवाई रा अटे, वेवे खूब खयाल ।
 राग-रागणिया सूनजो, सुणजो अजबी ताल ॥
 ट्रेस ईरसा छल नहीं, ना कोई करे करेस ।
 एसो देवत दरसनो, म्हारो मारव देस ॥
 आया थांका देस में, करां माच रो खेल ।
 मंच बणायो चौगटे, बीच बजारां मेल ॥
 नाम अजब हे गाम को, ना सक्कर ना गोर ।
 पण मीठो वेवार हे, नाम खरो 'नागोर' ॥
 नागोरी बल मालवे, खूब घणा मसहूर ।
 हामद गाडी में फबे, डील घणो भरपूर ॥
 खेल माच रो देखजो, करजो मती बवाल ।
 हरीचंद-तारा मती, अर सोनी महवाल ॥
 देस मालवो सुगमणो, जण में म्हांको गाम ।
 घणो सुमेलो हे वटे, लोह पट्टण हे नाम ॥
 आजो म्हांका देस में, खूब करां मनवार ।
 घी-गच्च बाटी चूरमो, अर तूहर री ढार ॥
 नींबू एक निचोड़जो, आवे घणो सुआद ।
 कुंड गढया मा देव को, वटे करां परसाद ॥
 मीणच वेतां आवजो, कै दक्खणये दुआर ।
 आयां ती सुख मीलसी, करसां घण मनवार ॥
 राम सलामी झेलजो, रइजो खूब खुसाल ।
 लच्छमण गिर तो नाम हे, करां माच रो खयाल ॥
 लच्छमण गिर हे नाम, गाम पड़दां रो वासी ।
 पट्टण पड़दां नाम, जाणजो काबो कासी ॥

'मारव देस दसपुरो' का उच्चारण सुनते ही जो पहला अर्थ समझ में आता है, वह यह कि 'दशपुर ही मालव देश है।' यदि गाथाकार का यही अर्थ सच है, तब उसने पहली और दूसरी साखी में जैसा चित्रण मालवा का किया है, वह दशपुर से शुरू करके मालवा को नर्मदा तक ले जाता है। इसलिए इसे दशपुर तक सीमित नहीं रखा जाना चाहिए। यह स्वाभाविक था कि जब दशपुर का कोई रचनाकार अपने परिचय और अपने अंचल का परिचय देगा, तो उसके मन-मस्तिष्क में उसका परिवेश ही सामने होगा। इसीलिए पूरे विवरण में दशपुर की यशावली बार-बार उभर कर आती है। तीसरी साखी में जिस नागर मोथा की बात रचनाकार लक्ष्मण गिरि ने कही है, वह दशपुर के ही संदर्भ में सही लगती है। इस पूरे अंचल में एक समय चम्बल के उस पार और इस पार नागर मोथा ही नागर मोथा दिखलाई देता था। खेतों की मेढ़ों पर नागर मोथा की बागड़ (कठवाड़) लगाई जाती थी। इसी प्रकार सरकंडों की बागड़ लगाई जाती थी। कालिदास, वत्स भट्टी, राजशेखर आदि ने मालवा का बखान अपने-अपने साहित्य में खूब किया है। किन्तु जैसा बखान लक्ष्मण गिरि और परथा भील ने किया है, वह अद्भुत है।

यदि हम लक्ष्मण गिरि की इस गाथा को ठीक-ठीक समझने की कोशिश करें, तो हमें चकित हो जाना पड़ेगा। यह जानकर कि बहुश्रुत माच कवि लक्ष्मण गिरि जी जैसा वर्णन दशपुर अंचल और समग्र मालव अंचल का किया है, वह अद्भुत है। ऐसा लगता है मानो स्वयं कालिदास माच कवि के मुख से ये मालव वर्णन करवा रहे हों। लोक आधार पर यदि भरोसा करें, तो हमें विश्वास करना पड़ेगा कि कालिदास इसी दशपुर अंचल में प्रवाहित चर्मवती (चंबल) तट के ही रहने वाले थे। वैसे यह धारणा अभी शोध का विषय ही है।

लक्ष्मण गिरि कहते हैं- अरावली जिसके शीश का मुकुट है, चरणों में विध्य का पठार है। जिसके गले में चम्बल, शिवना, शिप्रा मोतियों के हार के समान सुशोभित हैं। जिसके पूर्व में हाड़ौती, पश्चिम में मेवाड़ और दक्षिण में निर्मल रेवा (नर्मदा) की धारा प्रवाहित हो रही है।

नागमोथा जहाँ खेतों की मेढ़ों पर कठवाड़ की तरह लगाया जाता है तथा खेतों में खूब रसभरा मीठा वाड़ (गन्ना) उगाया जाता है। मेढ़ों पर केवड़ा महकता है। जहाँ अनगिनत चम्पा-बाग है

तथा जहाँ आम के बागों में कोयल पंचम राग में गाती रहती है। बागों में जहाँ केतकी महकती रहती है, जिसकी सुगंध दूर-दूर तक उड़ती रहती है। घरों में केवड़ा फूलता है व आँगन से मरवा की गंध सब तरफ सुवासित होती है। (कहते हैं इस मरवा की गंध से साँप घर में प्रवेश नहीं करता)।

आँगन के बीचों बीच शुभदायी तुलसी का चौरा होता है। संध्या समय वहाँ आरती होती है तथा भोर में जल सींचा जाता है। यह दशपुर मालवा है। नीति-नियम और धर्म का देश है। यहाँ सादा भोजन और सादा पहनावा है। यहाँ के मालवियों की लम्बी कद काठी होती है। उनकी लम्बाई छियान्वे अंगुल होती है। और उनका हथियार लट्ठ है। मालवगणों की भी यही पहचान बताई गई है। (मालवगण चित्तौड़ के निकट माध्यमिका (नगरी) से प्रस्थित होकर दशपुर अंचल में प्रविष्ट हुए थे।)

यहाँ के निवासी गाय के बछड़े की तरह भोले हैं, किन्तु यदि कुपित हो जायें तो सांड की तरह डकारते हैं।

यहाँ की स्त्रियाँ उजले चमकीले सुंदर दाँतों वाली होती हैं। पतली लम्बी और कोमल होती हैं। इनके केश लम्बे, रेशम जैसे और भँवरे जैसे काले होते हैं। आँखें तीर कमान जैसी तीखी होती हैं। पहनावा भड़कीला और कामोदीप्त होता है। ये बहुत नखरे वाली किन्तु सतवंती होती हैं। अगर कोई इनपर कुदृष्टि डाल दे, तब इनकी आँखों से आग बरसने लगती है।

मालवा की स्त्रियाँ बसंत ऋतु जैसी सुहानी और गजब की कामोत्तेजक होती हैं। वे आँगन में प्रतिदिन मांडने मांडती हैं और तन पर सोलह सिंगार सजाती हैं।

भँवरे उनकी सुंदर पद्मण जैसी छवि देखकर तथा सुगंध का आभास पाकर भ्रमित हो जाते हैं और रस पीने के लिए इनके आसपास गुन-गुन का गुंजार करते हुए चक्कर लगाते रहते हैं।

ये अपने आँगन में उल्लास के साथ रहती हैं। ऐसा लगता है जैसे बसंत की बहार छा गई हो। उन्हें देखकर तुम बहुत संयमित और सावधान रहना। उनसे छेड़खानी मत कर बैठना, वैसे तो उनका स्वभाव बहुत मुलकावणा (प्रसन्न वदन) रहने का है, किन्तु उनका क्रोध बहुत घनघोर है।

दशपुरी बोली बहुत मीठी है, यहाँ मनुहार खूब की जाती है। यहाँ के प्रसिद्ध और खास भोजन लड्डू-बाटी, चूरमा और तुअर की दाल है।

जैसे आपने दशपुर को जाना है, वैसा ही पूरा मालवदेश है। आप मालवा में आओ तो दशपुर को बायें रखकर प्रविष्ट होना। यहाँ अन्न और पानी की कोई कमी नहीं है। इस अंचल ने अकाल नहीं देखा। आप पूरे विश्वास के साथ यहाँ आना। यहाँ सदा सुकाल रहता है।

यहाँ माच और भुवाई के खूब खेल होते हैं। आप यहाँ आकर इन खेलों का आनंद लेना। खूब राग-रागनियाँ सुनना और उनके साथ संगीत की अजब ताल संगत का आनंद लेना। यहाँ आपका खूब मनोरंजन होगा।

यहाँ द्वेष, ईर्ष्या, छल, कलेश नहीं होता। ऐसा है मेरा स्वर्ग के दर्शन जैसा मालव देश।

हम आपके देश में माच का खेल करने आए हैं। बीच-चौराहे हमने मंच स्थापित किया है। आपके गाँव का नाम भी बड़ा विचित्र है, 'नागोर'। न तो यह शक्कर है न गुड़। लेकिन यहाँ का व्यवहार बहुत मीठा है। भले ही गाँव नाम नागोर (ना+गोर=गुड़ नहीं) है। आपके यहाँ के नागोरी बैल हमारे मालवा में बहुत प्रसिद्ध हैं। गाड़ी और सामद में वे खूब जँचते हैं। नागोरी बैल खूब सुंदर कद काठी के तथा बलिष्ठ होते हैं।

आप शांतिपूर्वक माच का खेल देखना। बवाल मत करना। हम हरिश्चन्द्र-तारामती और सोनी महवाल का खेल खेलेंगे।

मालव देश बहुत सुगमणा (सुंदर) है। उसी में हमारा गाँव है। हमारे गाँव में खूब सुमेल (भाईचारा) है। हमारे गाँव का नाम लोहपट्टण है। हमारे गाँव में आना। आपकी खूब मनुहार होगी। घी में खूब तरबतर बाटी, चूरमा और तुअर दाल खूब मसालेदार आपको परोसेंगे। दाल में थोड़ा नींबू का रस निचोड़ लेना, खूब स्वाद आएगा।

हमारे यहाँ गढ़या महादेव का कुंड स्थान है। वहाँ प्रतिदिन भोजन प्रसाद बनाएँगे। आप आओ तो मीणच (नीमच) होते हुए आना या फिर दक्खण्ये द्वार (डिकेन) होते हुए आना। आपके

आने को हम शुभ मानेंगे, हमें सुख मिलेगा। हम आपकी खूब मनुहार करेंगे। आप आज हमारी राम सलामी स्वीकार करो। खूब सुखी रहो। ऐसी हमारी शुभ कामनाएँ हैं।

मेरा नाम लक्ष्मण गिरि है। यहाँ माच का खेल करने आए हैं। हम पड़दां के निवासी हैं। मेरा गाँव लोहपट्टण है। वह काबा और काशी जैसा पवित्र तीर्थ है।

माच और भुवाई लोक साहित्य में जितना और जैसा उत्कृष्ट एवं गरिमामय वर्णन मालवा का किया गया है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। ऐसा ही वर्णन माच के भरतरी के खेल में भरतरी ने स्वयं का परिचय देते समय मालवा का भी वर्णन किया है—

यो हे म्हारो देस मालवो, मइमां यां की मोटी।
जंगल-मंगल में मंगल, पग-पग पर पाणी रोटी।
मन का भोला लोग बसे यां, बात करे नी खोरी।
भील भिलाला बन का वासी, पेरे एक लंगोटी।
मक्का का टापू खई-खई ने छाछ पीवे दो लोटी।
कंचन जैसी धरती दीखे फड़के बोटी -बोटी॥

ऐसा ही वर्णन माच और भुवाई के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए भुवाई नायक ऊँकार जी ने किया है—

भुवाई को कई केवणो, कई माच को जोड़।
ढारा-ढारी भाणियां, नहीं अणा को तोड़।
छत्तीसगढ़ को नाचबो, बुदेलां की राई।

ख्यालो राजस्थान को, हगरा हाई धाई॥

तम्मासो मारास्ट्र को, गम्मत की कई वात।
मालवा की गम्मत चाले, कर दे आधी रात॥
अपणो-अपणो माजणो, अपणो-अपणो मोल।
माच भुवाई अजबणी, हे दोई अणमोल॥

भुवाई का तो क्या कहना? माच की क्या बराबरी? ढारा-ढारी, भाण ये दोनों माच और भुवाई की बराबरी नहीं कर सकते। इसी प्रकार छत्तीसगढ़ का नाचा, बुंदेलखंड का राई, राजस्थान का ख्याल ये सभी लगभग एक श्रेणी के हैं। महाराष्ट्र का तमाशा, मालवा की गम्मत ये सभी आधी रात तक चलते हैं। सबका अपना-अपना स्थान और अस्तित्व है। सबका अपना -अपना मूल्य है, लेकिन माच और भुवाई दोनों तो अनमोल हैं।

माच और भुवाई साहित्य का संकलन और संपादन उनमें निहित लोक जीवन तथा लोक संस्कृति के ऐसे अनछुए प्रसंग हैं, जिनका अनुशीलन होना अभी भी शेष है। जितना हुआ है वह अत्यल्प मानना चाहिए।

अभी तक भी माच साहित्य में उपलब्ध राष्ट्रीय, नैतिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक, सामाजिक तथा राजनैतिक संदर्भों पर विवेचना का मन शोधार्थी नहीं बना पाए हैं। ऐसा ही भुवाई साहित्य के विषय में भी कहना होगा। शोधार्थियों व शोध निदेशकों से इतनी आशा तो रखी ही जा सकती है।

बुन्देली गीतों में वात्सल्य

डॉ. हरीमोहन पुरवार

ब्रह्मा, विष्णु और महेश त्रिदेव को बालरूप में अपने आँचल का दुलार देने वाली महासती अनुसुइया के परम पुनीत आश्रम को अपने अंक (चित्रकूट) में समेटे यह निर्मल बुन्देल भूमि मातृ स्नेह से स्निग्ध हो, समग्र समाज को वात्सल्य से अभिभूत करती है, और करती रहेगी। यह बुन्देलखण्ड भक्ति और प्रेम की अविर्ल रसधारा प्रवाहित करने वाली अनुपम दिव्य भूमि है, जहाँ देवों ने कर्म का मार्ग अपनाते हुये अपनी साधना को सिद्ध किया है। फिर इस भूमि पर तो माँ और पुत्र के निश्छल, निस्वार्थ वात्सल्य भाव का साक्षात् अवतरण हुआ है।

वात्सल्य भाव का आलम्बन माँ और पुत्र हैं। इसका उद्दीपन विभाव माता तथा पुत्र के प्रेम की क्रियाएँ हैं। भगवान श्रीराम अपनी माता के साथ शैय्या पर लेटे हैं। माता कौशल्या एवं बाल भगवान श्री राम की वात्सल्य रस से भरी क्रियायों का वर्णन हमें इस प्रकार मिलता है—

मातुः पार्श्वे चरन्तं मण्मियशयने मन्जुभूषाचितागं
मन्दं मन्दं पिबन्तं मुकुलित नयनं स्तन्यमन्यस्तनाग्रम् ।
अंगुल्यग्रैः स्पृशन्तं सुख परवशया सस्मितालिगितांग
गाढं गाढं जनन्या कलयतु हृदयं मामकं रामबालम् ॥

अस्तु भगवान श्रीरामलला मणिमयी शैय्या पर माता के पास इधर-उधर सरक रहे हैं। उनका प्रत्येक अंग सुंदर आभूषणों से विभूषित है, वे अधखुले नेत्रों से देखते हुये माता के एक स्तन का दूध धीरे-धीरे पी रहे हैं और दूसरे स्तन के अग्रभाग को अंगुलियों से स्पर्श कर रहे हैं। माता कौशल्या आनंद विभोर होकर मंद-मंद मुस्कराती हुई अपने लाड़ले लाल को खूब कसकर छाती से चिपका लेती हैं।

इस वात्सल्य भाव के अनुभाव में उपर्युक्तानुसार सम्पूर्ण शरीर की स्नेह युक्त चेष्टाएँ सम्मिलित हैं। इस भाव का स्थायी भाव पुत्र प्रेम की उत्कट अभिलाषा है। इसी कारण जब कोई स्त्री गर्भवती होती है, तब पुत्र अथवा पुत्री प्रेम के लिये उसका हृदय आनंद से भरा रहता है और उसके इसी मातृ पद प्राप्त करने के आनंद का वर्णन करते हुये बुन्देलखण्ड में गाया जाता है-

कौना के अंगना जिमरिया लहर-लहर होवे
महर-महर आवे वास तो नींद नई आइयो
कौना की नार गरभ से मधुरियन पग धरै रे
ललन-ललन कहै, होरल-होरल कहै
ससुरा के अंगना जिमरिया लहर-लहर होय
महर महर आवें वास नींद नई आइयो
जेठा की नार गरभ से मधुरियन पग धरै रे
भोर भये भुनसारे भौजी मोरी अनमनी
ननदी छम-छम उतरी अटरियों पूंछन लगीं
भौजी तुमरी काहो पिराय काहो दूखत है
बैया वीरन खों देव बुलाय पेट मोरो दूखत है
मोरे राजा कचेरी से आयें तुम्हारो का दूखे री
सिर मोरो दूखे, कमर मोरी टूटे
राजा आई करेजे पीर, सुगर दाई चाहत हों।।

कारागार में बंद अपनी बहिन देवकी के पास मथुरा का राजा कंस पहुँचता है और अपनी बहिन देवकी की गोद में लेटी हुई कन्या का वध करने के लिये उसे झपटकर छीन लेता है, तो माँ का हृदय चीत्कार करने लगता है और एक माँ अपनी पुत्री के वधकर्ता के समक्ष अनुनय-विनय करते हुये कहती है-

जिन मारो विरन हजारी जू
छोड़ो सुता हमारी जू।
कहे देवकी सुन ले भइया
खाली गोद हमारी जू।।

इधर नंदगाँव में भगवान श्रीकृष्ण पालने में पड़े हैं। उनकी अनुपम माधुर्यमयी छवि को किसी की नजर लग गई और वे रुदन करने लगे। माँ का हृदय पुत्र के रुदन से भाव विह्वल हो जाता है, तब माता यशोदा राई- नमक से नजर उतारती हैं और नजर उतरने के बाद जब नंदलाल खेलने लगते हैं, तो माँ भी आनंदमग्न हो उठती है और बुन्देलखण्ड में स्त्रियों का कोकिला स्वर गुंजायमान हो उठता है-

झुला दे मैया श्याम परे पलना
काहू गुजरिया की नजर लगी है
सो रोऊत है ललना
झुला दे मैया श्याम परे पलना
राई नोन उसारो जसोदा खुसी भये ललना
जो मोरे ललना खों पलना झुलाहै
दैहों जड़ाऊ ककना।
झुला दे मैया श्याम परे पलना

झूले में झूलते हुए अपने पुत्र के सो जाने की कामना करती है माँ, परन्तु माँ के मन में यह चिंता रहती है कि जब मेरा लाड़ला सोकर उठेगा, तब उसे भूख लगेगी और बस माँ अपने लाड़ले की भूख शांत करने के लिये गर्म-गर्म दूध चावल की खीर बनाती है। उसे इस बात से हार्दिक संतोष होता है कि जब उसका बेटा सोकर उठेगा, तब बड़े ही चाव से अपनी माँ की बनाई खीर खाकर प्रसन्न हो जायेगा।

तू तो सो जा वारे वीर
वीर की बलैयां लैहों जमुना के तीर
वर से बांधो पालनो, पीपर से बांधी डोर
आऊत जातन झौंका देऊं कबऊ नै टूटे डोर
ताती ताती खीर बनाई ऊ में डारो घी
दो कौर खाले भैया ठंडो परजा जी

माँ अपने पुत्र के प्रेम में दीवानी रहती है। यदि पुत्र को थोड़ा सा भी कष्ट होता है तो माँ को और भी ज्यादा दुख होता है। इसी कारण तो माँ अपने बेटे की आँखों की लाली को देखकर कहती है-

नैनन में लाली कैसी छाई कन्हैया, तेरे नैनन में लाली कैसे छाई
कौना के अंगना में तुलसी को बिरवा, कौना कि अंगना में भंगिया
सीता के अंगना में तुलसी को बिरवा, गौरा के अंगना में भंगिया
नैनन में लाली.....

माँ तो प्रेम की खान होती है। पुत्र की चिंता उसे हर पल सताती रहती है, और माँ की यही चिंता वात्सल्य भाव की द्योतक है। कुंआर कन्हैया अब थोड़े से बड़े हो गये हैं और अपने मुख से प्यारी-प्यारी तोतली आवाज से मैय्या-मैय्या शब्द का उच्चारण करने लगे हैं। माँ के कानों में जब मैय्या शब्द की झनकार होती है तो माँ का हृदय आनंद सागर में हिलोरें लेने लगता है। माँ को प्रतिपल अपने बेटे की चिंता रहती है। इसीलिये जब कन्हैया कहीं दूर खेलने जाते हैं, तो माँ को चिन्ता रहती है कि कोई गाय वगैरह उसको सींग न मार दे। अतः वह ऊँचाई पर चढ़कर अपने मनमोहक मनमोहन को निहारती हुई स्वयं चिन्तित आनंद के सागर में गोते लगाती है और यहाँ पर गाया जाता है-

कहन लगे मोहन अब मैया-मैया
नंद बाबा से बाबा-बाबा, बल्दाऊ से भैया
आज तो दूधा पी लेओ कन्हैया भोर जमा दऊं दहिया
दूर खिलन मत जइयो कन्हैया, मार दैहे काऊ की गइया
निज परछाई निहारत खम्बन, नाचत ता ता थइया
चन्द्रसखी भज बाल कृष्ण छबि, बलि-बलि जा रई मैया।

माता यशोदा की बात मानते हुये आज तो मोहन दूध पीकर शांत हो गये, परन्तु उनकी रोटी खाने की मांग यथावत बनी रही। दूसरा दिन हुआ और मोहन ने फिर वही रोटी खाने की रट लगा दी तो माता यशोदा भी पुत्र प्रेम के वशीभूत होकर कहने लगीं-

गोपाल प्यारो माँगत माखन रोटी
अपने गोपाल को मैं रोटी बनाय दऊं
एक छोटी एक मोटी

गोपाल प्यारो माँगत माखन रोटी
अपने गोपाल को ब्याह रचाय दऊं
राजा वृषभान की बेटी
गोपाल प्यारो माँगत माखन रोटी

गोपाल प्यारे ने रोटी खाली। पेट भर गया। अब निद्रा भी आने लगी। सो उन्हें मैय्या ने झूले में लिटा दिया और बाहर किसी दूसरे काम में व्यस्त हो गयीं। उसी समय माँ की ममता जगी और उन्हें चिंता होने लगी कि मनमोहन शैतान तो हैं ही, कहीं पालने से उछलकर गिर न पड़े, तो वहीं से उन्होंने अपनी सखी को आवाज देकर कहा-

मनमोहन उदक न जाँय री हमारे धीरे झुलाव सखि पालने
काहे को पलना बनो है, काहे के बुने हैं बुनाव, हमारे....
चंदन के पलना बने रेसम के बुने हैं बुनाव, हमारे....
सबरे विरज की सखियां जुर आई घाल लयरी पालने, हमारे....
जो मोरे ललना खों पलना झुलाहै, दैहों जड़ाऊ ककना हमारे....

झूला झूलते हुये मनमोहन सो गये। सबेरा हुआ, मनमोहन की आँख खुली। उठ गये और धीरे-धीरे टुमक-टुमक कर माँ के पास पहुँचे, जहाँ माता यशोदा मट्ठा बिलो रहीं थीं। मोहन को पास आता देख मैय्या का मन हर्ष से पुलकित हो रहा है और वे सोच रही हैं कि मोहन तो मक्खन का बड़ा प्रेमी है-

टुमकि-टुमकि पगु धरत कन्हैया
नाचे नंदलाल नचावै हरि की मैया
माखन मिसरी उनके मन ही न भावै
माखन को स्याम बड़ो रे खबैया

परन्तु मोहन मैय्या के पास पहुँचकर न तो मक्खन मांगते हैं और न ही कुछ और खाने को मांगते हैं। वे तो बस मैय्या को पकड़कर रोने लगते हैं। मैय्या ने बहुत समझाया-पुचकारा, लेकिन कन्हैया चुप ही नहीं हो रहे हैं, तब बहुत विचार करने के बाद मैया कहने लगीं-

मोरो कनैया आज रोवे
न दूध पीवे न गोद खेलै
काऊ सौतनिया ने दे दई अफीम

दिल्ली सहर से बैदा बुलाओ
सो मोरे ललुआ की उतारे अफीम
मोरो कनैया आज रोवे

माँ को अपने पुत्र की शरारतें भी सुखद आनंद से आत्मविभोर कर देती हैं। पुत्र की छोटी-छोटी तोतली वाणी में की गई बातें भी माँ के लिये अत्याधिक हर्षदायी होती हैं। तभी तो कहा जाता है-

लाल तुम बातन के बढ़िया
हमसे कहत ते दूध धरो है
और धरो है दहिया
लाल तुम बातन के बढ़िया
उतै दहिया अहिया कछु अऊ नहियां
उलटी डरी है मटकिया
लाल तुम बातन के बढ़िया

नंदगाँव की अन्यान्य गोपियाँ कन्हैया से छेड़छाड़ करती हैं। उनको परेशान करती हैं। कन्हैया रोते-रोते माता यशोदा के पास पहुँचते हैं। पुत्र अनुराग से मण्डित माता यशोदा गोपियों की इस छेड़छाड़ से खिन्न होकर कन्हैया की अंगुली पकड़कर रोष भरे स्वर में कहती हैं-

आज मोरे बारे से कौन लड़ी।
अंगुरी पकड़के चली जसोदा, तन मन रोष भरी
आज मोरे बारे से कौन लड़ी।
पाँच बरस को मोरो कन्हैया, असिया बरस की लली
आज मोरे बारे से कौन लड़ी।
असिया बरस की कछू न जाने, पाँच बरस को छली
आज मोरे बारे से कौन लड़ी।

यशोदा नंदन अब बड़े हो रहे हैं। घर का काम-काज देखने लगे हैं। गायों की दुहनी भी करने लगे हैं। अब तो नंदगाँव की गोपिकायें भी कान्हा से अपनी गायें दुहाने लगी हैं। कान्हा भी कम शैतान नहीं हैं, जब उन्हें किसी गोपिका से रार लेनी होती है तो वे गाय की दुहनी ठीक से नहीं करते हैं, तब गोपी शिकायत करते हुये कहती हैं-

कान्ह तोसे अब न दुहाऊँ गैया
मोहन तो पै अब न दुहाऊँ ऐसी गैया
कछु कारे कछुओड़े कमरिया, बिचकत है मोरी गइया
कबहूँ दुहत है सेर सवैय्या, कबहूँ दुहत अधपैय्या
कछु दुहवत कुछु सेन चलावत, दूध गिरत मोपै मइया
थन में तनक संत ना राखो, भूखन मरै लवइया
श्याम तोसे अब न दुहाऊँ मैया।

नंदगाँव के लाड़ले- राजकुमार घरों-घरों में डोलते फिरते हैं। दही खाते हैं। अपने सखा ग्वाल बालों को भी दूध दही-मक्खन खिलाते हैं। गोपिकाओं से छीना झपटी करते हैं। उनकी मटकी फोड़ते हैं। उनकी इन्हीं शरारतों से तंग आकर एक गोपी उनका हाथ पकड़कर माता यशोदा के सम्मुख लाती है, तो माता यशोदा भी अपने पुत्र प्रेम के वशीभूत होकर उलाहना देते हुए कहती है-

काहे को उरझी हमाये बनमाली से, काहे को उरझी।
तेरो कन्हैया घर-घर डोले, हात लये मुरली
दधि मोरो खायो, मटक मोरी फोरी, पकर चीर झटकी
आप बड़ी बालक मोरो आछो, भुजबल काये पकरी
बड़े-बड़े अंसुअन गिरधर रोवै, तै मुस्क्यात् खड़ी।

माता यशोदा की रोषभरी बातें सुनकर कान्हा मन ही मन प्रसन्न हो गये। उन्हें विश्वास हो गया कि अब कभी कोई गोपिका माँ से मेरी शिकायत करेगी तो माँ पर उस शिकायत का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा और माँ तो मुझे बहुत दुलार देती है, इसलिये मुझसे कुछ कहेगी भी नहीं। बस नंदगाँव में अब कन्हैया की शैतानियाँ बढ़ने लगी। एक दिन फिर कन्हैया एक गोपी द्वारा पकड़ लिये जाते हैं, परन्तु कन्हैया तो कन्हैया। मौका देखकर उन्होंने अपने हाथ के स्थान पर उस गोपी के पति का हाथ उस गोपी के हाथ में पकड़ा दिया। गोपी बगैर देखे सीधे माता यशोदा के पास गई और कन्हैया की शिकायत करने लगी। इस सम्पूर्ण घटनाक्रम को वात्सल्य के भाव में पगाकर बुन्देलखण्ड के लोक जीवन ने निम्नानुसार ग्रहण किया है-

मनमोहन बंसीवाले हैं ये, चीन्ह जसोदा मैया
देख जसोदा कुंअर तुम्हारो, चोरी करै उमरि को वारो
इसने खायो दही हमारो, चलके देखौ घरहि हमारो
कहै जसोदा का बौराई, तुमको जरा सरम नहिं आई
पति को पकर दिखावन आई, अबई तेरे हिय की फूटी

कन्हैया अब बड़े हो रहे हैं। वृषभान की पुत्री राधाजी से उनके विवाह की बात चल रही है, परन्तु राधा जी की माँ कन्हैया के श्याम वर्ण को लेकर सशंकित होती हैं और प्रतिउत्तर में माता

यशोदा अपने पुत्र के श्याम वर्ण का स्पष्टीकरण देते हुए कहती हैं-

कारो कारो मत कर ग्वालिन कारो जग उजियारो
बैठे पताल कालिया को नाथो
मारी फुफकार बदन भयो कारो
कैसे ब्याहूं राधे कन्हैया तेरो कारो।

माता और पुत्र के स्नेही चित्रण से ही वात्सल्य रस का जन्म हुआ है। यही वात्सल्य रस बुन्देली लोकगीतों में प्रचुरता के साथ मिलता है।

संदर्भ

कल्याण, बालक अंक, वर्ष 1953
बुन्देलखण्डी लोक गीत-शिवसहाय चतुर्वेदी
लोकगीत संग्रह, भाग-2 बुन्देलखण्ड संग्रहालय, उरई
बुन्देलखण्ड के धार्मिक लोकगीतों का सांस्कृतिक एवं सांगीतिक अनुशीलन, डॉ. उपेन्द्र तिवारी
बुन्देली लोक काव्य, डॉ. बलभद्र तिवारी
बुन्देली लोक साहित्य- डॉ. रामस्वरूप श्रीवास्तव

मालवा का शिल्प

डॉ. शिव चौरसिया

भारत के मध्य में स्थित मध्यप्रदेश का दक्षिणी-पश्चिमी पठारी क्षेत्र मालवा कहलाता है। मालवा का पठार अपने आस-पास के भू-भाग से कुछ अलग और समुद्र तट से लगभग सौ मीटर ऊँचा है। विंध्याचल पर्वतमालाओं से शोभायमान इस क्षेत्र की काली मिट्टी अत्यधिक उर्वर है। इस क्षेत्र की जलवायु समशीतोष्ण है। वर्षा इतनी कि बस काम चल जाये। बर्फीली आँधी, धूल भरे अंधड़ या समुद्री तूफानों का कोई भय नहीं। धरती उत्तम, लोग भले, प्रायः सहज, सरल, निश्छल और सहिष्णु। अपनों से भी ज्यादा बाहर से आने वालों को आत्मीयता और सहयोग देने वाले। अधिकांश जनसंख्या ग्रामीण। मालवा ग्राम प्रधान था और अभी भी है। यहाँ की प्रायः सारी अर्थव्यवस्था ग्रामों और कृषि पर आधारित है। देश के बीचों-बीच होने से चारों ओर से आवागमन के रास्ते पर स्थित मालवा सामंजस्य-संस्कृति का अनूठा और सुन्दर प्रतिनिधि। इसके ग्राम अपने आप में शताब्दियों से प्रायः आत्मनिर्भर रहे हैं, और इसी कारण यहाँ शिल्पों का बहुत विकास हुआ है।

मालवा की प्रकृति भागमभाग वाली नहीं रही, फिर भी यहाँ के ग्रामीण जीवन में विविध प्रकार के शिल्प विकसित हुए हैं और वे अपनी महत्त्वपूर्ण विशेषताओं के कारण आज तक न केवल प्रासंगिक बने हुए हैं, बल्कि देशव्यापी ही नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति भी प्राप्त कर रहे हैं। इनमें माटी शिल्प, काष्ठ शिल्प, गृह निर्माण-शिल्प, धातु शिल्प, पाषाण शिल्प, चर्म शिल्प, बाँस शिल्प, पंख शिल्प और पत्ता शिल्प आदि मुख्य हैं।

माटी शिल्प की दृष्टि से मालवा अत्यन्त सम्पन्न है। यहाँ मिट्टी के कई प्रकार के बर्तन-घड़े, कुण्डे, गमले, दोनी, दाथरी आदि गृह उपयोगी होते हैं। तरह-तरह की देव-मूर्तियाँ, दीपक, हुक्रे, ढाकन, बुजारा जैसी वस्तुएँ भी बनाई जाती हैं। कवेलू और ईंट निर्माण तो यहाँ खूब होता है। यहाँ की ईंटे बहुत पक्की और टिकाऊ होती हैं। शताब्दियों पूर्व के प्राप्त हुए मिट्टी के पात्र एवं ईंटे इस बात को प्रमाणित करते हैं।

काष्ठ शिल्प की दृष्टि से भी मालवा के ग्राम उल्लेखनीय हैं। पहले यहाँ घने वन थे। अब कम हो गये हैं, फिर भी लकड़ी की कमी नहीं है। काष्ठ शिल्प को मुख्यतः चार भागों में देखा जा सकता है। पहला कृषि उपकरण इसमें हल, बक्खर, डोरा, बैलगाड़ी, छकड़ा, चड़स की बैठक, औजारों के हथ्थे आदि। दूसरा है घरेलू उपकरण जैसे खंभे, म्याल, चौखट, किवाड़ के पल्ले, मेहराब, झालर आदि। इन सबके लिए अलग-अलग प्रकार की लकड़ियों का उपयोग होता है। यथा- शीशम, आम, बबूल, सागौन, बियाँ, बाँस, साल, जामुन, आड़काट आदि।

मालवा के गाँवों में गृह-निर्माण शिल्प अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यहाँ गाँवों में और प्रायः सभी छोटे-बड़े कस्बों में गारे के घर बनाने का चलन रहा है। गारे की दीवारें, लकड़ी की म्याल और ऊपर छप्पर, कवेलू या ओरा बनाया जाता है। यदि गृह-निर्माणकर्ता सम्पन्न हुआ तो दो या तीन मंजिलों के घर भी बनते रहे हैं। घर-निर्माण में गारे के पत्तों, सूकला और काँस का प्रयोग मजबूती के लिए किया जाता है। यहाँ के घर बनाने में पहले लकड़ी के खंभे खड़े किये जाते हैं। उसके बाद आड़ी लकड़ियाँ लगाकर घर का ढाँचा खड़ा किया जाता है और उस ढाँचे के पास बाहरी दीवारें गारे से बनाई जाती हैं। बीच-बीच की अथवा ऊपरी मंजिल की दीवारें बाँस तथा तूवर की संटियों पर गारे-लीपन के मिश्रण से बनती हैं, ताकि वजन में हलकी रहें। ऐसे मकान बनाये जाने का कारण पूर्णतः वैज्ञानिक है। ऐसे मकान भूकम्प में प्रायः नहीं गिरते। इसी कारण मालवा में आये भूकम्पों में कम हानि हुई है। 'ओरा' उस घर को कहते हैं, जिसकी छत मिट्टी की होती है। जहाँ तक मेरी जानकारी है- 'ओरे' केवल मालवा में ही बनते हैं। ओरा बनाने के लिए दीवारों पर पाट की जगह खजूर के पेड़ों का उपयोग होता है। आड़े बल की दृष्टि से खजूर बहुत मजबूत होता

है, क्योंकि उसका लचीलापन अद्भुत है। ओरे के घर की सबसे बड़ी विशेषता होती है, उसका वातानुकूलित रहना। ओरों के घर गर्मी में ठण्डे, ठण्ड में गर्म और बरसात में वाटरप्रूफ होते हैं। इसमें छत पर विशेष सफेद मिट्टी का उपयोग होता है। गारे दीवारें बनाने वाले लोग खारोल कहलाते हैं। खारोल जाति के लोग परम्परागत रूप से इस कार्य में दक्ष है। घर निर्माण में बबूल, आम, सागौन, शीशम, खजूर, खाँकरा आदि की लकड़ियों का प्रयोग होता है।

पाषाण-शिल्प अति प्राचीन है। ग्रामों में पत्थरों से अनेक वस्तुएँ बनाई जाती हैं। मूर्तियाँ तो मुख्य हैं ही, साथ ही घरेलू उपयोग की घट्टी, खरल-बत्ते, सिल्ला-लोढ़ी, ओखली, चूना-पिसाई घट्टे तथा गृह निर्माण में खंभ-आधार तथा एरन शताब्दियों से बनते रहे हैं। मालवा में उत्तर-पश्चिमी तथा पूर्वी क्षेत्रों में पाषाण शिल्प उन्नत रहा है। भवन, महल और मंदिरों के आधार स्तम्भ, मेहराब, शिखर आदि कलात्मक रूप में बनते रहे हैं। उज्जैन के समीप घट्टग्राम में विपुल मात्रा में घट्टे-घट्टियाँ बनते थे। वह ग्राम आज भी घट्टिया नाम से जाना जाता है।

ग्राम्य जीवन में चर्म शिल्प का एक खास मुकाम है। यहाँ पशुओं की अधिकता रही है। इस कारण चर्म-शिल्प के अन्तर्गत जूते, चप्पल, खालड़ा, मोजड़ी तो बने ही, साथ में सिंचाई की चड़स और घोड़ों की जीन आदि भी बनती रही है।

वस्त्र शिल्प की दृष्टि से मालवा के ग्राम अत्यन्त समृद्ध रहे हैं। यहाँ सूती वस्त्रों का बड़ा कारोबार रहा है। यहाँ का मोटा लट्टा, धोतियाँ, चोल और छींट दूर-दूर तक जाती रही हैं। यहाँ के गाँव-गाँव में कोरी, भाम्बी आदि जातियाँ वस्त्र बुनने के व्यवसाय में पारम्परिक रूप से जुड़ी रही हैं। छपाई कला और रंगाई कला में मालवा की छीपा तथा रंगारा (भावसार) जातियाँ निष्णात हैं। प्राकृतिक उपादानों से बने रंगों का अद्भुत प्रयोग होता रहा है। मालवा की भैरवगढ़ प्रिन्ट अद्वितीय है। इसकी लोक चित्रावण, चटक और पक्के रंगों की प्रसिद्धि देश में ही नहीं, विदेशों में भी लोकप्रिय है। मालवा के छीपाखेड़ा, छापीहेड़ा जैसे कस्बे और गाँव-गाँव में रंगारसेरी, छीपा बाखल जैसे मोहल्ले वस्त्र-शिल्प की प्रचुरता और सम्पन्नता के स्पष्ट प्रमाण हैं। यहाँ की चन्देरी तथा

महेश्वर की साड़ियों की भी खूब ख्याति है। भेड़ों की ऊन से ऊनी वस्तुएँ भी बनती हैं। मंदसौर क्षेत्र में कंबल बनाये जाते हैं, तो कहीं-कहीं निवार, डोरिए, नाड़ा-निर्माण भी होता है।

यहाँ धातु शिल्प की परम्परा भी बहुत प्राचीन है। इसे तीन भागों में बाँटा जा सकता है-प्रथम लोहा, ताँबा और पीतल। द्वितीय सोनी-चाँदी और तृतीय गिलट शिल्प। यहाँ प्रायः हर एक गाँव में लोहार होते हैं। ये लोग लोहे से कृषि उपकरण जैसे हल, बक्खर की फाल, खुरपी, दर्राँती, कुदाली, गेंती, फावड़ा, तगारी, बैलगाड़ी के पाट आदि और घरेलू उपकरणों में तवा, खोंचे, कढ़ाई, कढ़ाव, नाव, कोठी, चिमटे, कड़छी आदि के साथ छोटे-मोटे चाकू-छुरी भी बनाते हैं। इस कार्य में घुमकड़ गाड़ोलिए लुहार भी सहयोगी बनते हैं। आलोट, ताल क्षेत्र में लोहे के शस्त्र भी बनते हैं। और कहीं-कहीं छुटपुट रूप से मूर्ति और खिलौने भी बनते हैं।

यहाँ ताँबा-पीतल या काँसे के बर्तन भी खूब बनते रहे हैं। इस कार्य में यहाँ की कसेरा, ठठेरा, भरावा आदि जातियाँ परम्परा से बर्तन बनाती हैं। मालवा की परात, थालियाँ, घड़े, बटलोई, देगची, लोटे-गिलास, कड़छी-खोचों के साथ ही घड़ी-घंटाल, आचमन, रामझरा आदि पात्र बहुत आकर्षक और प्रसिद्ध हैं। यहाँ ताँबे-पीतल की मूर्तियाँ भी बनती हैं।

सोने-चाँदी जैसी मूल्यवान धातुओं से आभूषण बनाये जाते हैं। गाँवों-नगरों में सुनार जाति के लोग शताब्दियों से सैकड़ों प्रकार के आभूषण बनाते रहे हैं। गरीब लोगों के लिए गिलट धातु से सस्ते गहने भी बनाये जाते हैं। पहले पुरुषों में आभूषणों का शौक था, लेकिन अब कम हो गया है। सच तो यह है कि स्त्रियाँ ही आभूषणों की दीवानी होती हैं। आज भी मालवी स्त्रियाँ जब आभूषण पहन, बन-ठन कर बाहर निकलती हैं, तो उनका सौन्दर्य हजार गुना बढ़ जाता है। उनके सौन्दर्य को देख लोग ठगे से रह जाते हैं।

ग्राम शिल्प में पत्तों का भी विशेष स्थान है। यहाँ खाँकरे के पत्तों से पत्तल-दोनों का निर्माण होता है, तो खजूर के पत्तों से चटाई, पंखे, टोकरी, टोकरे, झाड़ू, झाड़ुन, खिलौने आदि बनाये जाते हैं। मालवा की अनेक जातियों में खजूर के नये-नये पत्तों से दूल्हे-दुल्हन के मोड़ (सेहरे) बनाये जाते हैं, जो बहुत कलात्मक

होते हैं, लेकिन ब्राह्मण जाति के मोड़ फूलों से बनाये जाते हैं। बागरी और बरगुंडा जातियाँ पारम्परिक रूप से इस शिल्प में लगी रही हैं। पत्तों का यह शिल्प मालवा से दिल्ली तक ही नहीं, अब तो विदेशों में भी लोकप्रिय हो रहा है। पत्तों के साथ ही कुछ विशेष प्रकार की घास से पूजन-सामग्री और सीतलपाटी, आसन आदि भी बनाये जाते हैं।

बाँस-शिल्प अत्यन्त उपयोगी कला है। मूँज, खजूर की डंडियों और सन की रस्सी बनाई जाती रही है, विशेषकर वर्षा की लगातार झड़ियों में। रस्सी से नेज, बैलों, गायों, भैंसों को बाँधने की रस्सियाँ, चड़स आदि के रस्से, पशुओं के मूँछे, छींके, गोफन, आसनी, चूमली, दरियाँ आदि बनती हैं। इनमें रंग-बिरंगी रस्सियों में गूँथन से अनूठी सुन्दरता उभर आती है।

रस्सियों में पक्षियों के पंखों को बाँध और गूँथकर तरह-तरह की कलात्मक वस्तुएँ बनती हैं। मोरपंख से पशुओं के आभूषण बनते हैं। इन्हें दीपावली के दूसरे दिन पशुओं को पहनाया जाता है। मालवा कृषि प्रधान अंचल है। पशुपालन भी खूब होता रहा है। यहाँ पशु-धन की सम्पन्नता ही पहचान रहा है। गाँवों में किसी की हैसियत इसी बात से आँकी जाती रही है कि उसके घर में कितने पशु हैं? मालवी में एक कहावत भी है-ग्राम में ढाँडा ने सेर में डाँडा। याने गाँव में पशुओं की संख्या से तथा शहर में मकानों की संख्या से सम्पन्नता का पता चलता है। पशु-श्रृंगार सामग्री में रंग-बिरंगी रस्सियों के साथ कौड़ियों की गूँथन से सुन्दरता और भी बढ़ जाती है। मोरपंख से मोरछल, पंखे आदि भी बनते हैं। इनमें अन्य पक्षियों के पंख भी लगाये जाते हैं, खासकर मालवा के दक्षिणी-पश्चिमी तथा पश्चिमी वनवासी भीली क्षेत्र में।

मालवा के ग्रामों में कई प्रकार के वाद्य यंत्र भी बनाये जाते हैं। ये कई प्रकार के होते हैं। इनमें तंबूरा, इकतारा, झाँझ, मजीरा, घंटी, घंटाल, ढोल, नगाड़ा, नोबत, तासक, घेरा, धपड़ी, माँदल, सिंगी आदि। ये सभी लोक वाद्य हैं। इनका प्रयोग गाँवों-नगरों और डूंगर क्षेत्रों में बहुतायत से होता है। उत्सवों, पर्वों, त्योहारों और मांगलिक अवसरों पर गूँजते लोक संगीत में इन वाद्य यंत्रों से आनन्द बरस पड़ता है।

इसी प्रकार गोबर शिल्प भी महत्त्वपूर्ण है। गोवर्धन पूजा के समय गोबर का गोवर्धन पर्वत बनाकर उसकी पूजा की जाती है। दशहरे पर गोबर से दशहरा बनाया जाता है। इसमें दो मानव आकृतियाँ, उनके सामने गोबर की दो तलाई तथा आस-पास, दोनों तरफ पाँच-पाँच पेड़ बनाकर उन पर गेंदे के फूल चढ़ाकर पूजा की जाती है। तलाईयों में दूध भरा जाता है। होली की पूजा के पहले से ही गोबर के भरल्ये बनाये जाते हैं। गोबर के घड़ुल्ये, पान, जबान और नारियल भी बनते हैं। इन सबको पूर्णिमा की रात होली-पूजन के समय चढ़ाया जाता है। गोबर शिल्प में संजा का अलग ही महत्त्व है। क्वार महीने के पहले पखवाड़े में मालवी कन्याएँ घरों की दीवारों पर संजा माँडती हैं। इसमें अलग-अलग दिनों में नई-नई आकृतियाँ बनाई जाती हैं। मनुष्य, पशु-पक्षी, पेड़-पौधे, सूरज-चाँद और किल्ला-कोट की रचना होती है। इसमें अलंकरण के लिए रंग-बिरंगे फलों, पत्तियों और पत्रियों का उपयोग होता है। मालवा का यह गोबर शिल्प अब पूरे देश में आकर्षण का केन्द्र बनता जा रहा है। लोक कलाकार कृष्णा वर्मा

इस कला की सेवा करने के कारण मध्यप्रदेश के शिखर सम्मान से भी सम्मानित हुई है।

स्पष्ट है कि ग्राम्य-शिल्प की दृष्टि से मालवा अत्यन्त समृद्ध है। परम्परागत इन सभी शिल्पों में लोकरंग, प्रकृतिपरकता, स्थानीयता, वैज्ञानिकता और मानवीय भावनाओं का समुचित सामंजस्य हुआ है। इनका अतीत श्रेष्ठ था, वर्तमान समृद्ध है और भविष्य उज्वल।

एक और बात मालवा के ग्राम्य शिल्प के प्रायः सभी रूपों का वैशिष्ट्य यह है कि इनमें स्थानीय प्राकृतिक उपकरणों का बहुलता से प्रयोग होता है। मिट्टी, पत्थर, धातु, काष्ठ और वस्त्रों की रंगाई-धुलाई तक में वनस्पतियों का उपयोग होता है और ये वानस्पतिक रंग इतने पक्के होते हैं कि कपड़े चाहे पुराने होकर फट जायें, पर रंग नहीं निकलते हैं। मालवी ग्राम्य-शिल्प का यह वैशिष्ट्य अद्भुत है।

व्रत-त्योहारों में चित्रकला

डॉ. (श्रीमती) अर्चना श्रीवास्तव

नर को नारायण रूप में देखना और नारायण को नरत्व प्रदान करना भारतीय संस्कार और सभ्यता की मनोहर किन्तु अद्भुत विशेषता रही है। कला में जन को आकृष्ट करने की क्षमता होती है। किसी समाज में, धार्मिक वातावरण का निर्माण कर उसके आदर्शों, सिद्धान्तों तथा आत्मावलोकन की क्षमता को विस्तृत करने के लिये कला को सक्षम एवं सुगम साधन समझा जाता है। समाज के सांस्कृतिक स्तर पर अंकित कलावस्तु ने एक जगह जादू का काम किया, दूसरी जगह इसने किसी मान्यता प्रतीक का प्रतिनिधित्व किया, तीसरी जगह इसने विचारधारा को अभिव्यक्ति दी और चौथी जगह एक ऐसे 'यंत्र' का काम किया, जिससे किसी विचार पर केन्द्रीयकरण हो सके।

ऐतरेय ब्राह्मण में यह स्थापना की गई है कि- 'कला प्रधानतः अपनी आत्मा, भावनाओं और वृत्तियों का तथा गौणतः बुद्धि का संस्कार करने का माध्यम है।' ललित कला का संबंध मनुष्य के मानसिक विकास से है। यह उसकी सर्वश्रेष्ठ रचना कही जा सकती है। इसके अंतर्गत वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला और काव्यकला सम्मिलित है।

कलाओं की श्रेष्ठता के क्रम में विद्वानों में मतभेद रहा है। वात्स्यायन अपने 'काम सूत्र' में चित्रकला को तीसरा स्थान देते हैं। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में चित्रकला को कलाओं में सर्वश्रेष्ठ माना गया है और उसे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष प्रदायनी माना गया है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण के 43वें अध्याय में उल्लेखित है कि जैसे पर्वत मालाओं में सुमेरू श्रेष्ठ है, पक्षियों में गरूड़ प्रधान है और मनुष्यों में राजा उत्तम है, उसी प्रकार कलाओं में चित्रकला उत्कृष्ट है।

कला अपने उद्देश्य के लिये प्रायः सभी क्षेत्रों में छायी हुई है। वर्तमान आधुनिक युग में कला 'सर्वजन सुखाय' से बढ़कर 'स्वातः सुखाय' हो गई है। जिस प्रकार वेदों के बारे में कहा जाता है कि वह संसार का सबसे प्राचीनतम ग्रंथ है, उसी प्रकार निश्चित रूप से यह कहना भी उपयुक्त है कि भारतीय चित्रकला संसार की सबसे प्राचीन एवं श्रेष्ठतम कलाकृति है। इन चित्रों में सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम् का जो रूप स्पष्टतः निहित है, वह अन्य किसी भी देश अथवा राष्ट्र की चित्रकला में दृष्टिगत नहीं होता।

भारतीय चित्रकला का एक पक्ष लोक चित्रकला, मानवीय कल्पना की नितान्त रोमान्चकारी सचित्र गाथा है। इन चित्रों के मूल्यांकन और रसास्वादन संबंधी धारणाओं में समय-समय पर परिवर्तन होता रहता है। प्रत्येक युग के अपने मनपसन्द बिम्ब होते हैं। किन्तु उसके मूल में एक ही भावना निहित होती है, परिवर्तन की इस प्रक्रिया में लोक मानस का कला सौन्दर्य परिमार्जित और विकसित होता है।

लोक कला में व्यक्तिगत वैशिष्ट्य होता है, जिसका अंकन लोक रस में परिणित होता है। लोक-भाव, लोक-मानस से निःसृत होने के कारण सहज, निश्छल और प्राकृतिक होता है। क्योंकि लोक-मानस का लोक से सीधा संबंध होता है, इसलिये उनमें लोक जीवन की सरलता अपने आप आ जाती है। इन चित्रों में बनावटीपन, जटिलता और उलझन नहीं मिलती। वास्तव में उसकी सोच-सीधी, सरल और तटस्थ रहती है, किन्तु वह लोक मंगल या समाज-कल्याण की कामना से पगा होता है। ये अंकन भाव-प्रणय अधिक और वैचारिक कम होते हैं। वे जो कुछ कहना चाहते हैं, उनको चित्रों में स्पष्ट पढ़ा जा सकता है। सांकेतिक प्रतीकों द्वारा वे सब कुछ कहने का सामर्थ्य रखते हैं। प्रत्येक कला-कृति दूसरे से भिन्न और मौलिक है, क्योंकि व्यक्ति अपनी भावनाओं और कल्पना के अनुसार इन कृतियों का निर्माण करता

है, इनमें स्वभावगत अंतर आना स्वाभाविक है। कहीं-कहीं इनमें अतिरंजना है, फिर भी इन आकृतियों में हृदय की धड़कन मौजूद है।

जबलपुर बृहद बुन्देलखण्ड के सांस्कृतिक जनपद में प्रचलित लोक कला का मूल्यांकन करने पर यह स्पष्ट होता है कि यहाँ की लोक कला में धर्म-कर्म और जीवन-मर्म की विविध परिणति रही है। यहाँ का लोकांकन दीवार और जमीन पर अधिक प्रस्फुटित हुआ है। झोपड़ी की कच्ची दीवारों से लेकर पक्के मकानों की भित्ति भी लोक कला के रंगों से अच्छी नहीं रह पाई है। दीवारों पर बने चित्रों में स्थानीय संस्कृति के इन्द्रधनुषीय रंग बिखरे पड़े हैं। चित्र एवं मूर्तियों के रूपाकार यहाँ की लोक शैली

को एक आंचलिकता का रंग देते हैं।

यहाँ का सम्पूर्ण मानव-जीवन अपनी परम्परा से टूट कर कभी अलग नहीं हुआ। वह इसमें विकास के नये मौलिक तत्त्व जोड़ता हुआ अतीत की परम्परा को सहेज कर आगे बढ़ता रहा है, इन महान उपलब्धियों के पीछे यहाँ के लोक मानस की मौलिकता है।



जीवन के विविध पक्षों-धार्मिक, पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक आदि का समावेश यहाँ की लोक कलाओं में होता है। लोक-दर्शन, लोक-धर्म, लोक-मंगल, लोक-विश्वासों तथा लोक-मूल्यों से लेकर परिवार और समाज के परस्पर संबंधों तक, देवी-देवताओं की मूर्ति अथवा चित्रों से लेकर पिसनारी-कुटनारी तक तथा सूर्य-चन्द्र से लेकर साँप, बिच्छू तक यहाँ की लोक कलाओं में व्यापक और विस्तृत रूप से अंकित किये जाते हैं। एक तरफ उनमें प्रकृति के प्रति अनोखा प्रेम है, तो दूसरी तरफ आस-पास के और घरेलू जीवन के प्रति ममत्व तथा तीसरी तरफ जीवन के भोग, सत्यों और मूल्यों की तात्त्विक सूक्ष्मता के लिये ललक है। इन लोक कलाकारों की कला का अंतिम उद्देश्य पूर्णता की प्राप्ति है। पुराणों में कहा गया है-

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

इसी पूर्णता की प्राप्ति के लिये प्रायः सभी देवी-देवताओं की आराधना यहाँ प्रचलित है। शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक एवं सामाजिक शक्ति के रूप में विभिन्न देवी-देवताओं की आराधना करके समय-समय पर समाज में चेतना की वृद्धि की जाती है। शक्ति के ये स्रोत धर्म, संस्कृति और पौराणिक महत्त्व रखते हैं। यहाँ की लोक बुद्धि अत्यन्त अध्ययनशील रही है। उसने निर्जीव जड़ पदार्थ ही नहीं लिये वरन् देवी-देवताओं को परम्परा के आधार पर प्रतीक रूप में बनाकर अपने भावों की अभिव्यक्ति की है। इन आकृतियों में अधिकांशतः प्राकृतिक दृश्यों, जीवों, उपदेशात्मक एवं शिक्षाप्रद कथाओं, सूर्य, चन्द्रमा, स्वस्तिक, कमल, त्रिशूल, कलश, पदयुगल, ध्वज आदि का प्रतीकात्मक निरूपण किया जाता है। इन संकेतों को समझने के लिये भारतीय लोक मानस की धारणाओं, संस्कृति और परम्पराओं को समझना आवश्यक है। संकेतों के ज्ञान के अभाव में कलाकृतियों को समझ पाना लगभग असंभव है।



यहाँ लोक कला धर्ममय प्रतीक से मिश्रित है और उनकी पृथकता संभव नहीं है। इन्हीं धार्मिक प्रतीकों की पूजा-अर्चना कर वे अपनी निराशाओं को दूर करके शक्ति, शुभ और मंगल की भावनाओं का श्रेय प्राप्त करते हैं। धार्मिक प्रतीकों के अभाव में न सिर्फ लोक कलाकृतियाँ ही शून्य हो जाती हैं, वरन् सम्पूर्ण लोक-जीवन ही शून्य हो जाता है।

कथाओं के बड़े-बड़े विषयों के अंकन सांकेतिक चिन्हों के द्वारा बड़ी कुशलता से किये जाते हैं। इन चिन्हों, मुद्राओं को बिना समझे उनसे रस निकाल पाना कठिन है। ये चिन्ह बहुत सोच-समझकर निर्धारित किये गये हैं। इन्हीं प्रतीकों के कारण

यह कला अपने भाव व्यंजनों को व्यक्त करने में सफल हो सकी है। पाश्चात्य कलाकार सदैव भौतिकवादी रहे हैं, इसलिये किसी विषय के घटनाक्रम को या किसी गाथा या सम्पूर्ण कहानी को किसी एक चित्र तल पर अंकित करने में वे अपने आपको असमर्थ पाते हैं, किन्तु लोक कलाकारों में इस प्रकार की अभिव्यक्ति की विशेष दक्षता दिखाई देती है।

चित्रों के अतिरिक्त मूर्तियों का निर्माण भी इस बुद्धिमत्ता से किया जाता है कि उनसे समस्त कथावस्तु का बोध होता है। उनकी आकृतियाँ अध्यात्म के गूढ़ रहस्यों को खोलने में समर्थ हैं। मूर्तियाँ उनकी पूर्व कथा का बिम्ब मात्र हैं। विष्णु पुराण में भी

इन विचारों की पुष्टि करते हुए कहा गया है कि सर्वव्यापी एवं निराकार विष्णु स्थूल रूपधारण करके देवताओं, मनुष्यों, पशुओं, पक्षियों आदि के विविध रूपों में यहाँ दृष्टिगोचर हो रहे है।' विविध कल्पनाओं में रूपाकारों की आध्यात्मिक भव्यता और विविधता देवी-देवताओं की मूर्तियों में मौजूद है।

हमारे शास्त्रों में भी धर्म से ही निःश्रेयस की प्राप्ति होना बताई गई है और यहाँ के लोक मानस ने भी अपनी कृतियों में इसी भावना को साकार किया है।

यहाँ की भोली-भाली जनता में ईश्वर की उपासना की तीन प्रकार की क्रियाओं का प्रचलन है-धारणा, ध्यान और प्रत्याहार। किसी एक ध्येय को पकड़कर मन को रोकना धारणा कहलाती है। जब ध्यान करने वाला अपने ध्येय में समा जाता है, तो उसे ध्यान कहते हैं। ध्येय को छोड़कर जब मन किसी और विषय की ओर आकृष्ट होता है और अभ्यासी उसे केन्द्रित कर पुनः ध्यान में लगाने का प्रयत्न करता है तब उसे प्रत्याहार कहा जाता है। यहाँ के लोक मानस में अधिकांशतः तीसरे प्रकार से ईश्वर की आराधना

की जाती है। विभिन्न पर्वों, व्रत, त्योहार एवं उत्सवों में अपने दैनिक कर्मों एवं उलझनों से मन को प्रतीक चित्रों अथवा मूर्तियों के माध्यम से एक ओर केन्द्रित करके लोक कलाकार अपने लक्ष्य-आनन्द की प्राप्ति कर संतुष्ट होते हैं।

यहाँ की लोक भक्ति दो प्रकार की है-प्रथम व्यक्तिधर्मी और द्वितीय समूहधर्मी। प्रथमकोटि की भक्ति में अपनी संतान, सम्पदा, पति, कल्याण और मोक्ष का उद्देश्य है, जिसके लिये हलषष्ठी, हरतालिका-तीज, संतान-सप्तमी, गणगौर आदि व्रत प्रचलित है। दूसरी कोटि की भक्ति में अपने वंश, जाति, समाज, परिवार, गाँव और देश कल्याण का व्यापक क्षेत्र है, जिसके लिये कुल-देवता की पूजा, खैर-माई, ग्राम-देवता, दशहरा, होलिका दहन, भू-देवी, खेड़ा-पति आदि की पूजा अर्चना का प्रचलन है। असल में गोडों के देवी-देवताओं को भी यहाँ के लोगों ने अपना लिया है, जिनमें से कुछ तो आज भी पूजे जाते हैं। जैसे-मरही माता, खैर-माई, शारदा माई, शीतला माई, भुइयां देवी (भू-देवी), नागेश्वर देव (नागदेव), बड़-देव, बड़ बाबा (महादेव), दूल्हा देव (दूला देव) आदि।

पूजा-स्तुति में एकाग्रचित होने के लिये अभिव्यक्ति के दो रूप प्रचलित हैं। पहला 'चित्रित' और दूसरा 'मूर्त'। इन रूपों में महिलाओं के जीवन की सांस्कृतिक सम्पन्नता तथा परिपक्व कलाकारिता दृष्टिगोचर होती है। किसी भी मंगल कार्य में चाहे वह पारिवारिक हो, सामाजिक हो या धार्मिक-चौक, रंगोली अथवा अल्पना एक अनिवार्य अंग माना जाता है। यह किसी भी अनुष्ठान का परिपूरक अंग है, जो कला की दृष्टि से अनुष्ठान की शोभा बढ़ाता है और वातावरण की गरिमा बनाये रखने में सहायक होता है। कुछ चौक सामान्य होते हैं, जिन्हें किसी भी अवसर पर कोई भी बना सकता है, किन्तु कुछ चौक विशेष अवसर पर विशेष पात्रों द्वारा ही बनाये जाते हैं, जैसे-पुरखों का चौक घर की बड़ी बहू बनाती है, विवाह में चढ़ाव का चौक पंडित बनाते हैं, चरुए का चौक प्रसूता की सास बनाती है,

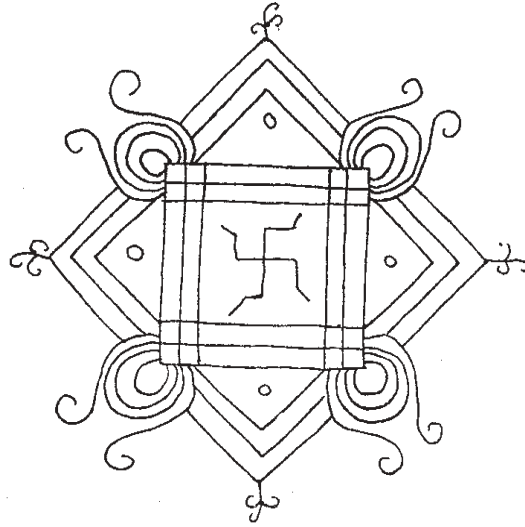
छठी का चौक ननद बनाती है, आदि। चौक देवी-देवताओं के विराजने का आसन माना जाता है। कलश-घट एवं देवी-देवताओं के आसन के लिये बनाया जाने वाला चौक खुली पंखुड़ियों का और बूटों से सजाया जाने वाला बंद पंखुड़ियों का बनाया जाता है। फूल-पत्तियों का आकार आवश्यकतानुसार लम्बा, गोल, चौड़ा कर लिया जाता है।

एक विशेष प्रकार के चौक का प्रचलन यहाँ अधिकांशतः घरों में देखने को मिलता है, जिसमें चौक के साथ मध्य में चरण युगल भी बनाये जाते हैं। इस प्रकार के चौक अवसर के अनुसार सूखे आटे, गेरू, छुई अथवा ऐपन से बनाये जाते हैं। इनको कहीं पूरा भरकर (टेम्प्रा में) बनाते हैं, तो कहीं केवल रेखाओं द्वारा ही

अंकन करते हैं। पितर-पक्ष में अमावस्या तक चरण-युगल बनाने का यहाँ विशेष प्रचलन है। घर-द्वार के दोनों ओर सूखे आटे से पुरखों के चरण बने मिलते हैं। ये चरण बाहरी द्वार पर 'आते' हुये बनाये जाते हैं और अंतिम दिन इनका उल्टा अंकन कर 'जाते' हुये बनाये जाते हैं। देवी-देवताओं के चरण केवल आते हुए बनाये जाते हैं, जिससे घर-आँगन में सदैव उनका वास रहे। कलात्मक दृष्टि से ये अत्यंत आकर्षक लगते हैं। इनकी अंगुलियों पंजों और ऐड़ी का

संतुलन सराहनीय है। चौक के मध्य में बने ये चरण-युगल, पुष्प के मध्य स्थित पराग से प्रतीत होते हैं।

व्रत एवं त्योहारों पर आधारित कला में वर्णित विषय के पीछे जो कथा अथवा कहानी गढ़ी गई है, वह मुख्यतः दो मूल आधारों पर है। पहला पति संबंधी और दूसरा पुत्र संबंधी। बुजुर्गों से पूछने पर ज्ञात हुआ कि पति संबंधी जितने भी व्रत एवं त्योहार हैं, उनमें शिव-पार्वती, सूर्य-चन्द्रमा, स्वस्तिक, सत्यवान-सावित्री, कलश-घट आदि मुख्य रूप से पूजे जाते हैं। महादेव का शिवलिंग वाला रूप ही सर्वाधिक प्रचलित है। उपरोक्त सभी रूप अजर-अमर हैं, इसलिये इनकी पूजा कर महिलाएँ अपने पति को अमरत्व प्रदान करने की कामना करती हैं।

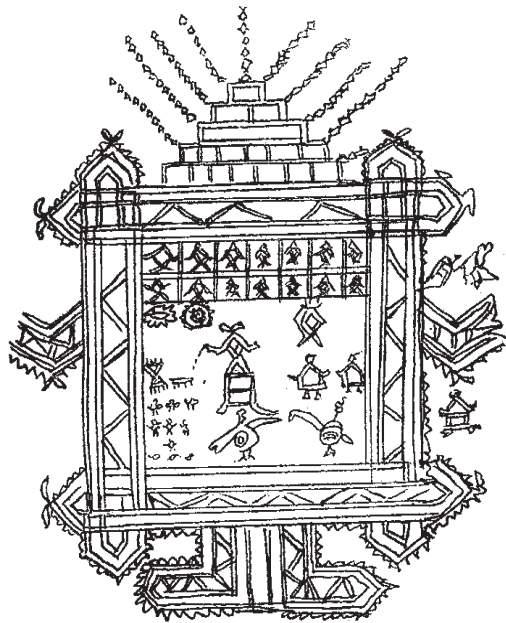


पुत्र के मंगल भविष्य की कामना प्रत्येक भारतीय परिवार में पायी जाती है। पुत्र संबंधी कथाओं में जिन पात्रों का अंकन किया जाता है उनमें साँप के बच्चे, सेही के बच्चे, गौरैया के बच्चे, श्रवण कुमार, पजन कुमार, घोड़ा, चूहा, हाथी, शिव-पार्वती-गणेश आदि प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त अन्य प्रचलित व्रत-त्योहारों एवं उत्सवों में भी तरह-तरह के रूपाकार चित्रित अथवा मूर्त रूप में बनाये जाते हैं। माध्यम की विविधता के कारण इनके आकार-प्रकार एवं अलंकरण में भी विभिन्नता दिखायी देती है। एक ही माध्यम से अलग-अलग समय में अनेक रूप अंकित किये जाते हैं। ये अत्यंत सहज एवं आकर्षक होते हैं। इनमें भावों की यथातथ्य अनुकृति नहीं होती है वरन् भावों को आदर्श रूप में प्रस्तुत किया जाता है, जो हमें किसी विचार की ओर प्रेरित करती है।

गेरू, छुई, ऐपन आदि से अधिकांशतः रेखिक एवं ज्यामितिक अंकन होते हैं। त्रिभुज और चतुर्भुज का विशेष प्रयोग किया जाता है। आकृतियों के चेहरे त्रिभुजाकार बनाने का उद्देश्य संभवतः (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) की पूजा से है। बीच का धड़ शिव के डमरू के आकार का बनाया जाता है। सम्पूर्ण चित्र की रेखाएँ अत्यंत भावपूर्ण होती हैं। आड़ी रेखा विश्राम की, खड़ी रेखा स्थिरता की, तिरछी रेखा क्रियाशीलता की द्योतक जान पड़ती है। वर्तुल रेखाओं में जीवन, गति और सौंदर्य का भाव परिलक्षित होता है।

विषयवस्तु के आधार पर विभिन्न अवयवों का संतुलित निर्धारण किया जाता है। यदि कोई अवयव उचित से अधिक बड़ा या छोटा हो जाय, तो सम्पूर्ण कृति का संतुलन बिगड़ जाता है। पूरे चित्र में कोई भी अंश ऐसा नहीं होता, जिसे हटाया जा सके। चित्र व्यवस्था में पुनरावृत्ति दृष्टिगत होती है, जैसे-यदि एक से ज्यादा मानव आकृतियाँ बनाना है, तो सभी एक जैसी बनाई जाती हैं। किसी भी चित्र संयोजन में परिप्रेक्ष्य या छाया-प्रकाश का प्रयोग नहीं किया जाता। सम्पूर्ण कथा की घटना को क्रमवार बनाते जाते हैं।

मनुष्य की सहचरी शक्तियाँ वन-वनस्पतियाँ, पशु-पक्षी, सागर-पहाड़, भूत-प्रेत, देवता-राक्षस, हवा-पानी और न जाने कितने जागतिक अस्तित्व लोक कथाओं में उसके साथ हो लेते हैं, उनके सखा-शत्रु या रक्षक-भक्षक बनकर। बहुत स्पष्ट तथ्य यह भी है कि यह लोक कला प्रकृति की उपयोगिता से जुड़ी हुई है। इसका प्रमाण वृक्ष संबंधी लोक-विश्वास हैं। वृक्षों पर देवों का वास, वृक्षों की पूजा, बेलपत्र शिव का आहार, बाँस जलाने से वंश का नाश, आँवले की पूजा से पापों का नाश, तुलसी दल से मोक्ष, महुआ पूजा से वर प्राप्ति आदि लोक विश्वासों का मूल कारण वृक्षों की सुरक्षा है।



गोबर को भी कलात्मक रूप देना और उसकी पूजा करना मानव के पशुधन के महत्त्व को दर्शाता है। गोधन, दोजें, अन्नकूट आदि में गोबर की आकृतियाँ बनाकर पूजन करते हैं। इसकी आकृतियों में अलंकरण की बारीकियाँ नहीं होती, किन्तु इसके मोटे-मोटे रूपाकार अपने आपमें पूर्ण भावों को व्यक्त करते हैं। इन्हें महिलाएँ बिना किसी उपकरण के अपने हाथों से बनाती हैं। मानव आकृति जो जमीन पर लेटी हुई बनायी जाती है, उसमें हाथ पैर की अंगुलियाँ, सिर, मुँह, कान, आँख आदि बनाये जाते हैं। त्रिआयामी मानव आकृतियों में केवल पाँच कोने

बनाये जाते हैं। इनमें से किसी भी दो कोनों को पैर और शेष बचे तीन कोनों में से बीच के कोने को सिर मान लिया जाता है। बाद में इनके कंडे बना लिये जाते हैं। आज भी ग्रामीण क्षेत्रों में ईंधन के लिये कंडे अत्यंत आवश्यक हैं। किसान वर्ग दशहरे पर बनाये जाने वाले कंडों में अनाज बो देते हैं, इनके अंकुरण से इस बात का अनुमान लगाया जाता है कि वर्ष की फसल कैसी होगी। कच्चे घरों को इससे लीप-पोतकर साज-सज्जा की जाती है। गोबर की इन उपयोगिताओं को ध्यान में रखकर ही इस प्रकार के व्रत-त्योहारों का प्रचलन हुआ होगा।

कच्ची मिट्टी से जो आकृतियाँ बनायी जाती हैं, उनमें ऊपर

से चने की दाल-मिट्टी आदि चिपकाकर सुन्दर अलंकरण किया जाता है। इनमें महालक्ष्मी का हाथी कला एवं संतुलन की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। हाथी के मोटे, पोले धड़ को चार पैरों पर विशेष अनुपात में संतुलित किया जाता है। शरीर का एक-एक अंग उसके भारी-भरकम व्यक्तित्व को इंगित करता है। उस पर लगे मिट्टी के दिये और चने की दाल उसकी भव्यता को द्विगुणित करते हैं। कहीं-कहीं कच्ची मिट्टी के बने शिव-पार्वती एवं बारामासी खेल-खिलौनों को सुखाकर छुई पोत देते हैं, फिर उन्हें लाल, पीले, हरे, नीले रंगों से रंग दिया जाता है। अंत में काली रेखाओं द्वारा नाक, आँख आदि का अंकन कर उन्हें पूर्ण किया जाता है।

कुम्हारों द्वारा बनाये जाने वाले पकाई-मिट्टी के शिल्पों में अलंकरण कुछ अधिक होता है। छोटे-छोटे धारदार, नोकदार स्वनिर्मित औजारों द्वारा इनमें बारीक अलंकरण किया जाता है। दीपावली के खेल-खिलौनों, लक्ष्मी-गणेश, अक्ती के गुड्डे-गुड्डियों एवं घुल्लों (घोड़ों) आदि में इस प्रकार का अलंकरण विशेष रूप से देखने को मिलता है। ये सभी रंग कर बनाये जाते हैं। इन पर किया जाने वाला रंग, भिंडी के लस और सरस में पकाकर बनाया जाता है। रंग-बिरंगी छटा बिखेरता इनका प्रत्येक रूप अपनी ओर आकर्षित करता है।

विशेष अवसरों एवं व्रत-त्योहारों में पकवानों पर एक से एक सुन्दर अलंकरण किये जाते हैं। महिलाएँ इनमें हाथ से ही भिन्न-भिन्न प्रकार के रूप गढ़ती हैं। कभी अंगूठे से दबाकर, कभी चुटकी से पकड़कर, कभी नाखून से काटकर बनाती है।

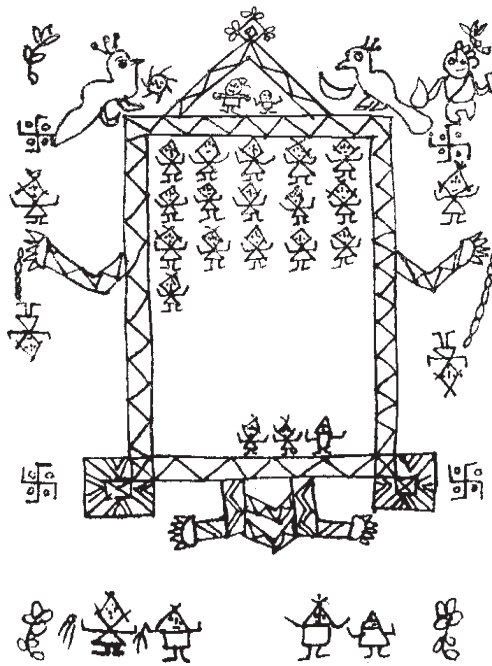
प्रायः सभी घरों में विवाह के समय द्वार सजाने की प्रथा है। बाहरी द्वार के दोनों ओर विवाह संबंधी बने चित्रों को दूर से ही देखने से ज्ञात हो जाता है कि इस घर में लड़के की शादी हुई या लड़की की। लड़के की शादी में द्वार के दोनों ओर चंवर-

चंवरी, घोड़ा-घुड़सवार, दूल्हा-दुल्हन आदि का अंकन किया जाता है। लड़की की शादी में समधी-समधन और हास्य व्यंग्य की आकृतियाँ बनाई जाती हैं। ये आकृतियाँ अत्यंत सादे रूपाकारों में हल्दी, गेरू अथवा आलता से बनायी जाती हैं। संभवतः ये आकृतियाँ नववधू के अच्छे संस्कारों को परखने अथवा स्वयं के घर के संस्कारों से उसे अवगत कराने के उद्देश्य से लिखी जाती हैं। समधी-समधन के हास्य-व्यंग्य के चित्र आपसी संबंधों को मधुर एवं सरस बनाने के उद्देश्य से बनाये जाते हैं।

मंगल कार्य अथवा विवाह आदि के शुभ अवसर पर मेहंदी-माण्डणे की परम्परा पीढ़ी दर पीढ़ी चली आ रही है। अलग-अलग त्योहारों पर मोर, कलश, शंख, कैरी, चौपड़, चाँद, सूरज, बूटा, त्रिफुलिया, पान-फूल आदि विभिन्न रूपों का अंकन हाथ और पैर के पंजों के अनुरूप किया जाता है। कलश, शंख, चाँद, सूरज आदि का संबंध देवी-देवताओं से है, अतः इनका अंकन सदैव हाथ के पंजों पर ही किया जाता है। अंगुलियों के लिये बेलबूटों का और कलाई के लिये कलश, शंख आदि रूपों का चयन किया जाता है। बारीक रेखाओं के लिये पतली सींक का प्रयोग किया जाता है।

जबलपुर के जन-जीवन का एक बहुत बड़ा समूह आज भी अपनी परम्पराओं को निभाने, मानने और उनसे संबंधित कलाओं की रक्षा करने में गौरव का अनुभव करता है। लोगों में अपनी संस्कृति, कला और जीवन के प्रति असीम लगाव को यहाँ अनुभव किया जा सकता है। यहाँ के व्रत-त्योहार एवं उत्सवों से जुड़ी कलाओं का जीवन्त सिलसिला हर जाति, समुदाय और परिवार में प्रकट होता है। आज के व्यस्त जीवन में भी संस्कारधानी की धार्मिक मानसिकता ने लोक-कला के पारम्परिक रूप को बचाये रखने में अहम भूमिका निभाई है।

समय, परिस्थिति और नई विचारधारा के प्रभाव से इन



कलाओं का बाह्य स्वरूप कहीं-कहीं परिवर्तित हुआ सा जान पड़ता है, किन्तु उनकी आत्मा का मूल वही है, जो सैकड़ों वर्ष पहले था। पारम्परिक कलाओं का सुखद और आश्चर्यजनक पहलू है। उनका वैभव आज भी ताजगी से परिपूर्ण और बुनियादी रूप से लोक मान्यताओं को लिये हुए है। धार्मिक परम्पराओं से संबंधित कलाओं में जनसाधारण का आत्मविश्वास, आत्मबल और आत्मसौष्ठव सहज रूप से देखा जा सकता है। ये लोक-कलाएँ उनकी शक्ति और शील भावना का प्रकाशन हैं। ये किसी न किसी कथा-कहानी के साथ जुड़ी हुई हैं। लोक कथाएँ उनके संस्कारों की कल्पना एवं यथार्थ अवलोकन का सममिश्रण होती हैं। दरअसल कथा और दृश्यांकन एक-दूसरे के पूरक बनकर पारिवारिक संबंधों की सूक्ष्म व्यंजना करते हैं। परिवार का जो सदस्य कुशलता से अंकन कर लेता है, वह कथा का दृश्यांकन कर देता है और जो कथा सुन्दर ढंग से कह लेता है, वह कथा कहता है। इस प्रकार मिल-जुलकर कोई धार्मिक कार्य सम्पन्न होता है।

इस मौखिक विपुल भण्डार का सदियों से हस्तांतरण होता आ रहा है, न जाने कितने अंकन हुए और मिट गये, क्योंकि ये धर्म-कार्य के लिये अनुष्ठानिक होते हैं, स्थाई नहीं होते। यही कारण है कि इनमें कुछ परिवर्तन भी आ गए हैं। कहीं-कहीं मौलिकता का हास होता भी दिखाई देता है। यह सत्य है कि जब

वे लोक-कलाएँ, लोक-विश्वासों के रूप में जन्मी थी, तब उनके आधार निश्चित थे। आज की आधुनिक सभ्यता के कारण उनमें विशेष परिवर्तन आ गये हैं अथवा बहुत से परिवारों में उन्हें छोड़ दिया गया है।

समय के साथ-साथ लोगों की आस्थाएँ और मान्यताएँ भी बदल रही हैं। भौतिक सुख-सुविधाओं को प्राप्त करने की होड़ में मनुष्य आध्यात्मिक चिन्तन को त्याग रहा है, जिसके कारण मानव और प्रकृति के पूर्व स्थिर संबंध टूटते जा रहे हैं। जगत से मोक्ष पाने का उत्साह अब उतना प्रभावी नहीं रहा तथा आत्मा और परमात्मा संबंधी चिन्तन भी बहुत कम हो गया है। धार्मिक मान्यताओं और उनसे संबंधित कला को लेकर नई पीढ़ी के सामने भ्रम की स्थिति उत्पन्न हो गई है, क्योंकि उनके प्रश्नों का सटीक उत्तर नहीं मिल पा रहा है।

विश्वासों के टूटने और मनुष्य के संस्कृति विहीन होने की सबसे बड़ी चुनौती आज मानव सभ्यता के सामने है। अब लोग बड़ी तीव्रता से यह अनुभव करने लगे हैं कि लोक-विश्वास यदि इसी तरह टूटते रहे तो वह दिन दूर नहीं, जब मनुष्य का सबसे बड़ा दुश्मन वह स्वयं होगा। यही कारण है कि लोग आज पुनः अपनी सांस्कृतिक धरोहर और लोक-विश्वासों की जड़ों की ओर मुड़ रहे हैं।

गोंड जनजाति की पुराण कथाएँ

निरंजन महावर

प्रत्येक समाज के अपने मिथक होते हैं, जो उस समाज की परंपराओं के उनके धर्म के तथा उनके सामाजिक दर्शन के अभिन्न अंग होते हैं। पिछड़ी हुई जनजातियों में तो वे सामाजिक ताने-बाने का नियमन तक करते हैं। सृष्टि की उत्पत्ति के मिथक लगभग संपूर्ण विश्व में विद्यमान हैं और उनमें महाप्रलय के बाद सृष्टि की पुनर्चना की कथा लगभग समानरूप से पायी जाती है। देवी-देवताओं की उत्पत्ति के मिथक, पशु-पक्षियों तथा वनस्पतियों की उत्पत्तियों से संबंधित मिथक, जनजातियों की उत्पत्ति से संबंधित मिथक एवं प्राकृतिक शक्तियों से संबंधित मिथक आदि न केवल किसी भी समाज के आचार-विचार को निर्धारित करते हैं, वरन् वे उनकी विश्व दृष्टि का भी निर्माण करते हैं। अतः किसी भी समाज के धर्म का अध्ययन उनकी पुराण कथाओं के बिना अपूर्ण माना जाएगा। जनजातियों की पुराण कथाओं का अध्ययन तो और भी अधिक आवश्यक है, क्योंकि उनकी सामाजिक व्यवस्था में पुराण कथाओं का प्रभाव बहुत प्रबल एवं प्रभावकारी है।

सभी नृतत्वशास्त्रियों ने जनजातियों के अध्ययन में मिथकों के अध्ययन को सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना है। अनेक विद्वानों ने जनजातियों का अध्ययन करते समय उनकी पुराणकथाओं को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया है। फादर हिस्लप, केप्टेन जे. फोरसिथ, ग्रीग्सन, रसेल तथा हीरालाल, वेरियर एल्विन तथा हैमनडार्फ जैसे विद्वानों ने जिन्होंने गोंड जनजाति या गोंड जनजाति की किसी उपजाति का अध्ययन किया है, उन्होंने इस जनजाति की पुराण कथाओं का व्यापक संग्रह अपने ग्रन्थों में प्रस्तुत किया है। एस. हिस्लप ने सर्वप्रथम 'लिंगोपेन' की गाथा का प्रलेखन नागपुर में एक परधान गायक से सुनकर किया था। केप्टेन फोरसिथ ने इस गाथा को पद्यबद्ध रूप में प्रस्तुत किया। वेरियर एल्विन ने इस गाथा के विभिन्न पाठान्तरों का संकलन छिंदवाड़ा, बैतूल, दुर्ग तथा बस्तर के पृथक-पृथक स्थानों

से करके अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'मुरिया एण्ड देयर घोटुल' में उन्हें प्रकाशित किया। हैमनडार्फ ने इसी गाथा के आदिलाबाद गाथा का पाठान्तर प्रकाशन किया। वेरियर एल्विन ने मध्यवर्ती भारत की अनेक जनजातियों की पुराण कथाओं के तथा उड़ीसा की जनजातियों की पुराण कथाओं के संकलन का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है, जिन्हें दो ग्रन्थों 'ट्राइबल मिथ्स ऑफ मिडिल इन्डिया' तथा 'ट्राइबल मिथ्स ऑफ उड़ीसा' के रूप से प्रकाशित किया है। इन दोनों ग्रन्थों में लगभग 1500 मिथ कथाएँ संकलित हैं, जिनमें से बहुत सी कथाएँ गोंड जनजाति तथा उसकी उपजातियों की हैं। इस आलेख में कुछ महत्त्वपूर्ण गोंड मिथ कथाएँ प्रस्तुत की जा रही हैं, जिनसे इस जनजाति की विश्व दृष्टि का अध्ययन करने में सहायता मिलेगी।

सृष्टि की उत्पत्ति की गोंड पुराण कथा

आरंभ में सर्वत्र जल ही जल था, ऐसे समय कमल के एक पत्ते पर भगवान का जन्म हुआ। वे उस समय एकाकी थे। उन्होंने अपनी देह को मलकर उससे थोड़ा सा मैल उतारा और उससे एक कौवे का निर्माण किया। वह कौवा तुरन्त उड़कर उनके कन्धे पर बैठ गया। इसके पश्चात् उन्होंने एक केकड़ा भी बनाया, जो जल में तैरने लगा। भगवान ने कौवे से कहा कि उड़कर जाए और कहीं से कुछ मिट्टी लेकर आये। कौवा दूर-दूर तक उड़कर मिट्टी खोजता रहा, परन्तु उसे भूमि कहीं भी दिखाई नहीं पड़ी, परन्तु उसने देखा कि केकड़ामल क्षत्री जल के तल में एक पैर पर खड़ा है। कौवा उड़ते-उड़ते बहुत थक गया था, इसलिए वह केकड़ामल क्षत्री की पीठ पर बैठ गया। उसकी पीठ नर्म थी, अतः उस पर कौवे के पंजे के निशान बन गये, जो आज भी सभी केकड़ों की पीठ पर दिखाई देते हैं। कौवे ने केकड़ामल क्षत्री से पूछा- 'कहीं मिट्टी का पता चला क्या?' केकड़ामल ने कहा कि यदि भगवान उसके वदन को कठोर बना दें, तो उससे कुछ मिट्टी मिल सकती है। भगवान ने केकड़ामल की पीठ को कठोर बना दिया, जो आज तक वैसी ही बनी हुई है। उसके उपरान्त केकड़े ने जल में गोता लगाया और समुद्र के तल में उस स्थान पर पहुँच गया, जहाँ पर केंचुआ राजा रहता था। उसने केंचुआ राजा से कुछ मिट्टी मांगी, परन्तु उसने क्रोध से आँखें लाल करके केकड़ामल को धमकाया। केकड़ामल ने केंचुए की गर्दन पकड़कर उसे शक्तिपूर्वक दबाया। केकड़े के पंजों के निशान आज भी उसकी गर्दन पर विद्यमान हैं।

केकड़े के गर्दन भींचने पर केंचुए ने कुछ मिट्टी उगल दी, जिसे केकड़ामल भगवान के पास ले गया। भगवान ने वह मिट्टी जल की सतह पर फैला दी और वहाँ भूमि के कुछ-कुछ स्थल बन गये। भगवान उस भूमि पर चलने लगे, तभी उनके हाथ पर एक फोड़ा उत्पन्न हो गया। उस फोड़े से महादेव और पार्वती उत्पन्न हुए।

महादेव के मूत्र से अनेक वनस्पतियों की उत्पत्ति हुई। उन वनस्पतियों को खाने से पार्वती गर्भवती हो गईं और उन्होंने अठारह ब्राह्मण देवखुलाओं (देव खलियानों) को तथा बारह गोंड देवखुलाओं को जन्म दिया। सभी गोंड वनों में फैल गये। वे सब असभ्य गोंडों की तरह व्यवहार कर रहे थे, न कि सभ्य हिन्दुओं की भाँति, जिसका दुःखद परिणाम इस रूप में हुआ -

गोंड यत्र-तत्र संपूर्ण जंगल में फैल गये। पर्वतों पर, घाटियों में सभी स्थानों पर ये गोंड भर गये थे, यहाँ तक कि वृक्षों पर भी। कैसा आचरण था उनका? जो भी उनके सामने आ जाता, उसे वे मारकर खा जाते थे। वे किसी भी वस्तु में कोई अन्तर नहीं करते थे। यदि उनके समक्ष कोई सियार आ जाता तो उसे वे मार डालते और उसे खा लेते थे, उन्हें कोई फर्क नहीं पड़ता था, चाहे वह हिरण हों या सांभर या कोई अन्य प्राणी। वे किसी का भी सम्मान नहीं करते थे। वे अपने खाद्य-अखाद्य में कैसा भी अन्तर नहीं करते थे, चाहे वह सुअरी हो या बटेर, कबूतर हो या कौवा कोई चील हो या गिद्ध या ऐसा ही कोई अन्य पक्षी। चाहे वह कोई छिपकली हो या फिर कोई मेंढक या भृंग गाय, बछड़ा, फिर भैंस या भैंसा हो, चूहे हों, कोई घूस या गिलहरियाँ हों। वे उन सभी को मारकर उन्हें खा रहे थे। वे कच्ची-पक्की सभी चीजों का भक्षण कर रहे थे, गोंडों का आचरण ऐसा था आरंभ में। वे लगातार छै-छै महीनों तक नहाते नहीं थे, वे अच्छी तरह से मुँह भी नहीं धोते थे। यहाँ तक कि वे घूरे पर गिर जाते थे और वहीं पड़े रहते थे। इस तरह उत्पन्न हुए थे गोंड और ऐसा था उनका आरंभिक आचरण। एक दुर्गन्ध संपूर्ण जंगल में व्याप्त हो गई। गोंडों के ऐसे अराजक व्यवहार से महादेव रूष्ट हो गये। उन्होंने कहा- गोंड जाति बहुत खराब है, मैं उन्हें यहाँ नहीं रखूँगा, वे मेरी धवलगिरि को बर्बाद कर देंगे।

महादेव ने उनसे पिण्ड छुड़ाने का निश्चय करके उन्हें एक

सभा हेतु बुलाया। जब वे सब बैठ गये, तब उन्होंने अपने अंग के मैल से एक गिलहरी बनाई और उसे गोंडजनों के बीच में छोड़ दिया। वे सब गोंड उसके पीछे इस आशा में दौड़ने लगे कि वे उसका आहार कर सकेंगे। वे डंडे, पत्थर तथा ढेले उठाकर उसका पीछा करने लगे और इस स्थिति में उनके खुले हुए केश हवा में लहराने लगे। वह गिलहरी उन गोंडों को चकमा देती हुई एक विशाल कन्दरा में प्रविष्ट हो गई, जैसा कि महादेव ने उसे निर्देश दिया था। गोंडों के कन्दरा में प्रवेश करते ही महादेव ने एक विशाल शिला से उस कन्दरा का प्रवेश द्वार बन्द कर दिया और गोंड उस कन्दरा में बन्द हो गये। केवल चार गोंड बाहर रह गये थे, जो वहाँ से भागकर कचिकोपा लोहागढ़ चले गये, जहाँ वे लाल पर्वत में लोहे की एक कन्दरा में रहने लगे। पार्वती को गोंडों की गंध प्रिय थी और जब वह गंध धवलगिरि से मिट गई, तो उन्होंने उसे पुनः प्राप्त करने हेतु उपवास आरंभ कर दिया। उन्होंने छै माह तक उपवास रखा तथा संयमित रहकर समय बिताया। भगवान उस समय झूला झूल रहे थे। पार्वती की तपस्या से भगवान विचलित हो गये। उन्होंने नारायण (सूर्य) को यह पता लगाने हेतु भेजा कि वह कौन है, जो ऐसी तपस्या कर रहा है। नारायण ने पार्वती के समीप पहुँचकर उनसे पूछा कि वे क्या चाहती हैं। उन्होंने कहा कि गोंडजनों की अनुपस्थिति उन्हें खल रही है और वे उन्हें वहाँ वापस चाहती हैं। नारायण ने भगवान को इसकी सूचना दी तथा उन्होंने कहा कि उन गोंडों को वापस भेज देना चाहिए।

धवलगिरि पर पहिन्डी के पीले फूल खिले हुए थे। भगवान ने वहाँ तूफान तथा बिजली को भेजा और उन फूलों ने गर्भधारण कर लिया। सर्वप्रथम उनसे एक हल्दी या केसर का एक ढेर प्रकट हुआ। प्रातः काल जैसे ही सूर्योदय हुआ, तब एक पुष्प प्रस्फुटित हुआ, जिससे लिंगो उत्पन्न हुआ। लिंगो एक संपूर्ण शिशु था। उसकी नाभि में एक हीरा जड़ा हुआ था और उसके मस्तक पर चंदन का टीका लगा था। वह पुष्प से हल्दी की ढेरी पर जा गिरा। वह हल्दी के साथ खेलते हुए एक झूले पर सो गया। जब वह नौ वर्ष का हो गया, तब उसने कहा कि यहाँ मेरे समान कोई अन्य लोग नहीं हैं, अतः वह ऐसे स्थान पर जायेगा, जहाँ उसे उसके जैसे लोग मिल सकें। वह सुई के समान एक पर्वत पर चढ़ गया, जहाँ से उसे कचिकोपा लोहागढ़ तथा वे चार गोंड दिखाई पड़े। वह उनके पास चला गया। उन्होंने देखा कि वह उनके सदृश्य ही है

और उसे अपना भाई बनने का आग्रह किया। वे केवल पशुओं के मांस का ही आहार करते थे। लिंगो ने उनसे कहा कि वे उसके भोजन हेतु बिना कलेजे वाले पशु की व्यवस्था करें। उन्हें संपूर्ण वन में ऐसा कोई पशु नहीं मिला। तब लिंगो ने उन्हें वृक्षों को काटकर एक खेत तैयार करने को कहा। उन्होंने अंजन वृक्षों की कटाई की, परन्तु उनके हाथों में छाले पड़ गये और वे आगे काम करने में असमर्थ थे। उस समय लिंगो सो रहा था। जब वह उठा तो उसने देखा कि वे मात्र एक दो वृक्ष ही काट पाए थे। उसने कुल्हाड़ी उठाई और बहुत से वृक्ष काट डाले और उस स्थान को घेर कर उसमें एक फाटक भी लगा दिया। उस स्थान पर काली मिट्टी प्रकट हुई। तभी वर्षा होने लगी और तीन दिनों तक निरंतर वर्षा होती रही। सभी नदियों में भरपूर जल प्रवाहित होने लगा। खेत धान के पौधों से हरा-भरा हो गया। उस वन में सोलह कोरी (एक कोरी बीस के बराबर) नीलगाय थीं। उनके दो मुखिया थे, एक वृद्ध नर नीलगाय तथा उसका भतीजा। छोटी नीलगाय ने जब धान का हरा-भरा खेत देखा, तो उसकी लालसा उसे चरने की होने लगी। उसके काका ने उसे मना किया। खेत चरने पर सभी नील गायें मारी जाएँगी, क्योंकि वह खेत लिंगो का है। परन्तु युवा नीलगाय ने उसकी बात को अनसुनी करके सभी नीलगायों को वहाँ चरने के लिए ले गया। खेत में पाँच हाथ ऊँची बाड़ लगी थी। वे बाड़ को फांदकर खेत में घुस गये और संपूर्ण धान को चरकर भाग गये। उस झुण्ड के छोटे प्रमुख ने नीलगायों से कहा कि वे अपने कदम पत्थरों और पत्तों पर ही रखें, भूमि पर नहीं। भूमि पर पैर के निशान न बनने पाए, जिससे कि उनका पीछा नहीं किया जा सके। जागने पर लिंगो अपने खेत को देखने गया और उसने पाया कि खेत का संपूर्ण धान चरा जा चुका है। वह समझ गया था कि यह काम नीलगायों का ही है और उसने भाइयों को बताया कि कैसे उनका पीछा किया जा सकता है। भूमि पर पूर्ण सावधानी बरतने के उपरान्त भी चिन्ह वहाँ मौजूद थे। उन्होंने नीलगायों को खोज लिया और घेर कर सबको धनुष बाणों से मार डाला। केवल एक वह वृद्ध तथा एक युवा हिरणी बच पाए। वृद्ध प्रमुख इसलिए बच सका, क्योंकि वह निर्दोष था। लिंगो का बाण उससे टकरा कर वापस लौट आया। इस प्रकार से नीलगायों का वंश सुरक्षित रह सका। लिंगो ने अपने भाइयों को अग्नि उत्पन्न करना सिखाया और कहा कि उन नीलगायों को आग में भून लें।

लिंगो ने गोंडजनों को कृषि के उपकरण प्रदान किये तथा उन्हें खेती करना सिखाया। उन्हें अग्नि प्रदान की तथा मांस का तथा अन्य भोज्य पदार्थों को पकाकर खाना सिखाया। वह उन्हें भीषण बाढ़ आने पर सुरक्षा हेतु बस्तर की उच्च समभूमि पर ले गया और उन्हें वहाँ बसाया। लिंगो ने बस्तर की मुरिया जाति को घोटुल संस्था प्रदान की और उन्हें नृत्य करना सिखाया। उसने गोंडजनों को सोलह संगीत वाद्य प्रदान किये। लिंगो का गोंड जनजाति को अवदान महान है। लिंगो के अवदान में महुए द्वारा निर्मित मदिरा भी एक महत्वपूर्ण वस्तु है, जो उनके लिए सर्वाधिक आनन्द प्रदान करने वाली है।

प्रमुख गोत्र अभिप्रायों की उत्पत्ति

गोत्र अभिप्रायों की उत्पत्ति में गोंड जनजाति की ऐसी मान्यता है कि इन प्राणियों अथवा जीव जन्तुओं ने प्राचीन काल में इन लोगों की रक्षा या सहायता की है। कुछ लोग इन्हें अपना पूर्वज एवं पूज्य मानते हैं तथा न तो इन्हें मारते हैं, न ही इनके मांस का आहार करते हैं। संपूर्ण गोंडवाना क्षेत्र के समस्त कोईतुरों के गोत्रों का यदि सर्वेक्षण किया जाये तो उनकी संख्या कई सौ तक पहुँच जाएगी। अतः उनके जो प्रमुख भाईबंदी गोत्र अभिप्राय हैं तथा अन्य कुछ प्रमुख गोत्रों की उत्पत्ति का वर्णन ही पर्याप्त होगा।

बैतूल जिले से गंगाप्रसाद खत्री ने कुछ गोत्रों की उत्पत्ति से संबंधित सामग्री एकत्र की है, जिसका रसेल एवं हीरालाल ने अपने ग्रन्थ में उल्लेख किया है। यहाँ उन्हें उद्धृत किया जा रहा है-

(1) गज्जामी, धुरवा गोत्र का एक उपगोत्र - गज अर्थात् बाण, इनके एक पूर्वज ने बाण (तीर) से एक बाघ का शिकार किया था। इस कारण से इस गोत्र का गज्जामी नामकरण हुआ। इनका अभिप्राय बाण है।

(2) गौरी बंस धुरवा- इनके प्रथम पूर्वज ने अपने देवताओं की पूजा बांस के पिंड (बसनउच) में की थी। अतः इनका गोत्र गौरी बंस हो गया। ये लोग बाँस के पिण्ड को कोई हानि नहीं पहुँचाते।

(3) कसदया धुरवा, धुरवा गोत्र का एक उपगोत्र - इनके प्रथम पूर्वज को एक वृक्ष पर कोसे का एक कोया दिखाई पड़ा। उसने उस कोये में अपने देवताओं की पूजा की।

(4) कोहका पाथ - कोहका अर्थात् भिलावा का फल तथा पाथ अर्थात् बालक। इसके गोत्र के प्रथम पूर्वज ने सर्वप्रथम अपने देवताओं की पूजा भिलावा के वृक्ष में की थी तथा उसे एक बालक की बलि प्रदान की थी। इस गोत्र के लोग भिलावा के फल या फूलों को नहीं खाते।

(5) जगल्या- जो या तो सोता नहीं या जो जगाने का काम करता है। इनका प्रथम पूर्वज देवखुला (देवस्थान) में संपूर्ण रात्रि जाग रहा था, अतः इस गोत्र का नाम जगल्या पड़ गया।

(6) सरियाम- सरियाम अथवा पथ। इस गोत्र के प्रथम पूर्वज ने देवखुला के पथ की झाड़ू से सफाई की थी।

(7) गुड्डम- गुड्डा उस स्थान को कहते हैं, जहाँ मुर्गी अण्डे देती है। इस गोत्र के प्रथम पूर्वज को मुर्गी ने देवखुला में अण्डे दिये थे। अतः इनके गोत्र का नाम गुड्डम पड़ गया।

(8) इरपाची अर्थात् महुए का वृक्ष-महुए के वृक्ष की उत्पत्ति देवखुला में हुई थी, अतः महुए का वृक्ष एक पवित्र वृक्ष है। इस गोत्र के लोग महुए के वृक्ष को नहीं काटते।

(9) अदमाची अर्थात् धवड़ा वृक्ष- इनके प्रथम पूर्वज ने अपने देवताओं की स्थापना धवड़ा वृक्ष के नीचे की थी। अतः धवड़ा वृक्ष इनके लिए पवित्र है और वे उसे किसी भी प्रकार से हानि नहीं पहुँचाते।

(10) सराती धुरवा अर्थात् कोड़ा या हंटर-इनके प्रथम पूर्वज ने कोड़े मारकर देवताओं के पुजारी की पिटाई की थी।

(11) सुइबादिवा अर्थात् सेही- इस गोत्र के प्रथम पूर्वज की पत्नी के पास एक सेही थी, जो एक वृद्ध के खेत की फसल को चर जाती थी। उसने उसे पकड़ने का प्रयास किया, परन्तु वह उसे पकड़ नहीं सका। वह खेत में चरकर उस स्त्री के पास वापस चली जाती थी। उस वृद्ध ने उस स्त्री से उसका कौन सा गोत्र है पूछा। वृद्धा कुछ समझ नहीं सकी कि उससे क्या पूछा जा रहा है, उसने कहा 'सुइबादिवा' और तब से ही यह उनका गोत्र हो गया। इस गोत्र का अभिप्राय सेही हो गया।

(12) वटका अर्थात् पत्थर- इस गोत्र के लोग पाँच देवताओं के प्रतीक स्वरूप पाँच पत्थरों की पूजा करते हैं। कुछ लोगों का

कहना है कि इस गोत्र के प्रथम पूर्वज युवक थे, जो यह नहीं जानते थे कि देवखुला कहाँ हैं। अतः उन्होंने पाँच पत्थर स्थापित कर उन्हें एक मुर्गे की बलि प्रदान की। चूँकि उन्होंने बकरे की बलि नहीं चढ़ाई थी, इसलिए वे बकरे के मांस का आहार नहीं करते।

(13) तुमरेचावाइका अर्थात् तेंदू वृक्ष- ऐसा कहा जाता है कि इस गोत्र का प्रथम पूर्वज वन में अपनी गर्भवती पत्नी के साथ भ्रमण कर रहा था। उसकी पत्नी ने जब कुछ तेंदूफल देखे तो उसे उन्हें खाने की इच्छा हुई। संभवतः इसके पूर्व यह मान्यता रही होगी कि तेंदू के फल खाने के कारण वह गर्भवती हुई होगी। इस गोत्र के सदस्य तेंदू के फल तो खाते हैं, परन्तु वे न तो इसके वृक्ष को काटते हैं और न ही उसके पत्तों को किसी भी रूप में उपयोग में लेते हैं।

(14) तुमदान वाइका- तुमदान एक प्रकार का कद्दू या लौकी प्रजाति का फल है। उनका कहना है कि इसकी लता देवखुला में ऊगती है। इस गोत्र के सदस्य अपने घर में इससे पानी तो पी लेते हैं, परन्तु इसे लेकर घर से बाहर नहीं जाते।

(15) गधामार उइका अर्थात् गधे को मारने वाला- कुछ लोग मानते हैं कि इस गोत्र के प्रथम पूर्वज ने एक गधे की हत्या की थी, जबकि कुछ अन्य लोगों की मान्यता यह है कि इनके प्रथम पूर्वज ने गधे की देवखुला में हत्या की थी।

(16) सटी-कुमरा अर्थात् बकरा- इस गोत्र के लोग पूर्वकाल में अपने देवताओं को एक ब्राह्मण बालक की बलि चढ़ाते थे। एक बार एक चोरी गये बालक के माता-पिता ने उन्हें पकड़ लिया। उन्होंने देवताओं से प्रार्थना की कि उस बालक की रक्षा करें। तभी वह बालक एक बकरा बन गया। इस गोत्र के लोग बकरे का न तो मांस ही खाते हैं न ही उसे मारते हैं और न ही देवताओं को उसकी बलि प्रदान करते हैं।

(17) अहके अर्थात् नदी के दूसरी ओर का किनारा- इस गोत्र के सदस्यों का कहना है कि धुरवा गोत्र का एक व्यक्ति नदी के दूसरी ओर की एक स्त्री से विवाह करके ले आया था और उसने ही इस गोत्र की स्थापना की।

(18) तिरगाम अर्थात् अग्नि- इस गोत्र के सदस्यों का कहना है कि इनका एक पूर्वज का हाथ उस समय देवखुला में

जल गया था, जब वह बलि हेतु भोजन तैयार कर रहा था।

(19) टेकाम अर्थात् टीक का वृक्ष- इस गोत्र के देवता टीक (सागौन) वृक्ष में निवास करते हैं। इस गोत्र के सदस्य टीक के पत्तों में भोजन नहीं करते, परन्तु घर के छप्पर की छवाई में उसके पत्तों का उपयोग करते हैं।

(20) मनाया- गोंडी भाषा में मनि याने पुत्र तथा अपा याने पिता। इस गोत्र के सदस्यों का कहना है कि इनके पूर्वजों ने एक ब्राह्मण पिता और पुत्र की बलि चढ़ाई थी और वे बकरा बनने से बच गये थे। जैसा कि एटी कुमरा वाले मामले में हुआ था। इस गोत्र के लोग न तो बकरे को मारते हैं, न ही उसका मांस खाते हैं।

(21) कोरपाची अर्थात् मुर्गे की बीट- इस गोत्र के प्रथम पूर्वज ने मुर्गे की बीट अपने देवताओं को भेंट में चढ़ाई थी।

(22) मण्डनी अर्थात् स्त्री की जनेन्द्री- इस गोत्र का प्रथम पूर्वज अपनी पत्नी के साथ देवखुला में सो गया था।

(23) पैय्याम अर्थात् बछिया- इस गोत्र के लोग अपने देवताओं को बछिया की बलि चढ़ाते हैं। दूसरे लोगों का कहना है कि इस गोत्र का कोई देवता ही नहीं है। इन्हें गोंड समाज में सर्वाधिक निम्न कोटि का माना जाता है।

गोंड जनजाति के गोत्र पाँच प्रमुख गोत्र भाईबंदी में बंटे हुए हैं, जैसा कि पूर्व में ही उल्लेख किया गया है। अतः ये तीन गोत्र अभिप्राय ही प्रमुख गोत्र हैं, जिनके आधार पर विवाह सम्बन्ध निर्धारित होते हैं। ये पाँच गोत्र हैं- नागवंश, कच्छिमवंश, कुंजामी या बकरावंश तथा सोरी अथवा बाघ वंश। परन्तु भिन्न-भिन्न स्थानों पर इनमें भिन्नता भी देखने को मिलती है। उदाहरणार्थ उसेंडी अबूझमाड़ का एक प्रमुख गोत्र है, परन्तु कोण्डागाँव क्षेत्र में इस गोत्र से कोई भी गोंड परिचित नहीं है। गोत्रों की उत्पत्ति तथा अभिप्रायों से सम्बन्धित कुछ दिलचस्प कथाओं का उल्लेख वेरियर एल्विन ने अपने ग्रन्थ 'मुरिया एण्ड देयर घोटुल' में भी किया है, वे यहाँ प्रस्तुत हैं -

पृथ्वी के निर्माण के उपरान्त उसे स्थिरता प्रदान करने हेतु लिंगो तथा उसके भाइयों ने उस पर विशाल पर्वत रख दिये और उस पर एक नदी प्रवाहित कर दी। पृथ्वी (भूदेवी) रोने लगी-

यहाँ मेरी पूजा एवं सेवा करने वाला कोई भी नहीं है। लिंगो ने उससे कहा- दुखी मत हो। हम तुम्हारे लिए पुजारी की व्यवस्था करेंगे। लिंगो अपने भाइयों के साथ लंजीगढ़ गये, जहाँ नेतामी राजा रहता था। उसके सात पुत्र एवं सात पुत्रियाँ थीं। लिंगो ने उनसे कहा- 'मध्य लोक में पृथ्वी बनकर तैयार है। हम तुम्हें लेने आए हैं।' यह सुनकर राजा नेतामी राजा मरकाम अपने बेटे-बेटियों तथा सोरी, कवाची, पोयामी, कुहरामी तथा कादो प्रजाजनों के साथ मध्यलोक के लिए चल पड़े। राजा नेतामी और राजा मरकामी के पास बहुत अधिक साजो सामान था, इसलिए वे धीरे-धीरे चल रहे थे, जिसके कारण वे अन्य लोगों से पीछे रह गये थे। मार्ग में एक विशाल नदी मिली। लिंगो ने भाइयों से कहा कि हम लोग तो देवता हैं, इसलिए नदी को पार कर लेंगे, परन्तु ये मनुष्य कैसे पार करेंगे। लिंगो ने नदी तट पर उगी हुई घास से एक रस्सी बनाई और उसे नदी के दोनों किनारों पर फैला दिया। प्रजाजन रस्सी की सहायता से पार उतर गये। वे राजा से द्वेष रखते थे, अतः उन्होंने रस्सी को काट दिया। राजा नेताम तथा राजा मरकाम को इस बात की जानकारी नहीं थी और वे रस्सी पकड़ कर नदी पार करने लगे। वे मझधार में पहुँचकर डूबने लगे। वे रोने लगे। उनके रोने की आवाज सुनकर डंडी मछली जो सभी जलचरों की रानी है, उसने एक कछुवे को उनकी सहायता के लिए भेजा। तब से नेतामी तथा मरकामी कछुवे को अपना देवता मानने लगे।

नेतामी गोत्र की उत्पत्ति

दो बच्चे जो भाई-बहन थे, वे नदी किनारे बैठ कर रो रहे थे। तभी एक कछुवा आया और उसने लड़की को दूसरे किनारे पहुँचा दिया और चला गया। दोनों बच्चे नदी के दो किनारों पर रो रहे थे। तभी एक कुत्ते ने आकर लड़के को अपनी पूँछ पकड़ाकर पार लगाया। तबसे ही इनका पूज्य नेतामी अर्थात् कुत्ता हो गया, परन्तु वे कछुवे की भी पूजा करते हैं।

कछुवा तथा बड़ादेव

सर्वप्रथम वारंगल से बारह कोइतुर भाई बस्तर आए थे। नदी में बाढ़ आने वाली थी। छै भाइयों ने जल्दी से चावल को पानी में मिलाकर खा लिया और नदी पार कर गये। दूसरे छै भाइयों ने चावल में घी मिलाया, जिससे चावल पकने में विलम्ब हो गया और वे नदी के तट पर बैठकर रोने लगे। तभी एक कछुवे ने

आकर उनसे कहा कि यदि वे उसकी पूजा करेंगे और कभी भी किसी कछुवे को नहीं मारेंगे और न ही उसका मांस खायेंगे, तो वह उन्हें नदी पार करवा देगा। उन्होंने कसम खाई कि वे कभी भी ऐसा नहीं करेंगे। कछुवे ने उन्हें नदी पार करवा दी। तब से वे छै भाई उसे बड़ादेव के रूप में पूजने लगे। डोंगर में बड़ादेव कछुवे के रूप में विचरण करते हैं।

बोड मछली और काणा पेन

जंगल में एक बहुत बड़ा तालाब था। भारी वर्षा के कारण तालाब का बांध टूटने की आशंका से उसके नीचे की ओर बसे हुए एक गाँव के लोगों ने सोचा कि यदि बांध टूटा तो सब बह जायेंगे, अतः एक नाली बनाकर उसके जल को दूसरी ओर मोड़ देना चाहिए। जब नाली पूरी नहीं बनी और सब लोग थक गये, तब उन्होंने सोचा कि काणा से कहा जाय कि वह नाली खोदने का काम करे। जब वह अपने लकड़ी के फावड़े से खुदाई कर रहा था, तब गाँव के लोग सुस्ता रहे थे। उन्होंने कहा कि यदि काणा को तालाब में फेंक दिया जाए तो काम जल्दी पूरा हो जाएगा। जब काणा ने यह सुना तो वह भय से तालाब में कूद गया और पानी में बहने लगा। उस तालाब में एक विशाल मछली रहती थी। उस मछली ने क्रोधित हो उसकी एक आँख खा ली। तब से काणाबोद नदी में ही रहने लगी और हम देवता के रूप में उसकी पूजा करने लगे।

सोरी अथवा बाघ गोत्र

दो बालक उत्पन्न हुए, जिनमें से एक बाघ था और एक मानव। जब बालक बड़े हुए तो उनमें से एक बालक अपने अन्य ग्यारह भाइयों के साथ खेत की ओर जा रहा था। उसी समय एक बाघ आया और उसने पूछा कि तुम लोग कौन हो? यह सोचकर कि बाघ अपने स्वजातीय को नहीं खाएगा, पारी-पारी से उन सभी ने कहा कि हम बाघ हैं। यह सुनकर बाघ ने उन्हें छोड़ दिया। जब उसने वास्तविक सोड़ी से पूछा कि तुम कौन हो तो उसने कहा कि वह सोड़ी है। बाघ ने क्रोधित होकर कहा- सब लोग सोड़ी नहीं हो सकते और वह उसे खा गया। तब से हम लोग बाघ से नाराज हैं और जब भी कोई बाघ मारा जाता है, तो हम लोग उसके मुँह में एक पैसा तथा एक अंडा रख देते हैं।

सोरी गोत्र में मधुमक्खी भी उनका गोत्र अभिप्राय है। बारह भाई एक बार शहद के लिए वन में गये। वहाँ उन्होंने नदी तट पर एक वृक्ष देखा। उस वृक्ष का प्रतिबिम्ब नदी में दिखाई पड़ रहा था, जिस पर मधुमक्खी के छत्ते लगे हुए थे। ग्यारह भाई शहद प्राप्त करने के लिए नदी में कूद पड़े और डूब गये। सबसे छोटा भाई तब तक वृक्ष पर लगे हुए छत्ते की ओर देख रहा था। वह शहद हेतु वृक्ष पर चढ़ गया और उसे वह मिल गया। इस प्रकार से सोरी गोत्र की उत्पत्ति हुई।

कुछ गोत्रों की उत्पत्ति स्वप्नों के आधार पर हुई प्रतीत होती है, तो कुछ गोत्रों की उत्पत्ति निवास स्थान परिवर्तनों के कारण। एक युवती के पति की मृत्यु युवावस्था में ही हो गई। वह दुःख में विलाप कर रही थी। उसे स्वप्न में उसके पति ने आकर कहा- 'मेरी पूजा दूल्हा देव की तरह करो, तो मैं तुम्हारा बना रहूँगा'। दूसरे दिन उसने दूल्हा देव की पूजा की। उसके उपरांत प्रत्येक रात्रि में उसका पति आकर उसके साथ शयन करने लगा। वह गर्भवती हो गई और उसने एक पुत्र को जन्म दिया। उस गाँव के बड़े बुजुर्गों ने उससे पूछा कि वह बालक किसका पुत्र है? उसने कहा- 'यह बालक दूल्हा देव का पुत्र है।' वे सब उसकी बात पर हँस रहे थे कि तभी वह मृत बालक घर से बाहर निकला। तब सभी लोगों ने स्वीकार किया कि वह वास्तव में दूल्हा देव ही था, जिसने वह बालक प्रदान किया था। इसीलिए हम नेतामी लोग अपने आपको उसी के वंश का कहते हैं और हमारी स्त्रियाँ चूड़ी नहीं पहनती।

नेतामी और पोयामी दोनों का ही गोत्र अभिप्राय कछुवा है और दोनों की उत्पत्ति समान माता-पिता से हुई है। अकाल के समय एक पोयामी-नेतामी के घर कुछ अन्न मांगने गया, तो नेतामी ने यह कहकर उसे मना कर दिया कि उसके पास अन्न नहीं है। तब पोयामी ने कहा कि तुम काम धंधा करने के लिये मेरी बेटी को रख लो। इस बात पर राजी होकर उसने उसकी लड़की को रखकर उसे अनाज दे दिया। जब पोयामी लड़की को लेने नहीं आया, तो उसने उस लड़की से विवाह कर पत्नी बना लिया। उस लड़की ने एक कन्या को जन्म दिया, जो नेतामी थी और उसके भाई का एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जो पोयामी था। दोनों बच्चों के बड़े होने पर उनका विवाह हो गया। वह लड़की उस लड़के की 'दूधबहिनी' थी।

टैन्च ने अपने ग्रन्थ गोंडी ग्रामर में सृष्टि की उत्पत्ति की एक कथा उद्धृत की है- समुद्र के मध्य जल की सतह पर एक-दो सिंगमली पक्षी रहते थे। उनमें से एक नर था और एक मादा थी। उन्होंने जल की सतह पर अपना घोंसला फैला दिया। उन्होंने घोंसले में दो अण्डे दिये। उनमें से एक अण्डा एक हाथ लम्बा था तथा दूसरा अण्डा पौने दो हाथ लम्बा। सिंगमली की मादा उन अण्डों पर बैठने लगी। वह उन पर निरंतर नौ माह नौ दिन तक बैठकर उन्हें सेती रही। इसके उपरान्त उन अण्डों से एक लड़की तथा एक लड़के का जन्म हुआ। उनके जन्म के पश्चात् सिंगमली पक्षियों ने बच्चों को घोंसले में ही छोड़कर उड़ गये। उन्होंने वन में जाकर फल आदि से आहार ग्रहण किया और बच्चों को देखने के लिए वापस घोंसले में आ गये। वहाँ लड़की तथा लड़के को देखकर उन्होंने कहा- 'ये ऐसे ही उत्पन्न हुए हैं। एक दिन ये हमें खा लेंगे, अतः हमें इन्हें यहीं छोड़कर चले जाना चाहिए।' ऐसा सोचकर वे दोनों उड़ गये और फिर कभी भी वापस लौटकर नहीं आये। उन्होंने बच्चों का परित्याग कर दिया। इसके पश्चात् वे बच्चे भगवान की सहायता से जल पर ही रहने लगे। जब वे बड़े हुए तो वे बातें करने लगे। एक दिन उन्होंने समुद्र माता से कहा- 'यहाँ आप हमारी संरक्षक हैं। अब आप हमें यहाँ से बाहर भेजिये।' समुद्र ने तुरन्त एक लहर को वहाँ भेजा जो उन्हें उनके घोंसले सहित लेकर समुद्र से बाहर पहुँचा आई। वे जंगल में भ्रमण करते हुए ही बढ़ने लगे और लगातार ताकतवर होने लगे।

रेवरेण्ड हिस्लप ने 1870 के दशक में उत्पत्ति की एक कथा एक परधान भाट से सुनकर उसका आलेखन किया था। वह कथा यहाँ उद्धृत है -

सात पर्वतों (सतपुड़ा पर्वत) के मध्य स्थित है लिंगावनगढ़, उस पर्वत पर दति नाम के फूलों का एक वृक्ष है। वहाँ से बारह कोस तक कोई बसाहट नहीं है। काँव-काँव करने वाला कोई कौवा नहीं है, चहचहाने वाली कोई चिड़िया नहीं है। हुँकारने वाला कोई बाघ नहीं है। तब क्या हुआ ? भगवान ने सुपारियाँ फैला दीं, और नलयादो ऋषि को बुलाया। उनकी आज्ञा पाकर नारायण परिचारक बना, उसने भगवान का आदेश सुना और दौड़कर करतो सुबाल के पास गया और उनसे पूछा- 'वहाँ सोलह देवखुला (खलियान) तेलुगु देवताओं के हैं, अठारह देवखुला ब्राह्मणों के हैं, बारह देवखुला गोंड देवताओं के हैं। इस प्रकार वे देवताओं के बारे में पूछ रहे थे।

इतने सारे देवता! वे सब कहाँ हैं? मैं उनके बारे में जानना चाहता हूँ।

उन्होंने बताना शुरू किया- वहाँ महादेव भगवान ऊपरी समुद्र से निचले समुद्र तक शासन कर रहे हैं। महादेव क्या कर रहे हैं? वे एक लुढ़कने वाले पत्थर सदृश्य लुढ़क रहे हैं, उनके न हाथ थे न पैर।

वे वृक्ष के एक तने के समान थे। गौरा पार्वती जो महादेव की पत्नी है, नारायण से पूछने लगी- तुम कौन हो? उसने कहा- 'मैं भगवान का सुबेदार हूँ।' उसने पूछा- 'तुम इतनी दूर से क्यों आए हो?' मैं महादेव को देखने आया हूँ। गौरा पार्वती आ गई। नारायण नर्मदा नदी के तट पर जाकर खड़े हो गए। राजा महादेव तैर रहे थे और वे ऊपर आ गये। पार्वती हाथ जोड़कर खड़ी हो गई और नारायण उसी तरह खड़े रहे। तब महादेव ने पूछा- तुम यहाँ किसलिए आए हो? बारह देवखुला के गोंड देवता कहाँ हैं? उसने क्या कहा- करतो सुबाल? उसने महादेव से क्या कहा? बारह माह तक तुम तपस्या करो, तब तुम्हें उनके नाम ज्ञात होंगे। इस तरह पाँच-छै माह बीत गये, तपस्या पूरी हुई। तब भगवान महादेव के पास आकर खड़े हो गये, और उन्हें बुलाया- तुम्हारी तपस्या पूरी हुई, अब तुम पानी से बाहर आ जाओ। उन्होंने पूछा- मैं कैसे बाहर आऊँ? मेरे न हाथ हैं न पैर न आँखें। तब महादेव ने मानव रूप धारण किया। तब इस ज्योतिर्मय विश्व में महादेव मनुष्य रूप में प्रकट हुए। उन्होंने भगवान की ओर दृष्टिपात किया, परन्तु भगवान अन्तर्ध्यान हो चुके थे। महादेव ने कहा- 'यह उचित नहीं है कि भगवान दिखाई ही न दें। ओ भगवान! मेरी कथा सुनो - मेरी तपस्या व्यर्थ है, मुझे मनुष्य रूप मिला जो अनुचित है। उन्होंने पुनः तपस्या शुरू कर दी। नौ माह और नौ दिन पूरे होने पर उनके अंग का फोड़ा फूट गया। उस फोड़े से कालिया अदाव उत्पन्न हुआ। तब महादेव ने उससे कहा- तुम तपस्या करो, कालिया अदाव ने तपस्या शुरू की। एक माह बीता दो माह बीते, तब उसके हाथ में एक फोड़ा उठा, उस फोड़े के फूटने पर उसमें से सोलह बेटियाँ उत्पन्न हुई। तब उसने कहा- यह क्या ! ये बेटियाँ क्यों उत्पन्न हुई हैं? इस अपमान से तो मेरा सिर झुक जायेगा। मैं इनके लिए पति कहाँ से लाऊँगा? उसने उन कन्याओं को जल में फेंक दिया। उसके पश्चात् जल सूख गया और सोलह प्रकार की भूमि उत्पन्न हुई। उसने कहा- मैं तपस्या करूँगा, तब मुझे शांति मिलेगी। उसने

तपस्या की और उसके हाथ पर एक फोड़ा उठा, उस फोड़े से बारह गोंड देवखुला उत्पन्न हुए, वे संपूर्ण जंगल में यत्र-तत्र फैल गये। सभी स्थान, पर्वत, घाटियाँ गोंडजनों से भर गईं।

बस्तर की दंडामी माड़िया जनजाति में सृष्टि की उत्पत्ति की जो कथा विद्यमान है, उसे यहाँ प्रस्तुत करना प्रासंगिक प्रतीत होता है, क्योंकि यह जनजाति गोंड जनजाति की ही एक शाखा है। इस कथा में महाप्रलय के बाद सृष्टि के पुनः निर्माण का सविस्तार वर्णन किया गया है-

एक बार बहुत वर्षा हुई और पूर्वकाल की दुनिया जल में डूब गई। परन्तु गजाभिमुल ने एक भाई तथा उसकी बहन को एक तूँबे में बन्द कर दिया। उन बच्चों का नाम कवाची तथा कुहरामी था, जो दादा बुरका कवाची कहलाता था। तूँबा इधर-उधर तैरते हुए एक विशाल चट्टान पर पहुँच गया। महाप्रभु ने एक कौवे को मनुष्यों की खोज में भेजा। कौवा उड़ता रहा, उड़ता रहा और फिर उसे कुछ दिखाई पड़ा। उसने देखा कि सर्वत्र जल ही जल है और एक विशाल ऊँची चट्टान पर एक तूँबा रखा हुआ है। उसने उस चट्टान पर बैठना चाहा, परन्तु वह बहुत गर्म थी। महाप्रभु ने उसे पुनः यह देखने के लिए भेजा कि उस तूँबे में कोई जीवित प्राणी है क्या? इसी बीच उस चट्टान पर तूँबे के समीप बरगद का एक पौधा उग गया था। कौवे ने उस पर बैठकर तूँबे को खोलकर देखा। उसमें से कवाची और कुहरामी बाहर निकले। वह चट्टान अत्यन्त गर्म थी, इसलिए वे दोनों वृक्ष पर चढ़ गये। वे भूखे प्यासे थे, इसलिए वे उस वृक्ष का रस पीने लगे। कौवा उड़ गया। वृक्ष का रस शीघ्र ही समाप्त हो गया और बच्चे रोने लगे। महाप्रभु ने उनके रोने की आवाज सुनी और कौवे पर क्रोधित होकर उसे उन बच्चों को देखने के लिए पुनः भेजा, परन्तु कौवे के मन में यह लालच था कि वे बच्चे मर जायें, ताकि वह उनके शवों को आहार बना सके। कौवे ने वापस आकर महाप्रभु को बताया कि सब कुछ ठीक है। लेकिन पुनः बच्चों के रूदन की आवाज ने महाप्रभु को विचलित कर दिया। इस बार महाप्रभु ने गिद्ध को पता लगाने के लिए भेजा। उसने भी वापस आकर महाप्रभु को बताया कि सब कुशल मंगल हैं, क्योंकि उसने भी सोचा कि बच्चे मर जायेंगे, तो वह उनके शवों को खा सकेगा। बच्चों के रोने की आवाज पुनः सुनाई पड़ी, तो अबकी बार महाप्रभु ने एक बाघ को भेजा। बाघ ने भी सोचा कि यदि ये बच्चे मर जाते हैं तो वह उन्हें खा सकेगा, अतः उसने भी

वापस जाकर महाप्रभु को बताया कि सब कुछ ठीक है। परन्तु बच्चों के रोने की आवाज पुनः आने लगी तो महाप्रभु ने अबकी बार एक बन्दर को भेजा। बन्दर जाकर उस गर्म चट्टान पर बैठ गया, जो बहुत गर्म थी। वह इतनी गर्म थी कि बन्दर के कूल्हे तथा हाथ पैर जल गये। बन्दर ने बच्चों से उनके रोने का कारण पूछा।

बन्दर कूदकर वृक्ष पर चढ़ गया। बच्चों ने कहा कि यहाँ खाने के लिए कुछ भी नहीं है। हम जायें भी तो कहाँ जायें? बन्दर महाप्रभु के पास लौट आया।

महाप्रभु ने एक वाराह को बताया कि उस चट्टान के समीप एक कछुवा रहता है, उसने मिट्टी से आधा घर बना लिया है। तुम उस मिट्टी को ले जाकर उस चट्टान पर बिछा दो। परन्तु वाराह ने कहा- 'मैं बिना खाये-पीये कैसे रहूँगा?' उस चट्टान पर फसल पककर तैयार है, उसे खा लेना। तुम फसल चरने वाले प्रथम प्राणी बनोगे। इसीलिए वाराह द्वारा मनुष्यों के फसल काटने के पूर्व ही फसल नष्ट कर दी जाती है। वाराह को केकड़ा मिल गया और वह भूमि पर लोट-पोट होने लगा। गीली मिट्टी उसके बालों में लिपट गई और उसने फड़फड़ा कर मिट्टी को चारों ओर फैला दिया और इस प्रकार से भूमि का पुनःनिर्माण हुआ।

बच्चों ने उस भूमि पर बीज बोये और अपनी फसल काटी। गजभीमुल चिन्तित थे कि पृथ्वी पर प्राणियों को कहाँ से लाया जाये। उन्होंने दोनों बच्चों से विवाह करने को कहा, परन्तु उन्होंने इन्कार कर दिया। क्या वे दोनों भाई-बहिन नहीं हैं? उन्होंने बूढ़ी माँ को बुलाया। बूढ़ी माँ ने उन्हें चेचक से ग्रसित करके पृथ्वी का भ्रमण करने के लिए भेज दिया। भ्रमण करते हुए एक दिन उनकी भेंट हो गई और वे एक दूसरे को नहीं पहचान पाए। दोनों का विवाह हो गया। प्रथम बार उनके बारह पुत्र उत्पन्न हुए और फिर बारह पुत्रियाँ। उन लड़कों के नाम थे- कवाची, मरावी, ओयामी, करतामी, पुरियामी, कलमुमी, नेन्दी, मरकामी, कुहरामी, बरसे, वेटी और करती।

इनके नामों के आधार पर ही दंडामी माड़िया गोत्रों की उत्पत्ति हुई। लगभग ये सभी गोत्र संपूर्ण गोंडवाना के गोंडजनों में भी मिलते हैं। उपरोक्त मिथक कुछ-कुछ परिवर्तनों के साथ बस्तर के अन्य क्षेत्रों में भी विद्यमान है। बस्तर की मुरिया जनजाति में विद्यमान मिथक के अनुसार पृथ्वी कैटब नामक राक्षसी के पेट में

बंद थी। महाप्रभु ने एक मनुष्य को उत्पन्न करके बारह वर्ष तक उसका पालन पोषण किया। जब वह बारह वर्ष का हो गया, तब उन्होंने उससे कहा कि तुम कैटब की हत्या कर दोगे तो मैं तुम्हें पृथ्वी का स्वामी बना दूँगा। उसने कैटब को मार डाला। राक्षसी के शरीर से पृथ्वी का निर्माण हुआ तथा हड्डियों से चट्टानों का। उसके पश्चात् महाप्रभु ने मनुष्य को पृथ्वी का स्वामी बना दिया।

मण्डला के परधान गोंडों में विद्यमान मिथक के अनुसार गोंड जनजाति रावणवंशी है। पार्वती की कोख से बहुत से बच्चे उत्पन्न हुए। महादेव ने जब उन्हें देखा तो वे दुखी होकर महाप्रभु के पास गये और उनसे कहा कि आपने पार्वती को इतनी सन्तान क्यों दी। महाप्रभु ने कहा कि यदि इतने बच्चे नहीं होते, तो पृथ्वी आबाद कैसे होगी? महादेव ने सभी बच्चों की जातियाँ निर्धारित करके उनके विवाह करवाए।

राम-रावण युद्ध में रावण पराजित हो गया। राम ने रावण के सभी समर्थकों को मार डाला। गोंड राम की ओर आ गये, जिन्हें राम ने अन्य गोंडों से मिलवाया जो घने जंगलों में रहते थे। ये सूरजवंशी गोंड थे, जिनके पुत्र हुए- परतेती, मरावी, धुरवा तथा भगड़िया। रावणवंशी तथा सूरजवंशी एक साथ भाईयों की तरह रहने लगे। रावण मरणोपरान्त बड़ा देव बन गया। उसने परतेती को स्वप्न में आकर बताया कि बड़ादेव का जन्म रावणवंशी और सूरजवंशी दोनों के ही लिये होगा। उनके लिए एक चबूतरा बनाकर उस पर एक स्तंभ स्थापित करो। इसके पश्चात् बड़ादेव उत्पन्न हुए। सबसे बड़ा भाई राजगद्दी पर बैठा और सबसे छोटा पठारी जो बाना बजाकर बड़ादेव की सेवा करता था।

गोंड महाप्रभु को सर्वोच्च सत्ता मानते हैं, यद्यपि उनकी अवधारणा स्पष्ट नहीं है। संसार के प्रति उनकी अवधारणा है कि यह तीन लोक में विभाजित है। ऊपर लोक जो आकाश में कहीं पर स्थित है, मध्यलोक जहाँ मनुष्यों का राज्य है तथा पाताल लोक जहाँ दैत्य, राक्षस आदि निवास करते हैं। महाप्रभु की सत्ता ऊपर लोक से भी परे की है। वे लोग उन्हें सभी देवताओं तथा भगवान, महादेव आदि सभी देवों से ऊपर मानते हैं। उनकी धार्मिक मान्यताओं में अनेक अन्तरविरोध एवं भ्रान्तियाँ निहित हैं, जो उनके मिथकों में भी देखने को मिलती हैं। संभवतः इसका एक कारण उनके निवास क्षेत्र का विस्तार हो सकता है। कुछ अध्येताओं ने महाप्रभु

की पहचान सूर्य के रूप में भी की है। सूर्य अनन्तता का प्रतीक है। गोंड जनजाति के धार्मिक प्रतीकों में सूर्य तथा चन्द्रमा के अभिप्राय बहुधा देखने को मिलते हैं। एक माड़िया मिथक में सूर्य और चन्द्रमा की उत्पत्ति कुहरामी गोत्र के एक माड़िया द्वारा महुए के वृक्ष के ऊपर बताई गई है। एक गोंड कथा में सूर्य और चन्द्रमा को बहनें बताया गया है, जो मेघराज और मेघरानी की पुत्रियाँ थी। चन्दा छोटी थी, परन्तु वह अति सुन्दर थी। लक्ष्मण उसकी सुन्दरता से आकर्षित होकर उसके यहाँ लमसेना बनने को तैयार हो गया। इस बात से नाराज सूरज को बहुत ईर्ष्या हुई कि छोटी बहन को उससे पहले ही पति मिल गया। सूर्य और चन्द्रमा की प्रतिस्पर्धा तथा उनके आपसी द्वेष की अनेक कथाएँ जनजातियों के वाचिक साहित्य में विद्यमान हैं। सूर्य का दिन में तथा चन्द्रमा एवं तारों के रात्रि में होने का कारण उनके आपसी झगड़ों का कारण इन मिथकों में दर्शाया गया है। तारों को चन्द्रमा की संतान बताया गया है।

अग्नि की उत्पत्ति

मानव सभ्यता के विकास में अग्नि के प्रति ज्ञान तथा उसका खाद्य पदार्थों को पकाने तथा अन्य कार्यों हेतु उपयोग एक महत्वपूर्ण मुकाम माना जाता है। सभी प्राचीन सभ्यताओं में अग्नि से संबंधित कोई न कोई मिथक विद्यमान है। हिन्दू धर्म में तो अग्नि को वैदिक काल से देवता स्वीकार किया गया है। देवताओं को प्रदान की जाने वाली हवि अग्नि से संबंधित मिथक मिलते हैं। जे. फ्रेजर ने अग्नि की उत्पत्ति से संबंधित मिथकों का विद्वतापूर्ण अध्ययन एवं विश्लेषण अपने ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है।

बस्तर के दंडामी माड़िया जनजाति में विद्यमान मिथक के अनुसार आरंभ में अग्नि का निवास पत्थर (स्फटिक) में था। दूसरे मिथक में उसका स्थान बाँस में बताया गया है।

सृष्टि के आरंभ में अग्नि नहीं थी। छै देव कन्याएँ थीं, जिनके नाम हलवेत्ती, पुलवेत्ती, उरवेत्ती, गोदरवेत्ती, गतवेत्ती तथा परंदवेत्ती थे। इनका नामकरण इनके इन्हीं गोत्रों के आधार पर हुआ था। वे सभी अग्नि को खोजने निकलीं थीं, परन्तु वह उन्हें नहीं मिली। पुलवेत्ती ने कहा कि वह अकेली ही दुबारा प्रयत्न करेगी और वह सारे संसार में भ्रमण करने निकल पड़ी। मार्ग में उसे सियाड़ी की लता के टुकड़े मिले, जिनकी गाँठों को जोड़ने पर वहाँ से अग्नि प्राप्त हुई।

मुरियाओं के मिथक में उल्लेख है कि अग्नि एक महारनि के पास थी और उसे लिंगोपेन (देव) लेकर आए थे। बिलासपुर पंडरिया क्षेत्र के गोंडी मिथक के अनुसार अग्नि टोडियामल दानव के कब्जे में थी, जहाँ से गोंडजन अग्नि लेकर आए थे। मिथक इस प्रकार है -

‘आरंभ में मनुष्य अपना भोजन कच्चा ही किया करते थे। उससे उनके पेट में वह बैल के सींग की भाँति चुभता था। टोडियामल दानव के यहाँ अग्नि को प्रज्वलित होते हुए देखा तो एक साथी को देखने हेतु भेजा कि जाकर देखे कि वह क्या है। उसने देखा कि वह पहाड़ सदृश्य झबरे बाल वाला दानव अग्नि के समीप बैठा हुआ था। उसे देखकर दानव चिल्लाया- ‘आज उसके पास भोजन स्वयं ही आ गया है।’ परन्तु उस व्यक्ति ने कहा- ‘नहीं, मैं तुम्हारा भोजन बनने नहीं आया हूँ। मैं अग्नि लेने आया हूँ, क्योंकि हमें भोजन को कच्चा ही खाना पड़ता है।’ दानव ने कहा- ‘नहीं-नहीं मैं तुम्हें कैसे छोड़ सकता हूँ?’ उस व्यक्ति ने कहा कि वहाँ बहुत से लोग मेरा इंतजार कर रहे हैं। दानव ने पूछा कि वे कितने लोग हैं? ‘पता नहीं, परन्तु वे बहुत लोग हैं।’ उसकी बात सुनकर दानव की भूख और भी बढ़ गई। उसने कहा कि ठीक है, तुम एक हाथ में आग ले चलो और दूसरे हाथ में तिल। उसने सेमल की फली में अग्नि रखकर उसे दे दी।

वह व्यक्ति आग लेकर अपने घर पहुँचा, परन्तु तिल रास्ते पर गिरते गये। संसार की सम्पूर्ण अग्नि को दानव ने अपने उदर में छिपा रखा था। उसने फूँक मारकर सेमल के वृक्ष को जलाया। उस व्यक्ति ने यह बात अपने साथियों को बताई। तिल को देखता हुआ दानव पीछा करता हुआ, वहाँ तक पहुँच गया। परन्तु उन सब लोगों ने अपने-अपने धनुष बाणों से उसका वध कर दिया। उन लोगों ने उसका पेट चीरकर उससे अग्नि को मुक्त किया और तब से अग्नि मनुष्य के अधिकार में है।

मुरिया जनजाति जो कि गोंड जनजाति की ही एक उपजाति है, उसमें लिंगो की गाथा आज भी उसके धार्मिक आचार-विचारों का सर्वाधिक प्रधान स्रोत है। लिंगो इस जनजाति के आदिदेव हैं तथा लिंगो की गाथा गोंडवाना के अनेक क्षेत्रों में अभी भी किसी न किसी रूप में विद्यमान है, यद्यपि मैदानी क्षेत्रों के गोंड तथा हिन्दू धर्म से अधिक प्रभावित गोंड इस गाथा को भूलते जा रहे हैं। लिंगो

गाथा के अनुसार पहले अग्नि रिकड़गावड़ी नामक राक्षस के कब्जे में थी। लिंगो ने एक बाना (छोटी सारंगी सदृश्य वाद्य) बनाया और उसे लेकर वह उस राक्षस के क्षेत्र में गया। जब वह बाना बजाने लगा तो उसमें से मधुर संगीत की ध्वनि उत्पन्न होने लगी। राक्षस ने जब उसे सुना तो सोचने लगा कि यह कौन व्यक्ति है और कहाँ से आया है, जो मैना जैसा मधुर संगीत बजा रहा है। वृद्ध राक्षस रिकड़गावड़ी उस संगीत की धुन पर नाचने लगा। लिंगो ने उसे प्रसन्न करके उससे अग्नि प्राप्त की और उसे मनुष्यों को प्रदान किया।

एक अन्य मुरिया मिथक के अनुसार जब महाप्रलय से पृथ्वी जलमग्न हो गई, तो सभी कुछ उसमें डूब गया। नौ भाई कोरोबो-लिंगो के अतिरिक्त सभी मनुष्य भी डूब गये। वे सर्दों से बचने तथा भोजन पकाने के लिए अग्नि खोजने लगे। उन्हें परजुंगे नामकी एक महारिन के पास अग्नि दिखाई पड़ी। उन्होंने उसके घर के समीप ही अपना डेरा डाल दिया। सर्वप्रथम सबसे बड़ा भाई अग्नि लेने उसके पास गया। उस महारिन ने थोड़ी सी आग घास में रखकर उसे दी। घास जल गई और आग बुझ गई। इसी प्रकार उसने सभी भाइयों के साथ ऐसा ही व्यवहार किया। अन्त में लिंगो स्वयं गया। वह स्त्री लिंगो को भी घास में रखकर अग्नि देने लगी। लिंगो ने जलता हुआ एक लकड़ उठाया और उस पर दो बार उससे आघात किया और आग लेकर अपने डेरे में आ गया। लिंगो के भाई वहाँ से चले गये, परन्तु उस लड़की ने पाया कि लिंगो के दो आघात के कारण वह गर्भवती हो गई है।

वृक्षों तथा वनस्पतियों की उत्पत्ति से संबंधित भी अनेक मिथक गोंड जनजाति में विद्यमान हैं। कुछ मिथकथाएँ उनके धर्म, देवी-देवताओं तथा उनके गोत्रों से संबंधित हैं, तो अनेक पृथक-पृथक प्रजाति के वृक्षों, घास, पुष्प तथा लताओं से संबंधित हैं। धार्मिक मिथकों में गोत्रों से संबंधित मिथक तथा देवताओं से संबंधित मिथक आते हैं। यहाँ ऐसे ही कुछ मिथक प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

साजा वृक्ष गोंड जनजाति का सर्वाधिक पूज्य वृक्ष है, क्योंकि वह उनके सबसे बड़े देवता बूढ़ादेव का निवास स्थान है। एक बार एक अन्धा व्यक्ति तथा एक कुबड़ा साथ-साथ रहते थे। कुबड़े व्यक्ति ने एक साजा वृक्ष लगाया तथा अंधे ने महुए का।

जब साजा वृक्ष बढ़ा हुआ तो वह कुबड़े की भाँति टेढ़ामेढ़ा था और महुआ बढ़ा हुआ तो उससे फूल बीजों से अलग होकर झड़ते ही नहीं थे। एक दिन जब वे दोनों लोग कुबड़े के बेटे और बहू को देखने निकले, तो कुबड़ा की लाठी को पकड़कर उसे खींचते हुए चल रहा था। उसने सोचा कि यदि मैं इसी प्रकार इसे खींचते हुए बहुत दूर तक जाऊँगा, तो मेरी मृत्यु हो जायेगी। मार्ग में कुबड़े ने एक सर्प को मारकर उसे भून लिया और अंधे से कहा कि उसे एक मछली मिली है। उसने सोचा था कि अंधा उसे खाकर मर जायेगा। अंधे ने ज्यों ही उसका एक टुकड़ा उठाकर उसे सूँघा। उस सर्प के विष में दवा के गुण थे। उसके सूँघते ही अंधे की आँखें खुल गईं और वह देखने लगा। उसने देखा कि कुबड़े ने उसको सर्प का मांस खिलाना चाहा था तो वह क्रोधित होकर जोर-जोर से उसे डंडे से पीटने लगा। उसकी मार से उसकी पीठ सीधी हो गई और उसकी कूबड़ ठीक हो गई।

जब वे वापस घर आए तो उन्होंने देखा कि साजा वृक्ष सीधा बढ़ रहा है और महुए से भी फूल झर रहे हैं। साजा के फल पक चुके हैं और कुबड़े ने खाने पर पाया कि वे मीठे भी थे। उसने उन्हें जोर से भींच कर उनका सारा रस चूस लिया। अंगुली के वे निशान अब भी साजा के फल पर देखे जा सकते हैं।

कस्सी, टेकाम तथा मरकाम गोंड जनजाति के प्रमुख गोत्र हैं, जिन तीनों के ही अभिप्राय कस्सी, टीक (सागौन) तथा मरका (आम) हैं। एक बार महादेव ने अपने तीन केश नोचकर उन्हें फेंक दिया था, जिनसे कस्सी, टीक तथा मरका वृक्ष उत्पन्न हो गये। एक बड़ई ने टीक वृक्ष से एक हल बनाया और उसे महादेव को भेंट करते हुए कहा कि ये तो तीन ही वृक्ष हैं और वे ऐसी स्थिति में जल्दी ही समाप्त हो जाएँगे। उस स्थिति में मैं क्या करूँगा?

यह सुनकर महादेव ने मंत्र फूँक कर कुछ राख उस बड़ई को देकर कहा कि इसे उन वृक्षों पर डाल दो। उसके ऐसा करते ही वे वृक्ष फूल और फलों से लद गये और संसार में उनसे समस्त वृक्षों की उत्पत्ति हो गई।

वर्षा को आकर्षित करने वाले (Rain Charms) जीव जन्तुओं में केकड़ा, मछली, मेंढक प्रमुख हैं। मध्यवर्ती भारत की

अधिकांश जनजातियों में भीमूलपेन वर्षा का देवता है। पश्चिमी उड़ीसा तथा झारखण्ड में भी भीमूल पिन्नु या भीमादेव वर्षा का देवता है। कालान्तर में जनजातीय देवता को महाभारत के शक्तिशाली नायक भीम के रूप में परिवर्तित कर दिया गया है। हिन्दू मान्यता के अनुसार वर्षा का देवता इन्द्र है। इन्द्र की पूजा का विरोध कृष्ण ने किया था, उसके पश्चात् इन्द्र का स्थान हिन्दू देवलोक में गौण हो गया। गोंडवाना की गोंड जनजातियों में यह मिथक देखने को नहीं मिलता। हिन्दू पुराण कथानुसार भीम वायु का पुत्र है, संभवतः इसी कारणवश उसे वर्षा का देवता मान लिया गया हो।

एक बैगा मिथ कथा के अनुसार मेघ राजा और मेघ रानी भगवान के दरबार में रहते थे। भगवान ने जिन्हें आदेश दिया कि वे भीमसेन को तीन तूँबे भरकर जल प्रदान करें। उनमें से एक तूँबे को दुरहा दानव ने उस समय चुरा लिया, जब भीम सो रहा था। भीमसेन ने सोचा कि एक तूँबा चोरी हो गया है, अब वह कैसे उतने से जल से वर्ष भर काम चला पाएगा। उसने दोनों तूँबे के जल को आषाढ़ से भादों तीन महीनों में ही वर्षा करके उस संपूर्ण जल को पूरा समाप्त कर दिया। शेष बचे हुए महीनों में दुरहा दानव वर्षा करता है। बैगा जनजाति गोंड जनजाति के साथ ही गोंडवाना में निवास करने वाली एक आदिम जाति है। बैगा तथा गोंड दोनों जनजातियों ने एक दूसरे की संस्कृति को बहुत अधिक प्रभावित किया है।

गोंड जनजाति वर्षा का कारण पृथ्वी तथा आकाश के विवाह का परिणाम मानती है। संपूर्ण गोंडवाना में छोटे-बड़े सरोवरों का जाल बिछा है। तालाब निर्माण के पश्चात् उसके मध्य में एक स्तंभ स्थापित किया जाता है, जो विवाह स्तंभ है। फिर अनुष्ठानिक विधि से आकाश तथा पृथ्वी का विवाह सम्पन्न कराया जाता है। इस विवाह के फलस्वरूप ही आकाश वर्षा करता है। यदि उनमें विवाह नहीं होने पर या तो वर्षा नहीं होगी या उस तालाब में वर्षा का जल नहीं ठहरेगा। इसीलिए गोंडवाना के सभी सरोवरों का विधिपूर्वक विवाह कराया जाता है तथा विवाह स्तंभ को वहीं स्थापित करके स्थाई रूप से छोड़ दिया जाता है।

एक गोंडी कथानुसार महादेव ने जब गणेश की गर्दन काट डाली तो पार्वती को उन पर बहुत क्रोध आया। महादेव ने पार्वती को शान्त करने हेतु केकड़े की गर्दन काटकर गणेश को लगा दी। इस पर पार्वती और भी अधिक क्रोधित हुई। उन्होंने कहा कि यह

तुमने क्या किया। गणेश को इतना छोटा सिर लगा दिया और केकड़े को भी मार डाला। इस पर महादेव ने केकड़े को जीवित करके कहा कि अब तुम बिना सिर के ही जीवित रहोगे। हाँ, मैं तुम्हारी सुरक्षा हेतु तुम्हारी पीठ को कठोर बना देता हूँ। इसके उपरान्त महादेव ने एक हाथी का सिर काटकर गणेश के शरीर पर लगा दिया, जिससे पार्वती प्रसन्न हो गई।

नेताम तथा कच्छिम दोनों ही गोंड जनजाति के गोत्र हैं। नेताम गोत्र का अभिप्राय कुत्ता है तथा कच्छिम गोत्र का कछुवा। नेताम गोत्र के लोग कछुए को भी अपना आराध्य देवता मानते हैं। इसका कारण इस मिथक में निहित है – एक गोंड ने अपने पालतू कुत्ते को इसलिए मार डाला, क्योंकि उसने उसे अपनी पत्नी के साथ संसर्ग करते हुए देख लिया था। उस गोंड ने कुत्ते को मारकर फेंक दिया था, जिसके मांस को चील तथा गिद्धों ने खा लिया। परन्तु उसकी खोपड़ी बची रह गई। नदी किनारे से जाते हुए कचारन देव ने उस खोपड़ी को उठाकर यह कहते हुए जल में प्रवाहित कर दिया कि जाओ तुम अब जल राजा बन कर रहो और एक दिन तुम अवश्य ही उस व्यक्ति से बदला ले सकोगे, जिसने तुम्हारी यह दशा की है। वह खोपड़ी कछुवा बन गई। वह कछुवा लोगों को अपनी पीठ पर बैठाकर नदी पार करवाने लगा। एक दिन वही गोंड नदी पार जाने के लिए वहाँ आया। कछुवा उसे अपनी पीठ पर बैठाकर नदी पार करने लगा, परन्तु मझधार में पहुँचकर उसने कहा कि अब मैं तुम्हें डुबाऊँगा। तुमने ही मेरी हत्या की थी। परन्तु गोंड ने उसे वचन दिया कि वह अब उसे देवता मानेगा और उसकी पूजा करेगा। कछुवा उसकी बात सुनकर नरम पड़ गया और उसे नदी पार करवा दी। उस दिन के बाद से नेताम गोत्र के लोग कछुए को अपना आराध्य देव मानने लगे।

बोद मछली गोंड जनजाति का एक गोत्र अभिप्राय है। मिथकों में नदी देवियों की संख्या सात बताई गई है। कहीं-कहीं उनका नाम सात समुद्रिया बहनें हैं। बस्तर में भी उनकी संख्या सात ही है तथा उनका नाम जलकमनी या जलकन्या है। सभी देवताओं की उत्पत्ति का स्थान जल के भीतर जहालपुर में है, जहाँ वह जलसिंघा देवी की सेवा करती हैं।

मेंढक वर्षा का सम्मोहक है, जो उसे आकर्षित करता है। जलन्धरी देवी ने एक मेंढक को जन्म दिया। उस शिशु की चार

टांगे थीं तथा उसकी पूँछ भी थी। बड़े होने पर उसने जल्दो देवी की सेवा की। जल्दो देवी ने प्रसन्न होकर कहा कि तुम्हारे वयस्क होने पर यह पूँछ नष्ट हो जायेगी और तुम्हारे चिल्लाने से वर्षा होगी। बस्तर में वर्षा के अभाव में वहाँ के आदिवासी मेंढक और मेंढकी का विधिवत् विवाह करते हैं और जब मेंढक-मेंढकी प्रसन्न होकर चिल्लाते हैं, टर्-टर् तब टर-टर पानी बरसता है।

गोंडजनों के देवी-देवता पशु बलि चाहते हैं। यदि उन्हें पशु बलि प्रदान नहीं की जाती है, तो वे कुपित होकर हानि पहुँचाते हैं। गोंड मिथक बलि प्रथा से भरे पड़े हैं। कुछ मिथकों में नरबलि का भी उल्लेख मिलता है। महिष (भैंसा) तथा बकरे की बलि प्रथा आज भी अनेक स्थानों पर प्रचलित है। भैंसे की बलि प्रथा का आरंभ हिंगलाजिन माता से जुड़ा हुआ है। हिंगलाजगढ़ बलुचिस्तान में स्थित है, जहाँ देवी का मंदिर है। पौराणिक मान्यता के अनुसार शिव जब पार्वती की मृत देह को लेकर विचरण कर रहे थे, तो देवी के अंग जिन-जिन स्थानों पर गिरे, वे सब शक्तिपीठ कहलाए। हिंगलाज भी एक शक्तिपीठ है। सम्पूर्ण गोंडवाना में हिंगलाजगढ़ की देवी की बहुत अधिक मान्यता है, विशेष रूप से गोंड जनजाति में। संभवतः सोलहवीं शताब्दी में जब गोंड राजवंशों का उदय हुआ, तब हिन्दू प्रभाव स्वरूप इस क्षेत्र में हिंगलाजिन देवी की मान्यता का प्रसार बढ़ा होगा।

गोंड मिथक के अनुसार परसावलीगढ़ में हिंगलाजिन माता का जन्म हुआ। उन्होंने वहाँ के गोंड राजा का कंठ पकड़ लिया, जिसके परिणाम स्वरूप वे कुछ भी खाने-पीने में असमर्थ हो गये। गुनिया को हिंगलाजिन माता ने बतलाया कि 'यदि मुझे भैंसे की बलि चढ़ाओगे, तो मैं राजा को स्वस्थ कर दूँगी।' उस समय तक संसार में भैंसा उत्पन्न नहीं हुआ था। अन्त में लट्टी देवार जो गुनिया था, वह भैंसासुर माता के पास सहायता प्राप्त करने हेतु गया। उन्होंने अपने शरीर से कुछ मैल उतारकर एक भैंसे तथा एक भैंस का निर्माण किया। जब राजा तथा गुनिया उन्हें ले जा रहे थे, तो मार्ग में भैंस ने एक पड्डे को जन्म दिया। राजा ने उस पड्डे की बलि हिंगलाजिन माता को चढ़ाई और वह स्वस्थ हो गया। इस प्रकार संसार में भैंस की उत्पत्ति हुई और उनकी बलि देने की प्रथा आरंभ हुई।

गोंड जनजाति में कुत्ता नेतामी गोत्र का अभिप्राय है। गोंडी

भाषा में कुत्ते को नी कहते हैं। इस शब्द से नेताम शब्द की उत्पत्ति हुई है। कुत्ता भू देवी तथा ठाकुर देव का कोटवार अथवा चौकीदार है। यदि किसी गाँव में कोई बीमारी या महामारी प्रवेश करती है, तो कुत्ता उसे देखने में सक्षम है और वह भौंकने लगता है। ठाकुर देव गाँव के रक्षक हैं और वे अश्व की सवारी करते हुए गाँव की सीमा पर पहरा देते हैं। दंडामी माड़िया मिथकों के अनुसार जब किसी व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है, तो कुत्ते उसकी आत्मा का पीछा करते हैं। उन दिनों माड़िया कुत्तों की भाषा समझते थे। वे कुत्तों के भौंकने पर समझ जाते थे कि मृतक की आत्मा महाप्रभु के यहाँ पहुँच गई है। महाप्रभु ने एक बार उन्हें श्राप दिया कि उनकी भाषा कोई भी नहीं समझेगा, तब से माड़िया उनकी भाषा समझने में असमर्थ हो गये।

गोंड अश्व को देवता मानते हैं। वह उनके लिये घोड़ा देव है। जंगल के अन्दर एक झोपड़ी बनाकर अश्व को काष्ठ, पिटवा लोहे, पीतल की या फिर मृण्यमूर्ति स्थापित करते हैं। बस्तर में इसे घोड़ा देव या कोड़ा देव कहते हैं तथा मण्डला, बैतूल तथा छिन्दवाड़ा में इसे घुड़लिया देव कहते हैं। बस्तर की मुरिया स्त्रियाँ बांह पर अश्व युगल के अभिप्राय गुदवाती हैं, जो प्रजनन के उद्देश्य से गुदवाये जाते हैं।

अश्व की उत्पत्ति एक मिथक के अनुसार गौरमुही माई के कोख से हुई है। एक सर्प ने गौरमुही माता से कहा- 'मेरे पास कोई काम नहीं है। मुझे आप कोई काम दो, तो तुम्हें एक काले बकरे की बलि चढ़ाऊँगा।' यह सुनकर वह प्रसन्न हो गई। उसने जंगल से एक बाघ को बुलाया और उसके साथ शयन किया और वह गर्भवती हो गई। उसने हंसराज घोड़े को जन्म दिया, जिसका मुख सफेद था तथा पूँछ झबरी थी। गौरमुही माता ने वह घोड़ा सर्प को देकर कहा कि तुम्हारा काम इस घोड़े की सेवा करना ही है। तुम इस घोड़े पर बैठकर कहीं भी जाओगे तो लोग तुमसे डरेंगे।

टोटेम अभिप्रायों की उत्पत्ति कुछ मिथकों का वर्णन पूर्व में किया जा चुका है। रसेल एवं हीरालाल ने दंडामी माड़ियों में केवल उन्नीस गोत्र बताये हैं, परन्तु ग्रिग्सन ने उनमें इक्यावन गोत्र विद्यमान पाये हैं और उनके मतानुसार यह संख्या भी अंतिम नहीं कही जा सकती। दंडामी माड़ियों के कुल गोत्रों की संख्या इससे कहीं अधिक भी हो सकती है। 'दी माड़िया गोंड्स ऑफ बस्तर'

में दर्शाये गये गोत्र भाईबंधु (फ्रेटरी) समूह के अनुसार मरावी समूह में छै गोत्र हैं, कुहरामी में दस गोत्र हैं, सोड़ी में तीन, मरकामी में इक्कीस तथा कवासी में आठ गोत्र हैं। इस प्रकार से दंडामी माड़ियों में ग्रिग्सन के अध्ययन से इक्यावन गोत्र होते हैं।

इन गोत्रों में कुछ का सम्बन्ध तो सृष्टि की उत्पत्ति तथा महाप्रलय की कथा से उद्भूत है, तो कुछ का कुछ अन्य घटनाओं से। सभी गोत्रों के टोटेम अभिप्राय भी नहीं हैं तथा उनकी उत्पत्ति कैसे हुई, इनकी कथा भी बहुत से गोत्रजों को उनका स्मरण नहीं है। कुछ गोत्रों का नामकरण भूम के या परगना के आधार पर हुआ है। सभी गोत्रों में उस गोत्र का टोटेम अभिप्राय ही महत्त्वपूर्ण है न कि भाईबंदी का अभिप्राय, जिस समूह में वे सम्मिलित हैं।

अबूझमाड़ियों के अध्ययन में रायबहादुर बैजनाथ पंडा ने उनमें केवल दो भाईबंदी समूह विद्यमान होने का उल्लेख किया है, एक समूह में नब्बे गोत्र तथा दूसरे समूह में उन्हत्तर गोत्र हैं। इन दोनों समूहों में ही विवाह संबंध होते हैं। ये समूह दादा भाई तथा अकोमामा या पत्नी गोत्रज में विभाजित हैं। गोंड जनजाति में मामा की पुत्री तथा फूफा का पुत्र या मामा का पुत्र तथा फूफा की पुत्री

में विवाह सम्बन्धों को न केवल स्वीकृति है, वरन् उन्हें प्रधानता दी जाती है। अधिकांश विवाह सम्बन्ध इसी विधि (Cross cousin Marriage) से होते हैं।

गोंड जनजाति में टोटेमवाद धार्मिक रूप से अधिक सशक्त नहीं है, सिवाय इस तथ्य के कि किसी भी गोत्र का कोई भी व्यक्ति न तो अपने गोत्र अभिप्राय की हत्या करता है या उसे नुकसान पहुँचाता है और न ही वह उसके माँस को खाता है। किन्तु गोत्र अभिप्राय सामाजिक रूप से आज भी सशक्त हैं। समान गोत्रजनों में विवाह का निषेध है। ग्रिग्सन ने अबूझमाड़ियों के 105 विवाह सम्बन्धों का विश्लेषण करने पर पाया कि उनमें से 57 विवाह (cross cousin) में हुए थे, शेष 46 का निर्धारण एवं जांच करना भी आसान नहीं था, क्योंकि वे विवाह दो परिवारों के मध्य नव स्थापित सम्बन्धों के फलस्वरूप हुए थे, न कि उनके गोत्रों के कारणवश। इस प्रकार हम देखते हैं कि गोंड जनजाति में टोटेमवाद धार्मिक रूप से भले ही शिथिल हों, परन्तु सामाजिक रूप में वह अभी भी प्रभावशाली है।

लोकनाट्य नाचा में साखी परम्परा

डॉ. पीसीलाल यादव

छत्तीसगढ़ का नाम पढ़ने या सुनते ही यहाँ की सांस्कृतिक सम्पन्नता की ओर मन बरबस ही आकृष्ट होता है। जिन्होंने यहाँ के लोकजीवन को करीब से देखा है, वे इसकी सांस्कृतिक सम्पन्नता से भलीभाँति परिचित हैं। छत्तीसगढ़ की लोककला और लोक संस्कृति ने वैश्विक प्रसिद्धि पाई है। चाहे वह पंडवानी हो या भरथरी, पंथी हो या नाचा। छत्तीसगढ़ी कलाओं के रूप विविध हैं और रंग भी अनेक। लोक का आचार-विचार, सभ्यता-संस्कार, कार्य और व्यवहार लोक कलाओं में प्रतिबिम्बित होता है। जीवन का हास-परिहास, पतझर-मधुमास, आश और विश्वास सब लोक संस्कृति में ही मुखरित होते हैं। छत्तीसगढ़ के लोक जीवन का जो सर्वाधिक लोकप्रिय कलारूप है, वह है लोकनाट्य 'नाचा'।

लोकनाट्य नाचा का जब जिक्र आता है, तब शिष्ट लोग भले ही इसे हेय दृष्टि से देखें, लेकिन नाचा तो लोक की निधि है। इसी निधि से अंश लेकर ही शिष्ट अपनी शिष्टता का दम्भ भरता है। पता नहीं किसी लोकनाट्य के कलाकारों ने भरत मुनि का नाट्यशास्त्र पढ़ा हो या नहीं, पर यह तो सुनिश्चित है कि नाट्यशास्त्र की रचना के पूर्व भरत मुनि ने लोकनाट्य अवश्य देखा होगा? उससे ही उन्हें प्रेरणा मिली होगी। यह इसलिए कि लोक पहले है और वेद बाद में। शास्त्रीय या अभिजात्य संस्कृति लोक से ही जीवन रस प्राप्त करती है। आज कला में रूचि रखने वाले विद्वान नाचा में शास्त्रीय तत्त्व की खोज करते हैं, यदि उन्हें नाचा में शास्त्रीय तत्त्व दिखायी पड़ता है तो वहाँ नाट्यशास्त्र का प्रभाव बिल्कुल नहीं है। बल्कि वह उसकी निजता है। उस अंचल की विशेषता है।

नाचा रात्रि नौ-दस बजे से शुरू होकर सुबह तक चलता है। चार बाँसों से बना साधारण मंच, न कोई तामझाम, न कोई सजावट

बिना परदे का! सब कुछ सहज और सरल, ठीक यहाँ के लोगों के जीवन की तरह। न दम्भ न दिखावा न कोई प्रपंच न छलावा। जैसा बाहर वैसा ही भीतर। यही तो है विशेषता यहाँ के भोले-भाले लोगों की और नाचा की। अब तो यहाँ उक्ति ही चल पड़ी है- 'सबले बढ़िया, छत्तीसगढ़िया'! नाचा के अनेक पक्ष हैं। अनेक रंग हैं। नाचा के पूर्व रंग के अंतर्गत साखी परम्परा की चर्चा इस लेख का विषय है। नाचा में स्त्री की भूमिका पुरुष द्वारा ही अदा की जाती है। नाचा के पूर्व रंग में नचकारिन (परी) के गीत नृत्य के बाद जोक्कड़ों (गम्मतिया) का प्रवेश होता है। जोक्कड़ नाचा गम्मत के मेरूदण्ड हैं। ये जितने कला प्रवीण और दक्ष होंगे, वह नाचा मंडली उतनी ही प्रसिद्ध होगी। जोक्कड़ प्रारंभ में नचौड़ी नृत्य कर साखी व पहेली के माध्यम से नाचा में गम्मत का माहौल तैयार करते हैं। नृत्य गीत में मग्न दर्शक को यह आभास हो जाता है, अब गम्मत की प्रस्तुति होगी। साखी की परम्परा नाचा में खड़े साज से प्रारंभ होकर आज भी बैठक साज में विद्यमान है। ऐसा भी नहीं है कि साखी की यह परम्परा नाचा में ही है।

छत्तीसगढ़ी गीत गायन में साखी (दोहा) परम्परा हमें फाग गीतों में भी मिलती है। ये साखियाँ कबीर, तुलसी की साखियों, दोहों में भिन्न नहीं है। कबीर ने मानव मूल्यों की रक्षा के लिए जिन साखियों को रचा। आत्मा-परमात्मा के एकाकार के लिए जिन साखियों को गढ़ा। जीवन के आडम्बरोँ और पाखण्डों पर प्रहार के लिए जिन साखियों को अस्त्र के रूप में प्रयुक्त किया। ये सब वही साखियाँ हैं, वही दोहे। फागगीतों में साखी की एक बानगी-

सराररा सुनले मोर कबीर
बन बन बाजे बाँसुरी, के बन बन नाचे मोर।
बन बन ढूँढे राधिका, कोई देखे नंदकिशोर।।

इस तरह छत्तीसगढ़ी फाग गीतों का गायन साखी के बाद ही प्रारंभ होता है। जहाँ तक पहेलियों की बात है, वह तो लोकजीवन में मनोरंजन और ज्ञानरंजन का पर्याय है। पहेली को छत्तीसगढ़ी में 'जनौला' कहा जाता है। यही साखियाँ, यही पहेलियाँ नाचा में मनोरंजन का द्वार खोलती हैं और दर्शकों को ज्ञान-विज्ञान और हास-परिहास में गोते-लगवाती हैं। नाचा के पूर्व रंग का रंग ही

अनोखा और चोखा है। यही नाचा का वह अछूता पक्ष जिसकी चर्चा नहीं हो पाती। नाचा के जोक्कड़ गीत-गायन, नृत्य और संवाद अदायगी में बड़े कुशल होते हैं। वे बात से बात पैदा करने में माहिर होते हैं। कहा भी जाता है-

जईसे केरा के पात-पात में पात।
तईसे जोक्कड़ के बात-बात में बात।।

अर्थात् जिस प्रकार केले के पौधे में पत्ते ही पत्ते होते हैं, उसी प्रकार जोक्कड़ की बातों से बातें ही पैदा होती हैं। चश्मा लगाया हुआ जोक्कड़ कहता है-

हाँ...हाँ...हाँ...हाँ...हाँ...हाँ...हाँ...हाँ...

चार आँखी दू बाँहा जी।

कैसी अनोखी बात है? आँखें चार हैं और भुजाएँ दो। सुनने वाले तो अवाक् और हतप्रभ रह जाते हैं। तब दूसरे ही क्षण वह जोक्कड़ अपना चश्मा निकालकर फिर कहता है- 'चार आँखी दू बाँहा जी'। तब दर्शक कठल जाते हैं। जोक्कड़ के वाक् चातुर्य की दाद देते हैं और हँसते-हँसते लोटपोट हो जाते हैं।

देखिये एक जोक्कड़ बात में किस तरह से बात पैदा करता है। वह अपनी प्रत्युत्पन्नमति से बड़े-बड़े विद्वानों की बातों को झूठ साबित कर देता है। एक लोकोक्ति है या कहें किसी विद्वान का कथन है कि -

पानी पियो छान के, गुरु बनाओ जान के।

अर्थात् पानी को छानकर पीना चाहिए और गुरु को जान समझकर बनाना चाहिए। सीधी सी बात है, लेकिन नाचा का कलाकार दूसरा जोक्कड़ तर्क प्रस्तुत करता है और कहता है - नहीं।

पानी पियो जान के, गुरु बनाओ छान के।

यदि कोई तुम्हारे सामने डबरे का पानी छानकर दे, तो क्या तुम उसे पी लोगे? नहीं। इसलिए पानी को जानकर पियो और गुरु को छानकर अर्थात् चुनकर जाँच-परख कर बनाओ।

नाचा में रात भर में तीन या चार गम्मत प्रस्तुत किये जाते हैं। प्रत्येक गम्मत के पूर्व में इस तरह की साखियाँ और पहेलियाँ

प्रस्तुत करने की परम्परा है। जीवन और जगत से जुड़ी हुई ये साखियाँ और पहेलियाँ जहाँ लोगों का मनोरंजन करती हैं, वहीं उनके ज्ञानार्जन में सहायक सिद्ध होती हैं। लोक के इस प्रयोजन में लोक की अनुभूति ही अभिव्यक्त होती है।

नाचा में प्रयुक्त होने वाली साखियों और पहेलियों को अग्रलिखित रूपों में विभाजित किया जा सकता है- देवी- देवता, नीति, मानवीय संबंध, कृषि संस्कृति, पशु-पक्षी और प्रकृति, द्विअर्थी या यौन प्रतीक सम्बन्धी तथा अन्य साखियाँ।

देवी-देवता संबंधी - लोक जीवन धार्मिकता से ओतप्रोत होता है। धर्म पर लोक जीवन की आस्था अधिक रहती है। राम-सीता, कृष्ण-राधा, शंकर-पार्वती आदि देवी-देवताओं के साथ-साथ प्रत्येक लोकांचल के अपने और भी भिन्न-भिन्न देवी-देवता होते हैं। नाचा में इन्हीं देवी-देवताओं से संबंधित धर्म विषयक साखियाँ व पहेलियाँ गम्मत के प्रारंभ में जोकड़ प्रस्तुत करते हैं-

*घर निकलत तोर ददा मरगे, अधमरा होगे तोर भाई।
बीच रद्दा म नारी के चोरी होगे, काम बिगाड़े तोर दाई ॥*

उपरोक्त साखी में श्रीराम से संबंधित कथा को पहेली के रूप में प्रस्तुत किया गया है। भावार्थ यह कि - घर से तुम्हारे निकलते ही तुम्हारे पिताजी ने प्राण छोड़ दिये। तुम्हारा भाई मूर्छित हो गया। बीच रास्ते में तुम्हारी पत्नी की चोरी हो गई। ये सारे कार्य तुम्हारी माँ ने बिगाड़े हैं। जाहिर है उक्त घटनाएँ श्रीराम के साथ ही घटित हुई थी।

*चार महीना के छोकरा, छः महीना के पेट।
अट्टारा झन लईका बियाय, पुरुष संग नहीं भेंट ॥*

नाचा में जोकड़ों द्वारा साखी कहने की अद्भुत शैली होती है। साखी में प्रश्न होते हैं जो दर्शकों को उत्तर सोचने के लिए विवश करते हैं। हल तो जोकड़ों द्वारा ही निकाला जाता है। चार माह की लड़की है, जिसे छः माह का गर्भ है। उसके अट्टारह बच्चे हैं। आश्चर्य यह कि किसी पुरुष के साथ उसकी भेंट नहीं हुई है। इसका उत्तर है- चार वेद, छः शास्त्र और अट्टारह पुराण। इसी तरह देवी-देवता संबंधी एक अन्य साखी-

*पानी तिहां बूँद नहीं, आगी तिहां नहीं आँच।
पंच तिहां नियाँव नहीं, बिन दूल्हा जाय बरात।*

इस साखी में गोवर्धन पर्वत, लंका दहन, द्रोपदी चीरहरण व अयोध्या से श्रीराम (दूल्हा) के बिना बारात प्रस्थान की ओर ईशारा है।

नीति संबंधी - आचरण की पवित्रता, लोक जीवन की विशेषता है। लोक जीवन सादगी पूर्ण, सहज, सरल और वाह्य आडम्बरों से मुक्त होता है। सत्य, ईमानदारी, सेवा-सहयोग और मैत्रीपूर्ण व्यवहार गाँव के लोगों की संपत्ति है। ये नीति और नियमों के पक्के, खुद दुख सह लेंगे, पर दूसरों को दुख नहीं देंगे। नीति न्याय का पर्याय है। नाचा में नीति संबंधी साखी की बहुलता है।

*राजा के मरगे हाथी, देवान के मरगे घोड़।
रांडी के मरगे कुकरी, त एक बराबर होय।*

यदि राजा का हाथी मर जाये, मंत्री का घोड़ा मर जाये और किसी गरीब विधवा स्त्री की मुर्गी मर जाये, तो इन तीनों की हानि बराबर आंकी जायेगी।

*मैं मरेंव तोर बर, तैं झन मर मोर बर।
तैं मरबे मोर बर, त ऊपर खड़े हे तोर बर ॥*

इस साखी में केचुआ (जिसे मछली फँसाने के लिए काँटे में लगाया जाता है) मछली से कहता है- मुझे तुम्हें फँसाने के लिए मारा गया है, अच्छा होगा कि तुम मुझे खाने के लिए मत दौड़ो। यदि तुम मुझे खाओगे तो बंशी के काँटे में फँसकर मारे जाओगे। क्योंकि तुम्हें मारने के लिए ऊपर आदमी खड़ा है। इस साखी में लालच न करने की शिक्षा सन्निहित है।

*बड़े फजर परचारी करे, अऊ परे दुवारी जाय।
पर नारी से हेत करे तो, सीधा बैकुंठ जाय।*

अलसुबह जो दूसरे की चर्चा करेगा, दूसरे की आँगन में जायेगा तथा दूसरे की नारी से प्रेम करेगा, वही सीधा बैकुंठ जायेगा। यह कबीर की उलटबासी की तरह है। यहाँ पर चारी का आशय- प्रभु स्मरण से है। दूसरे के आँगन का आशय सुबह शौच क्रिया से है तथा दूसरे की नारी का आशय तुलसी के पौधे में जल

डालने से है। अर्थात् उपरोक्त क्रिया कर व्यक्ति स्वस्थ रहकर बैकुंठ को प्राप्त कर सकेगा। स्वस्थ रहना ही बैकुंठ को प्राप्त करना है।

मानवीय संबंध संबंधी – संबंधों की प्रगाढ़ता मानव जीवन का माध्यम है। जहाँ मानवीय संबंधों में मिठास होगी, वही परिवार समुन्नत और संपन्न होगा। नगर जीवन में लोग संयुक्त परिवार से कट रहे हैं, और एकाकी जीवन व्यतीत कर रहे हैं। पर गाँवों में हमें आज भी संयुक्त परिवार देखने को मिलते हैं। परस्पर प्रेम, अनुशासन, साहचर्य, सहयोग और समरसता संयुक्त परिवार व मानवीय संबंधों के रक्षा कवच हैं। लोक जीवन की यह विशेषता नाचा की साखी परम्परा से पृथक नहीं है।

*एक बाप बारा बेटा, छै झन बहू बिहाय।
एक लुगरा पहिरा के ओला, खारन खार कुदाय।*

इसका उत्तर है- बैलगाड़ी का चक्का, जिसमें बारह आरे, छः पुठा और एक बाठ होता है। स्थूल रूप में इसमें संयुक्त परिवार का दृश्य प्रतिबिम्बित होता है।

*आगू-आगू तैं रेंगस, पाछू म तोर भाई।
मुंडा तोर ददा, दाँत निपोरे तोर दाई।।*

प्रस्तुत साखी कपास पर केन्द्रित हैं। जिसका फल गोल और चिकना होता है और पककर फटने पर उसमें कपास मुस्कुराते हुए व्यक्ति के दाँत की तरह झांकता है।

*एक माई के दू पीला, दूनो के एके रंग जी।
एक दउंडे एक बईठे, तभो नई छूटे संगी।।*

एक माँ के दो बच्चे हैं, दोनों का रंग एक जैसा ही है, एक दौड़ता रहता है, दूसरा बैठा रहता है। फिर भी दोनों का साथ नहीं छूटता। दोनों का अनन्य प्रेम है। एकबारगी इस साखी का अर्थ नहीं लगाया जा सकता, लेकिन मानसिक व्यायाम से इसका सरलार्थ सामने आ जाता है वह है- चक्की। लोककलाकार अपने आसपास की वस्तुओं को भी कितनी सहजता व सरलता से मानवीय संबंधों का जामा पहनाकर साहित्य रच लेता है। नाचा के कलाकार तो होते ही हैं, प्रत्युत्पन्नमति और हास्य के जनक।

कृषि संबंधी – गाँव के लोगों का प्रमुख कार्य कृषि ही है।

नाचा के कलाकार भी स्वतः कृषक और मजदूर होते हैं। तब भला अपने कृषि कर्म में काम आने वाली वस्तुओं को वे कैसे भूल सकते हैं? कृषक जीवन की दिनचर्या और कृषि कर्म भी साखी और पहेली के विषय बनते हैं-

*आगू डाहर सुल्लु, पाछू डाहर चकराय।
आंही-बांही गोल गोल, बीच म ठड़ियाय।।*

इस साखी में बैलगाड़ी का चित्रण है, जिसका सामने भाग नुकीला और पिछला भाग चौड़ा होता है। आजू-बाजू गोल-गोल दो चक्के होते हैं। बीच में लोहे की पोटिया लगी होती है।

*टरर-टरर करथस टरटरहा, तोर घेंच म बाँधव घांटी।
बीच पेट ल बेध के तोर, पाछू म छबंव माटी।।*

गाँवों में सिंचाई का समुचित साधन नहीं होने के कारण ग्रामीणजन कुँए में टेड़ा लगाकर पानी टेड़ते हैं और सिंचाई करते हैं। उपरोक्त साखी में टेड़ा को पहेली के रूप में पूछा गया है।

पशु-पक्षी, प्रकृति संबंधी – लोक मानस प्रकृति का पुजारी है, प्रकृति ही उसका सर्वस्व है। इसलिए वह प्रकृति से तादात्म्य बनाकर चलता है। प्रकृति से कटना जैसे जीवन से कटना है। प्रकृति ही लोक के लिए ऊर्जा स्रोत है और उसका जीवन भी। जंगल, जल और जमीन लोक के प्राण तीन। प्रकृति पुत्र नाचा का कलाकार भला प्रकृति का अनादर कैसे कर सकता है?

उसके रोम-रोम और साँस में प्रकृति के प्रति अनन्य प्रेम है, इसीलिए लोक कलाकार प्रकृति का प्रेमी होता है। प्रकृति भी उसकी कला की अभिव्यक्ति में मुखरित होती है। नाचा की साखियाँ प्रकृति के विविध रंगों से रंगी हुई-

*एक सींग के बोकरा, मेरेर-मेरेर नरियाय जी।
मुँह डाहर ले चारा चरे, बाखा डाहर ले पगुराय जी।।*

विचित्र बात यह कि बकरे का एक ही सींग है। वह में-में बोलता है। मुँह से चारा चरता है, किन्तु जुगाली बाजू से करता है। लोक में ऐसी सादृश्यता चक्की में मिलती है।

*तीन गोड़ धरनीधरे, एक गोड़ अगास।
बिन बादर के बरसा, पंडित करो विचार।।*

लोक कलाकार अपने आसपास परिवेश की हर घटनाओं को देखता-परखता है। तब भला कुत्ता जो एक टॉग उठाकर पेशाब करता है। वह कैसे बच सकता है? उसकी नजरों से। उपरोक्त साखी में कहा गया है कि तीन पैर धरती पर। एक पैर ऊपर आकाश की ओर और बिना बादल के बरसात हो रही है, इस पर ज्ञानीजन विचार करें।

*बिन पाँव के अहिरा भईया, बिना सींग के गाय।
अइसन अचरज देखेन हम, खारन खार कुदाय।।*

इस साखी में मेंढक को बिना सींग की गाय और सर्प को बिना पैर का ग्वाला चित्रित किया गया है। मेंढक को खाने के लिए सर्प दौड़ाता है। तब गाय के पीछे दौड़ते ग्वाले की ही स्थिति निर्मित होती है।

*चार गोड़ के चप्पो, ओखर ऊपर निप्पो।
आइस भाई गप्पो, तहां धर के लेगे निप्पो।।*

चार गोड़ के चप्पो अर्थात् डबरे में बैठी भैंस। निप्पो अर्थात् भैंस पर बैठा मेंढक व गप्पो यानी चील, चील मेंढक को चोंच में दबाकर भाग जाता है।

*दस चरन दस नेत्र हैं, पाँच मुड़ जीव चार।
पनिहारिन के दोहरा, पंडित करो विचार।।*

दस पैर हैं, दस आँखें हैं और पाँच सिर हैं, किन्तु जीव अर्थात् जीवित चार ही हैं। पनिहारिन की तरह ऊपर दोहरा है। अजी यह क्या है? विद्वान जन इस पर विचार कर बतायें। इस साखी का अर्थ तो अर्थी है। जिसमें शव को चार लोग कंधा देकर ले जाते हैं।

*लाल गोला गोल चपटी, सिंह धर बाघ खाय।
हाथी संग करे लड़ाई, अऊ कउंवा ल डराय।।*

आकार गोल चपटा, रंग लाल है। सिंह, बाघ से डरता नहीं, हाथी से भी लड़ लेता है, किन्तु कौए से डरता है। वह जीव तो किलनी (जानवरों का खून चूसने वाला) है।

द्विअर्थी या यौन प्रतीक संबंधी - नाचा में यदा-कदा द्विअर्थी साखी का प्रयोग किया जाता है। सुनने में अश्लील लगते

हैं, किन्तु भावार्थ स्पष्ट करने पर अश्लीलता की परिधि से बाहर आ जाते हैं। नाचा में इस तरह की साखियाँ पहले कही जाती थी, किन्तु अब इसका प्रयोग नहीं किया जाता है। अश्लीलता व अशिष्टता से बचने के लिए। एक तो वैसे भी अभिजात्य वर्ग नाचा कलाकारों को अशिष्ट कहता है और हेय दृष्टि से देखता है। आज पाश्चात्य प्रभावों से ग्रसित अभिजात्य व शिष्ट समाज की अशिष्टता और अश्लीलता ही उसकी शिष्टता है।

*मोर लम्बा तोर चपटी, दूनों के एके रंग।
एक ऊपर एक खाल्हे, नई छूटे दूनों के संग।।*

इस साखी में साधारणतः स्त्री-पुरुष के गुप्तांगों का अर्थ ध्वनित होता है, पर असाधारण बात है कि इसमें कवेलू का वर्णन है। कवेलू दो तरह के होते हैं- एक लम्बा (अर्द्धगोलाकार) व दूसरा चपटा दोनों का रंग लाल होता है। चपटा कवेलू नीचे व लम्बा कवेलू ऊपर होता है। इस तरह ये दोनों साथ होते हैं।

*तरी पेंदा ऊपर सीसा, मारे बीता-बीता।
मार मुरा के तैं संगी, पढ़ले रमायन गीता।।*

प्रस्तुत साखी सुनने में अटपटी और अश्लील लगती है, किन्तु यह पेट्रोमेक्स (गैस बत्ती) का भावार्थ लिये हुए हैं।

अन्य साखियाँ- नाचा में और भी कई प्रकार की साखियाँ कही जाती हैं, जो वर्तमान संदर्भों में मानवीय क्रियाओं, मानवीय आवश्यकताओं से संबंधित हैं। लोक जो देखता है, सुनता और अनुभव करता है, वह ही उसकी साखी के विषय बनते हैं, इसलिए नाचा की साखी परम्परा में विविधता है-

*हाँ...हाँ... हाँ... हाँ... हाँ... हाँ... हाँ... हाँ...
पीठ ऊपर कुला नाचे, ये तमासा कहां*

यहाँ पीठ ऊपर कुल्हा नाचने का आशय घोड़े की पीठ व घुड़सवार के कूल्हे से संबंधित है।

*देह तोर तिपे हे, तोला जर धरे हे का जी?
बोकोर-बोकोर देखथस मोला, खा देबे तैं का जी?*

उपरोक्त साखी में बिल्ली गर्म रोटी को देखकर कहती है- तुम्हें बुखार है क्या? तब रोटी प्रतिप्रश्न करती है- तुम मुझे खा डालोगी क्या?

दूर देस तोर मईके, गाँव-गाँव ससुरार ।
अलिन-गलिन गोसईया, तोर घरो घर लगवार ॥

यह साखी बिजली से संबन्धित है। बिजली जहाँ पैदा होती है, वह उसका मायका (मैहर) है। गाँव-गाँव उसकी ससुराल है। गलियों-सड़कों के बिजली के खम्भे उसके स्वामी (पति) हैं। और प्रत्येक घर में उसके चाहने वाले प्रेमी हैं।

मट-मट करथस मटमटही, तोर माथ म हीरा ठोकाय ।
आखा-बाखा ल छोड़के तैं, पूछी म संख बजाय ।

इस साखी में हवाई जहाज का चित्रण है। रात में जलने वाली बत्ती उसके माथे का हीरा है। हवाई जहाज की आवाज पीछे सुनाई देती है, वही शंख ध्वनि।

डोकरा भागे लड़भड़ लईया, मोटियारी दमदमाय ।
लईका भागे तुरतुर तुरतुर, पेट भरी तनियाय ।

लोक कलाकारों ने इस साखी में खाली ट्रक, मोटर, बस, जीप-कार व भरी हुई ट्रक की गति की क्रमशः बुड्ढे, जवान, लड़की, बच्चों व गर्भवती स्त्री के चलने की गति से तुलना की है।

नाचा में साखी के माध्यम से जोकड़ हास-परिहास उत्पन्न कर दर्शकों का मनोरंजन करते हैं। मनोरंजन का यह माध्यम लोक की आभा को द्विगुणित करता है। शिष्ट वर्ग भले ही अश्लील बातों को मनोरंजन का जरिया बनाये, लेकिन लोक के पास तो मनोरंजन के अनेक माध्यम हैं। उसकी व्यापक व पैनी दृष्टि लोक के क्रिया व्यापारों में ही उसके लिए मनोरंजन और ज्ञानार्जन की सामग्री चुन लेती है। गम्मत प्रारंभ होने के पूर्व नाचा में साखी की परम्परा नाचा को उद्देश्यपरक और लोकरंजक बनाती है। साखी परम्परा नाचा की अपनी निजता है। उसका अपना वैशिष्ट्य है। इसके मूल में लोक का दीर्घकालीन अनुभव और अभिव्यक्ति का सुन्दर समन्वय है।

छत्तीसगढ़ी साहित्य में संस्कृति

डॉ. आरती झा

छत्तीसगढ़ आर्य एवं अनार्य संस्कृति का संगम स्थल है। दक्षिण की द्रविड़ संस्कृति एवं उत्तर पश्चिम की आर्य संस्कृति ने मिलकर मध्य भारत की संस्कृति का निर्माण किया। उसमें छत्तीसगढ़ हृदय स्थल है—इस संस्कृति संगम का रीति-रिवाजों से लेकर आस्था, मान्यता, लौकिक चिन्तन, व्यवहार तथा सांस्कृतिक परम्परा तक यह मिश्रण दिखाई देता है। कृष्ण उत्तर से पश्चिम तक चले गए। राम उत्तर से दक्षिण तक चले गए। शिव हिमालय से रामेश्वरम् तक विराजमान हो गए। ये देवतागण माध्यम बन गए, आर्य और द्रविड़ संस्कृति को जोड़ने में। ये देवता सेतुबन्ध ही तो हैं और इन्हीं सेतुबंध देवताओं ने भारत को जोड़ा।

छत्तीसगढ़ की लोक संस्कृति आर्य और अनार्य संस्कृति की समन्वित उदार संस्कृति है, जो यहाँ आता है, यहाँ की संस्कृति में अपने को ढालकर यहीं का हो जाता है। छत्तीसगढ़ भी उसे आत्मसात् कर लेता है। महाराष्ट्र, आन्ध्र, उड़ीसा, बिहार, उत्तर प्रदेश से घिरा छत्तीसगढ़ भारतीय संस्कृति का हृदय स्थल कहा जा सकता है। जहाँ आदिम द्रविड़ और आदिम आर्य संस्कृति का सामासिक समन्वय हुआ है।

अंग्रेजी साहित्य की भाँति हिन्दी में भी लोक साहित्य के लिये अनेक पर्याय सुझाये जाते रहे हैं। श्री सुनीति कुमार चटर्जी यदि इसे 'लोकायन' कहना चाहते हैं तो श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी लोक संस्कृति। डॉ. सत्येन्द्र एवं डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल के मतानुसार लोक-साहित्य को लोकवार्ता कहना अधिक समीचीन है।

स्पष्ट है कि इन विद्वानों ने अंग्रेजी के लोर शब्द का हिन्दी में अनुवाद अपने-अपने ढंग से किया है और 'फोक' के हिन्दी पर्याय 'लोक' को यथावत् स्वीकार किया है। 'फोक' शब्द के हिन्दी रूपांतर 'लोक' को नकारने वाले प्रमुख विचारक हैं श्री रामनरेश त्रिपाठी

तथा डॉ. मोतीचन्द्र त्रिपाठी जो 'फोक' का अनुवाद 'ग्राम' करते हैं और डॉ. मोतीचन्द्र 'जन पर संभव'। अर्थ व्यापकता के अभाव में यह शब्द अधिक प्रचलित न हो सके।

लोक साहित्य की अपनी विशिष्टताएँ होती हैं। डॉ. सत्येन्द्र के अनुसार लोक-साहित्य के अन्तर्गत वह समस्त बोली या भाषागत अभिव्यक्ति आती है, जिसमें- आदि मानव के अवशेष उपलब्ध हों। परम्परा या मौखिक क्रम से उपलब्ध बोली या भाषागत अभिव्यक्ति हो, जिसे किसी की कृति न कहा जा सके। जिसे श्रुति ही माना जाता हो और जो लोक मानस की प्रवृत्ति में समायी हुई हो। किन्तु वह कृतित्व लोक मानस के सामान्य तत्त्वों से युक्त हो, उसमें किसी व्यक्तित्व के साथ संबंध रखते हुये भी लोक उसे अपने ही व्यक्तित्व की कृति स्वीकार करे।

कहना न होगा कि इस दृष्टि से छत्तीसगढ़ी का लोक-साहित्य अत्यंत समृद्ध है। यहाँ के निवासियों ने सूर्योदय से घण्टा पूर्व जागकर तथा बहुत पीछे विश्रामकर कठोर श्रम साधना की है। पर्वों और त्योहारों को उन्होंने अपने ढंग से जिया है। खेत-खलिहान, नदी-नाले, गिरि-अमराई और मिट्टी के ढेलों में उन्होंने हँसते-रोते जीवन-यापन किया है। अज्ञान और तिरस्कार को शताब्दियों से 'करम का लिखा' मान उनकी अनेक पीढ़ियाँ खप चुकी हैं। गरीबी को चिरसंगिनी बनाये हुए उन्होंने अपने हास और रुदन को जिस सहजता एवं मधुरता से कंठाभिव्यक्ति दी है, उसमें शास्त्रीयता भले ही न हो, पर जीवंतता नहीं है, यह नहीं कहा जा सकता। इसी जीवंतता ने छत्तीसगढ़वासियों को अभाव और संघर्ष में भी सहनशील, शांत तथा धीर-वीर बनाया। साथ ही बाहर से आने वालों को अपना बना कर रखा। उनकी अतिथिप्रियता, उनका आत्मगत संसार है, जो सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति को छोटे परिवेश में चिरंजीवी बनाए हुए है।

लोक-साहित्य के अंतर्गत लोकगीत, लोक कथाएँ, कथागीत, धर्मगाथाएँ, लोकनाट्य आदि सम्मिलित हैं। छत्तीसगढ़ के प्रकृति वैभव की भाँति इसका लोक साहित्य भी अत्यंत समृद्ध एवं हृदयग्राही है। लोगों की बाल मनोवृत्ति और उसके आदर्शों की छाप गीतों, कथाओं और वार्ताओं में विद्यमान है। छत्तीसगढ़ भारत का मध्यवर्ती दक्षिणी-पूर्वी भाग है। जनमानस की आंदोलित लहरें समय-समय पर उसे छूकर अपने साथ लाई हुई भावनाओं का प्रभाव छोड़कर बदले में कुछ लेती गईं। छत्तीसगढ़ी लोक-साहित्य में सीमावर्ती प्रदेशों महाराष्ट्र, उड़ीसा, आंध्रप्रदेश, उत्तर प्रदेश तथा बिहार में प्रचलित कथाओं तथा गीतों

आदि से अत्यधिक साम्य दृष्टिगोचर होता है। इसका वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है-

छत्तीसगढ़ी गीत

गीत साहित्य सजीव पारम्परिक निधि है। छत्तीसगढ़ी के प्रमुख लोकगीतों में जन्म संस्कार गीत, विवाह गीत, सुआगीत, भोजली और गौरा गीत, ददरिया और लोरी गीत, जवारा गीत, भजन और बालक-बालिकाओं के खेल गीत प्रमुख हैं। विवाह गीत में तेल चढ़ने के गीत का उदाहरण दृष्टव्य है-

एक तेल चढ़िगे हो
हरियर हरियर
मंडवा में दुलरू
तोर बदन कुम्हिलाय
रामलखन के
तेल और चढ़त है
कहवा के दियना
होवे अंजोर।

लोकनृत्य

छत्तीसगढ़ी लोक नृत्यों में सुआ नृत्य, डंडा, कर्मा, मंडई, फड़ी, नाचा और रामनृत्य प्रमुख हैं। सुआ नृत्य जिसे मुकुटधर पाण्डेय ने छत्तीसगढ़ का 'गरबा' कहा है, का उदाहरण दृष्टव्य है-

पड़या परत हों मैं चंदा सुरुज के
मोला तिरिया जनम झनि देय सुआ रे।
तिरिया जनम मोर अति कलपना रे
मोला तिरिया जनम झनि दे सुआ रे॥

लोकगाथा

छत्तीसगढ़ी जनपद के प्रायः समस्त प्रधान लोकगीतों में किसी न किसी रूप में लोक गाथा का समावेश रहता है। इसके अन्तर्गत नारी गीतों में सुआ, भोजली तथा देवी गीतों और पुरुष गीतों में डण्डा, पण्डवानी में भी लंबी कथाएँ वर्णित रहती हैं। छोटी कथाओं में ढोला, चंदावीर सिंह तथा सरवन की कथा प्रमुख है। इन लोक कथाओं का निर्माण काल मध्ययुग है। अतः तत्कालीन परिस्थितियों का चित्रण भी इनमें मिलता है। कथा के नायकों में वीरता का वर्णन भरपूर है। उनका व्यक्तित्व भी उन्नत है। वीरता स्त्रियों का भी प्रधान गुण माना गया है। ये लोक गाथाएँ

किसी न किसी विशिष्टता को लेकर चलती हैं। मूलतः यह कहानियाँ ही हैं, पर गेय हैं। अतः गीत का आनंद भी इनमें आता है, जिससे कहानी और भी रोचक हो जाती है। अहिमन रानी, कँवला रानी, सेवा रानी, फुलबासन, फूलकुँवर, कल्याण सा, राजा वीरसिंह, ढोलामारू, लोरिक चंदा आदि छत्तीसगढ़ की प्रमुख लोक गाथाएँ हैं।

लोक कथा

लोक कथाएँ लोक गीतों की भाँति ही जनमानस की निधि हैं। छत्तीसगढ़ी लोक कथाओं की संख्या अति विशाल है। जहाँ तक मानव की वैचारिक, काल्पनिक, वास्तविक भावों तक की पहुँच है, वहीं तक लोक कथा का विषय भी पहुँचता है। सपने को सत्य के रूप में देखने और जिज्ञासा के समाधान के लिए यथेष्ट लोक कथाओं का सृजन हुआ है। छत्तीसगढ़ की प्रमुख लोक कथाओं में व्रत अनुष्ठान की कथाएँ, पौराणिक देवी-देवताओं की कथाएँ, भूत-प्रेत की कथाएँ, पण्डवानी कथा, मानवीय विश्वास एवं सृष्टि उत्पत्ति की कथा, चौदह विद्या, टोना विद्या एवं जादुई चमत्कार की कथाएँ प्रमुख हैं।

लोक साहित्य मनुष्य के मन की अन्तरंग लय है, जो अपनी सम्पूर्ण रागात्मकता के साथ, मनुष्य से सहज रिश्ता जोड़ता है और मानव मूल्यों की रक्षा करता है। हमारी भारतीयता सुरक्षित है, हमारी संस्कृति विशाल है, हमारा जीवन भरापूरा है—क्योंकि अभी भी लोक साहित्य जीवित है। लोक साहित्य सदैव लोक मंगल की भावना से जुड़ा रहता है। यह आस-पास की समस्त पीढ़ा को समेटता हुआ मानवीय रिश्ते के बाधक तत्त्वों पर निरंतर प्रहार करता है। प्रहार के माध्यम कई तरह के हो सकते हैं—करुणा के साथ लोक गीतों में अभिव्यक्ति करते हुए फिर खेल में सहज पहेलियाँ बुझाते हुए। माध्यम कुछ भी हो, युग की चेतना अवश्य झलकती है। यह जन-चेतना, युग-चेतना, लोक साहित्य का प्राण तत्व है। यह रूढ़ परम्परा पर प्रहार करती जनचेतना लोक साहित्य की अविरोध धारा में मिलती जाती है और लोक साहित्य विशाल होता जाता है।

चाहे विवाह गीतों की बात हो या संस्कार गीतों की हमारा आँगन बहुत छोटा हो रहा है। हम नगरीय-महानगरीय सभ्यता की जकड़न में उन समस्त परम्परागत रागात्मक अनुभूतियों के गीतों को भूलते जा रहे हैं। विवाह संस्कार के मण्डप के लिए अधिक जगह नहीं रही। आत्मीय स्वजनों से बैठकर वार्तालाप करने का

समय नहीं रहा। छोटे-छोटे दुःख और सुख की लंबी चर्चाएँ अब नहीं हो रही। धीरे-धीरे लोकगीतों की धुनें धीमी पड़ने लगी हैं और अकस्मात् समाजशास्त्री-समाजविज्ञानी चिंतित हो उठे हैं। यह प्रश्न निरंतर बना हुआ है कि हम लोकगीतों और लोक कथाओं को कैसे सुरक्षित रखें?

लोक साहित्य सहज आत्माभिव्यक्ति है। रागात्मक धरातल पर जवारा, मातासेवा, ग्राम देवता, ग्रामदेवी, विवाह मण्डप पूजा, जीवन के सभी संस्कार जन्म से मृत्यु तक लोक जीवन इनसे आधार मांगता है। नदी, पानी, प्रकृति, आकाश, खुली हवा पर अधिकार लोक जीवन का है। लोक जीवन इन सबसे बनता है।

मध्यप्रदेश एक हिन्दी भाषी प्रदेश है। यहाँ के दक्षिण पूर्व का अंचल जो अब एक स्वतंत्र राज्य है, छत्तीसगढ़ कहलाता है। इसमें रायपुर, दुर्ग, राजनादगाँव, बिलासपुर, अंबिकापुर (सरगुजा), बस्तर (जगदलपुर), रायगढ़ आदि क्षेत्र आते हैं। पहाड़ों और जंगलों से घिरा अंचल वनवासियों की बहुलता से युक्त है। सरगुजा और बस्तर के पहाड़ एवं वनप्रांतर वहाँ के लोक जीवन को अभी तक सुरक्षित रखे हुए हैं।

लोक साहित्य काल की घटनाओं से निरन्तर प्रभावित रहता है। छत्तीसगढ़ी साहित्य पर भी नवजागरण की छाप दिखाई पड़ती है। छत्तीसगढ़ी गीतों में सुआगीत, ददरिया, चनैनी, बाँसगीत, राउत गीत-नृत्य, पंथी गीत-नृत्य, परम्परागत लोकनाट्य नाचा (गम्मत) पूरी रात चलने वाला सांस्कृतिक परिकल्प है। ये यहाँ की प्रसिद्ध नाट्य शैलियाँ हैं, जिसमें लोक जीवन की समग्र सामाजिक और राजनैतिक चेतना का विकास दिखाई देता है। 'नाचा' हास्य-व्यंग्य और करुणा से भरपूर लोकनाट्य विधा है। उसी प्रकार डिड़वा नाच (एक रात का स्त्री राज्य) प्रसिद्ध है। बारात प्रस्थान के बाद पुरुष विहीन गाँव में नारियाँ रात भर जागती हैं और अनेक प्रकार के स्वांग रचकर हास्याभिनय करती हैं। ये तत्काल बुद्धि के साथ तुरंत की घटना पर कथा का नियोजन करती हैं। पूरे गाँव की रखवाली भी होती है। मन की कुंठा का द्वार भी खुलता है। भीतर की छिपी हुई कला की अभिव्यक्ति होती है। समसामयिक स्थितियों पर चोट भी करती हैं। पुरुष बनकर धोती, कुर्ता, पेंट-कोट पहनकर स्वांग करना और अपने संवादों से सामंत, राजा, पंच आदि के अन्याय पर चोट करती हैं, साथ ही अंदर का श्रृंगार भी खुलकर व्यक्त होता है। छत्तीसगढ़ी साहित्य में लोक चेतना और सामाजिकता को व्यक्त करने वाला सुआ गीत का यह उदाहरण दृष्टव्य है—

तरि नरि नाऽऽ नाऽऽ मोर
 तरि नरि नाऽऽ नाऽऽ मोर
 ओऽऽ सुआनाऽऽ
 तिरिया जनम इन देवे।
 तिरिया जनम मोर गऊ के बरोबर
 गऊ के बरोबर
 रे सुआनाऽऽऽ

यह एक करुण गीत है, जिसमें नारी सुअना की तरह बँधी हुई है। इसलिए अगले जनम में नारी जीवन पुनः न मिले, ऐसी कामना करती है। साथ ही यह गीत उस समय पराधीन भारत माता का प्रतीक भी था।

बाँस गीत में राजा के अत्याचार का वर्णन करते हुए उसकी सामंती व्यवस्था को चूर-चूर कर उसे भगाने का संकल्प है। यह राजा उस समय का अंग्रेज ही हो सकता है। उदाहरण दृष्टव्य है-

भूरि भइंस के दूध दुहा ले
 चहा पी ले राजाऽऽ
 चहा पी ले राजाऽऽ
 इन्दर आसन डोलथे अब
 तैं परान लगा दे राजाऽऽ
 परान लगा दे राजाऽऽ
 परजा तार असन खिंचागे
 तोला भगाहों राजाऽऽ
 में तोला भगाओं राजाऽऽ

द्रोपदी चीरहरण के इस प्रसंग के बहाने द्रोपदी भारतमाता और दुःशासन दुर्योधन अंग्रेजी शासकों के प्रतीक हैं। उदाहरण-

दुरपती हा चारों डाहर देखिस-मुड़ गड़ाए हे सबो-राजा, मंत्री, भीष्म पितामह, हांसथे सकुनि चंडाल। भांचा के मया मां अंधेरा होगे हे सकुनि। भीष्म के गियान कोन कोती बोहागे? गुरु चला बइठे हे। उहू कुछु नई कहे। इही ल कइथे विनास काल माँ बुद्धि भ्रष्ट हो जएथे। भारत माता कस घेराय गेहे दुरपती हो।

इस तरह न जाने कितने ऐतिहासिक पात्रों को प्रतीक बनाकर गीत गाये गए और पराधीन भारत की पीड़ा को अभिव्यक्त किया गया। जागरण का संदेश दिया गया और देश की आजादी की कामना की गई। इस तरह छत्तीसगढ़ी लोक साहित्य में सामासिकता के दर्शन हमें लोक जीवन के हर रूप में होते हैं।

अभिव्यक्ति जब मातृभाषा का आँचल पकड़ लेती है, तो वह जीवंत हो उठती है। छत्तीसगढ़ी लोक साहित्य भी अपने सांस्कृतिक मूल्यों एवं सामासिकता को जीवंत रूप से अभिव्यक्ति प्रदान करने वाला है। जन्म से लेकर मृत्यु तक जीवन परिस्थितियों के उत्थान-पतन से प्रभावित होता है। लोक जीवन को छूता हुआ लोक साहित्य कैसे इस प्रभाव से अछूता रह सकता है। लोकगीत हो या लोक नृत्य, लोक कथाएँ हो या लोक गाथाएँ छत्तीसगढ़ी साहित्य अपने इन रूपों में अपनी संस्कृति और सामासिकता को लपेटे हुए है। लोक जीवन के बाह्य एवं आंतरिक दोनों पक्षों के माध्यम से अभिव्यक्ति करने वाला छत्तीसगढ़ी लोक साहित्य अत्यन्त समृद्ध है।

संदर्भ

- छत्तीसगढ़ी भाषा और साहित्य-संपादक, डॉ. सत्यभामा आडिल
 छत्तीसगढ़ी का उद्विकास-डॉ. नरेन्द्र देव वर्मा
 छत्तीसगढ़ी लोक साहित्य का अध्ययन-दयाशंकर शुक्ल
 छत्तीसगढ़ी लोक जीवन और लोक साहित्य का अध्ययन-डॉ. शकुन्तला वर्मा
 छत्तीसगढ़ी साहित्य का ऐतिहासिक अध्ययन-डॉ. नंद किशोर तिवारी
 छत्तीसगढ़ी परिचय-डॉ. बलदेव प्रसाद मिश्र
 छत्तीसगढ़ी लोकगीतों की भूमिका-डॉ. नारायण लाल परमार
 छत्तीसगढ़ी लोक साहित्य और नव जागरण-डॉ. सत्यभामा आडिल
 मध्यप्रदेश का इतिहास-हीरालाल
 लोक साहित्य का अध्ययन-त्रिलोचन पाण्डेय
 छत्तीसगढ़ी समीक्षा को डॉ. विनय पाठक का प्रदेय-डॉ. निर्मलकर

पत्र-पत्रिकाएँ

छत्तीसगढ़ी टुडे-जनवरी/फरवरी, 2003/ परिक्रमा-जनवरी, 2002/ नारी सम्बल, 2001

ऋषि दुर्वासा और आनंद धाम

मायापति मिश्र

ऋषित्व में वर्जित चार मूल तत्त्व काम, क्रोध, मद एवं मोह में से एक क्रोध ही जिसकी पहचान बन गयी, ऐसे ऋषि दुर्वासा को क्रोध का पर्याय कहा जाये जो अतिशयोक्ति न होगी। महर्षि दुर्वासा का आशीर्वाद/ वरदान एवं शाप दोनों ही मनुष्य को कष्टित करता था। उनका सान्निध्य ही परेशानियों को आमंत्रण देने के बराबर सिद्ध हो जाता है। राजा कुंतीभोज के महल में आतिथ्य सत्कार से प्रसन्न हुए तो सेविका कुँवारी कन्या कुंती को इच्छित देव पुत्रों को प्राप्त करने का वरदान दे डाला। कुँवारी कन्या को तो देव-तुल्य पति की कामना पहले होती है, परन्तु धन्य हैं महर्षि का सान्निध्य कि पति से पहले पुत्र की कामना कर बैठे। कुँवारी माता का भय जीवन भर कुंती को कर्ण के लिए तड़पाता रहा और अभिशप्त रखा। कुंती के लिए ऋषि का वरदान अभिशाप बन गया। इसी प्रकार दुष्यंत के विरह में बैठी प्रेमिका शकुन्तला को अभिवादन करने से चूक जाने पर शाप दे डाला- 'जिसके विरह में तू बैठी है, जा आज से वह तुम्हे भूल जायेगा।' अल्हड़ प्रेमिका को इतना कठोर दण्ड और कुँवारी कन्या को वज्र सा वरदान दोनों ही परिस्थितियाँ कष्टकारक हैं। यह उनका नाम एवं स्वभावपरक गुण था कि जहाँ पहुँचे, वहीं ज्वाला धधका दी। नाम से दुर्वासा अर्थात् वह व्यक्ति जो क्रोध में अपने वस्त्रों की दुर्गति कर दे, वस्त्र फाड़कर फेक दे। जीवन का सब कुछ स्वभाव के अनुरूप परस्पर विरोधी एवं विचित्र होने के पश्चात् भी भारतीय ऋषियों में एक स्थापित एवं मान्य ऋषि का नाम है महर्षि दुर्वासा। शास्त्रों एवं लोक जीवन दोनों में महर्षि दुर्वासा का नाम लेते ही बल्लकल में अर्द्ध आवृत्त काया, लम्बी जटा एवं घनी दाढ़ियों वाला एक तमतमाया वृद्ध चेहरा आँखों के सामने उभर आता है, जो पहचान में महर्षि दुर्वासा कहलाता है। छवि स्पष्ट एवं जीवन की कार्यशैली जग-जाहिर, धन्य हैं ऐसे महापुरुष ऋषिवर महर्षि दुर्वासा।

भौतिक संसार में रह करके राजा-प्रजा सब पर क्रोध का कहर बरपाने वाले ऋषि दुर्वासा से भगवान भी अछूते नहीं रहे। एक कथा के अनुसार एक बार महर्षि दुर्वासा के मन में मुरली माधव श्रीकृष्ण के भगवान होने के प्रति शंका उत्पन्न हुई। वे भगवान कृष्ण की परीक्षा लेने उनके पास पहुँचे। मथुरा पहुँचकर उन्होंने श्रीकृष्ण से कहा कि आप अपनी भार्या रुक्मिणी के साथ रथ में अश्वों के स्थान पर जुतकर रथ खींचे और मैं रथ पर बैटूँ, तभी आपका आतिथ्य स्वीकार करूँगा, अन्यथा बिना जल ग्रहण किये ही मैं वापस चला जाऊँगा। भक्तों के मनोभावों को समझने वाले अन्तर्यामी भगवान श्रीकृष्ण ने कहा- मुनिवर ऐसा ही होगा। अश्व वाहक छड़ी एवं लगाम हाथ में लेकर महर्षि दुर्वासा रथारूढ़ हुए और भगवान श्रीकृष्ण

उनकी इच्छानुसार सपत्नीक रथ खींचने लगे। रथ खींचते हुए जगत नियंता अपनी नियति पर हँस पड़े। भगवान को हँसता देख क्रोधी ऋषि ने समझा ये मुझ पर हँस रहे हैं। इसी भ्रम के चलते रथारूढ़ दुर्वासा ऋषि ने क्रोध से तमतमाते हुए भगवान श्रीकृष्ण पर हाथ में रखी छड़ी से कई



प्रहार करते हुए पूछा- हँसते क्यों हो? भक्त के प्रहार को झेलना और उसे प्रहार से बचाना भगवान श्रीकृष्ण का मूल गुण है। फिर ऐसे में वे क्रोध का प्रत्युत्तर क्रोध से कैसे दे सकते थे? अतः मुस्कराते हुए उन्होंने महर्षि दुर्वासा से कहा- इस हँसी का कारण आप अपने पिता अत्रि ऋषि एवं माता अनुसूया से पा सकते हैं। भगवान श्रीकृष्ण के विनम्र स्वभाव को देखकर महर्षि उत्तर की जिज्ञासा में तत्काल अपने पिता और माँ के पास पहुँचे। पिता अत्रि एवं माता अनुसूया को उन्होंने श्रीकृष्ण के साथ घटित सारे वृत्तांत को कह सुनाया। पूरा वृत्तांत सुनकर अत्रि ऋषि अत्यंत दुखी होकर महर्षि दुर्वासा से कहा- हे पुत्र! तुमने तो बहुत बड़ा पाप कर डाला, जगत पालक को चोट पहुँचायी है। तुम्हारे इस पाप का निवारण भरद्वाज ऋषि ही करा सकते हैं। अतः तुम प्रयाग में निवास करने वाले भरद्वाज ऋषि के पास जाओ। वे भगवान राम

(नारायण) के परम भक्त हैं, अतः उनके पास पापों के प्रायश्चित्त का विधान उपलब्ध रहता है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी लिखा है-

भरद्वाज मुनि बसहि प्रयागा, तिन्हहि रामपद अति अनुरागा।

रामचरित मानस, वा/ 44/ 1

पिता की आज्ञा एवं परामर्श अनुसार महर्षि दुर्वासा भरद्वाज मुनि के आश्रम में प्रयाग पहुँचे। वहाँ पहुँचकर उन्होंने भरद्वाज मुनि को सारी आप बीती कथा एवं अपने कृत्य को विस्तार से सुनाया। पूरा वृत्तांत सुनने के पश्चात् भरद्वाज मुनि ने कहा- दुर्वासा तुमने जघन्य अपराध किया - नारायण को पीड़ा पहुँचाया

है अतः तुम्हें प्रायश्चित्त स्वरूप भगवान शिव की घोर तपस्या करनी पड़ेगी। जब वे तुम्हारी तपस्या से प्रसन्न होकर प्रकट होंगे, तो वे ही तुम्हें इस पाप से मुक्त कर सकते हैं। इसके लिए तुम त्रिवेणी के पार प्रतिष्ठानपुर (झूँसी) होते हुए गंगा के किनारे-किनारे छतनाग (शंखमाधव) से चार मील दूर गंगा के तट

पर स्थित टीले पर चले जाओ। भरद्वाज मुनि के बताये अनुसार महर्षि दुर्वासा टीले (वर्तमान ककरा गाँव) को अपनी तपस्थली बनाया। वशिष्ठ, दत्तात्रय, श्रृंगी आदि ऋषियों के अतिरिक्त अट्ठासी सहस्र बटुकों के सान्निध्य में महर्षि दुर्वासा ने गंगा तट के टीले (ककरा गाँव) पर घोर तपस्या की। इस तपश्चर्या के प्रमाण स्वरूप आज भी उक्त टीले पर महर्षि दुर्वासा का भव्य मंदिर एवं मंदिर में महर्षि दुर्वासा के साथ विश्वामित्र एवं दत्तात्रय का अनुपम विग्रह विराजमान है। जहाँ श्रावण मास की नागपंचमी एवं श्रावणी पूर्णिमा (रक्षाबंधन) को बहुत बड़ा मेला लगता है। महर्षि दुर्वासा के भक्तों को मल्लयुद्ध एवं लट्ठ संचालन का कौशल प्रदर्शन बहुत प्रिय है। आश्रम के आसपास के गाँव ब्राह्मण बाहुल्य आबादी वाले हैं। यहाँ के ब्राह्मणों को क्रोध महर्षि दुर्वासा से

वसीयत में मिला है। वर्तमान प्रबंधक के पुरखों द्वारा स्थापित विग्रह में महर्षि दुर्वासा के बाँये हाथ में शिवलिंग एवं दाहिने हाथ में सुमिरनि के रूप में रूद्राक्ष की माला शोभित है। महर्षि दुर्वासा के सम्मुख ही शिवलिंग की प्राण प्रतिष्ठा है और महर्षि दुर्वासा की मूर्ति के सामने वाली दीवार पर रथारूढ़ सृष्टि की परिक्रमा करती सूर्य की अनुपम प्रतिमा है। मंदिर के बाहर यज्ञशाला के खम्भे में शंख माधव की मूर्ति अंकित है।

अनेक देवों, विभिन्न ऋषियों एवं वेद बटुकों के सान्निध्य में सम्पन्न हो रही महर्षि दुर्वासा की तपस्या से राक्षस भयभीत होने लगे। भयाक्रांत होकर दानु और दुर्मिल नाम के दो दैत्यों ने तपस्या में व्यवधान उत्पन्न करना प्रारम्भ कर दिया। उपद्रवी राक्षसों से परेशान, क्रोध से उत्पन्न पाप कर्म का प्रायश्चित्त करने वाले महर्षि दुर्वासा ने इन्द्र की शक्ति देवी माँ ऐन्द्री की शरण ली। महर्षि की रक्षा एवं तपस्या निर्विघ्न सम्पन्न कराने के लिए देवी ऐन्द्री गंगातट पर दुर्वासा आश्रम में प्रकट हुई—

*वज्र हस्ता तथैवन्द्री गजराजोपरि स्थिता ।
प्राप्ता सहस्र नयना यथा शक्रस्तथैव सा ॥*

— श्री दुर्गासप्तशब्दाम् अष्टमोऽध्यायः 21

अर्थात् इन्द्र की शक्ति ऐन्द्री वज्र हाथ में लिये गजराज ऐरावत पर बैठकर आयीं। उनके भी सहस्र नेत्र थे। इन्द्र का जैसा रूप है, वैसा उनका भी था। माँ ऐन्द्री को प्रमाण करते हुए महर्षि दुर्वासा कहा—

*किरीटिनी महावज्रे सहस्र नयनोज्ज्वले ।
वृत्त प्राण हरे चैन्द्रि नारायणि नमोऽस्तुते ॥*

— श्री दुर्गासप्तशब्दाम् एकोदशोऽध्यायः 19

मस्तक पर किरीट और हाथ में महावज्र धारण करने वाली सहस्र नेत्रों के कारण उदीप्त दिखायी देने वाली और वृत्तासुर के प्राणों का हरण करने वाली इन्द्र शक्तिरूपा नारायणी देवी तुम्हें नमस्कार है। महर्षि दुर्वासा की इच्छानुसार देवी ऐन्द्री ने तपस्या में विघ्न उत्पन्न करने वाले दानु एवं दुर्मिल नामक दोनों दैत्यों का वध कर डाला। दैत्यों के अत्याचार से मुक्ति पाते ही महर्षि

दुर्वासा ने ऐन्द्री देवी से आग्रह किया कि हे देवी! आप मेरी रक्षा के लिए जिस तरह यहाँ पधारी, अब यहाँ स्थाई निवास करके लोगों की रक्षा करें, यही मेरी इच्छा है। ऋषि इच्छा से देवी ऐन्द्री दुर्वासा आश्रम से डेढ़ किलोमीटर दूर जमुनीपुर नामक गाँव में निवास करने लगी।

महर्षि दुर्वासा के आवाहन पर पधारी ऐन्द्री देवी का निवास स्थान ऐन्द्री धाम स्थानीय भक्तों में अपभ्रंश रूप में 'आनन्दी देवी' के नाम से विख्यात है। आनन्दी अर्थात् आनन्द की देवी खुशियाँ (कभी पुत्ररत्न तो कभी प्रगति की सफलता तो कभी रोग से मुक्ति) बाँटने वाली, क्रोधी ऋषि दुर्वासा की देवी का धाम 'आनन्द धाम'। धन्य है ऋषि का क्रोध और आनन्द का आवाहन। हाथी पर सवार पूर्वमुखी ऐन्द्री देवी का काले पत्थर का अनुपम तेजोमय विग्रह भक्तों को अन्दर तक अह्लादित करके शक्तिमान बना देता है। मंदिर के सामने पीपल और यज्ञ कुण्ड में यजमानों द्वारा डाली गयी आहुतियाँ सबकुछ आनन्द दायी। कहते हैं महर्षि दुर्वासा ने कभी भी अच्छा नहीं किया, परन्तु अपने तपस्या स्थल को उन्होंने अपने सान्निध्य के साथ-साथ आनन्द से भर दिया। जीवन का आधार आनन्दी मैया को पाकर आस-पास के निवासी धन्य-धन्य हो गये। कोटवाँ और ककरा गाँव के बीच स्थित आनन्दी धाम के विषय में एक स्थानीय भक्त ने भाव विभोर होकर लिखा है—

*कहाँ लौ कहै, मातु की कीर्ति सुन्दर
अहा धन्य देवी आनन्दी जो मंदिर
रजैग्राम ककरा औ कोटवाँ के माँही
बसै पास जमुनीपुरा पूर्व पाही
त्रिवेणी से ये पूर्व योजन मझारी
बना मार्ग ऐसा कि जाती सवारी
कुछ दूर दक्षिण यही गंगातट है
ऋषि दुर्वासा कुटी सन्निकट है
जिन्हीं की कृपा से पधारी ये माता
कथा जो कि प्राचीन है वेद माता*

आनन्दी चालीसा, 9

ब्रज की लोककला

डॉ. रामनिवास शर्मा

‘लोक’ शब्द का लम्बा इतिहास है। हमें इस जंगल में जाना अनिवार्य नहीं। यह वेदों से चलकर आया है और युगों की यात्रा में इसका अर्थ और रूप-परिवर्तन हुआ है। कहीं इसका अर्थ स्थान है, तो कहीं स्थानीय लोग। यही सम्राट अशोक द्वारा उत्कीर्ण शिलालेखों में ‘सब्बो लोको’ है। यह समग्र नाम रूपात्मक दृश्य प्रपंच ही ‘लोक’ है। जो कुछ अवलोकन और अनुभव में आ रहा है, वह ‘लोक’ शब्द से अभिहित किया जाता है। ‘लोक्यते इति लोकः’। लोक शब्द की सिद्धि ‘लोकृ दर्शने’ धातु से घञ प्रत्यय के योग से होती है। प्राचीन कोशों के अनुसार ‘लोक’ शब्द जगत् और उसके निवासी मनुष्यों के लिए रूढ़ है। ‘लोकस्तु भुवने जने’ (अमरकोश)। लोक का ही विकसित रूप बोलचाल में ‘लोग’ है। जब ‘लोग’ शब्द का स्वतंत्र रूप से प्रयोग किया जाता है, तो उससे ‘जन साधारण’ या ‘सामान्य जन’ का ही अर्थ किया जाता है, जैसाकि ‘लोग ऐसा समझते हैं’- ‘लोग यह चाहते हैं’ आदि वाक्यों से स्पष्ट होता है। इस प्रकार मूल शब्द ‘लोक’ विशेष रूप से हमारे इस विश्व की जड़-चेतन पदार्थ- सत्ता और विशेषकर समग्र सामान्य मनुष्य जाति का बोधक है, जिससे कालक्रम से परिष्कृत अभिजात, विशेष धन सम्पन्न और अर्जित बौद्धिक सामर्थ्यशाली लघुतर वर्ग कुछ अलग पड़ जाता है। जब हम लोकमत, लोकाचार, लोकोपवाद, लोकोक्ति, लोककथा, लोकगाथा, लोकवार्ता, लोकतंत्र, लोकधर्म, लोकव्यवहार, लोकनायक, लोकसंग्रह और लोककला जैसे समस्त पदों का प्रयोग करते हैं, तो हमारे मन में सामान्य जनसमूह से सम्बद्ध विचार या क्रिया व्यापार ही रहते हैं। विशिष्ट अभिजात वर्ग के विचार या कार्य कलाप नहीं रहते। जब हम ‘लोक कला’ के स्वरूप और क्षेत्र पर दृष्टि प्रक्षेप करते हैं, तो हमारे मन में सीधे-सादे, अकृत्रिम, सहज, सरल, आडम्बर रहित, जनसाधारण की ऐसी सुलभ-उपादान सिद्ध कृति का रूप उभर कर आता है, जिसमें सौन्दर्य का समावेश और आनंद प्रदान करने का सहज गुण रहता है।

‘कला’ शब्द भी बहुत प्राचीन है। सर्वप्रथम ऋग्वेद में इसका प्रयोग मिलता है (ऋ. मं. 8 सूक्त 47 मं. 17)। इसके अर्थ ने अनेक पड़ाव पार किये हैं। यहाँ हमारा उद्देश्य इसके इतिहास का अवलोकन नहीं है। कला मानव के सौन्दर्य बोध की अभिव्यक्ति है। विशिष्ट भावनाओं, संवेदनाओं एवं अनुभूतियों से प्रेरित होकर सजीव सौन्दर्यात्मक सर्जन ही कला है। मानव की अंतरंग प्रकृति ही कला को जन्म देती है। कला, मानव समाज या मानव जीवन की एक सार्वभौमिक विशेषता है। कला का जन्म ही मानव जीवन की एक महत्वपूर्ण घटना है, क्योंकि उसके जन्म से मानव-पशु में विभाजन रेखा खींची जा सकती है।

यहाँ विषय की माँग के अनुरूप प्रश्न है कि कला और लोककला में क्या अंतर है? हमारा सीधा उत्तर है- सबकी कला=लोककला। कुछ विशिष्ट लोगों की कला=कला। ‘सब’ का यहाँ अर्थ जनसाधारण से है, जो लोक साहित्य में रूढ़ हो चुका है।

लोककला का अविर्भाव कब से हुआ, यह कहना बहुत कठिन है। कदाचित् जबसे मानव ने जन्म लिया तभी से इसका प्रचलन शुरू हुआ होगा। भारत का ऐसा कोई भाग नहीं, जिसने किसी न किसी रूप में कला द्वारा अपने क्षेत्र की संस्कृति अथवा रीति-रिवाज को प्रकट न किया हो। अतः कला के द्वारा सर्वसाधारण जनता का मनोरंजन होता है तथा वह धार्मिक, सामाजिक विश्वासों एवं भारतीय परम्पराओं और प्रथाओं को प्रकट करने का एक माध्यम है। अपने-अपने क्षेत्र की प्राकृतिक, भौगोलिक, जातीय एवं धार्मिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर मनुष्य ने आदिकाल से इन कलाओं के द्वारा अपने मनोभावों को व्यक्त किया है। कला के अन्तर्गत नृत्य, संगीत, स्त्रियों के गीत, अभिनय, हस्तकौशल, आभूषण, चित्रकला, मूर्तिकला, खिलौने इत्यादि सभी विधाएँ आ जाती हैं।

‘लोककला का सम्बंध मन के आनंद की अभिव्यक्ति से जुड़ा होता है। जब भी जीवन में मौजमस्ती और आनंद के अवसर आते हैं, लोक-मानस अपने आनंद की अभिव्यक्ति विभिन्न क्रिया-कलापों के माध्यम से करने का प्रयास करता है। सरल-सहज लोक-कलाएँ तब जीवंत होकर अवसरों को मोहक बना देती हैं। इस प्रकार लोक-कलाओं से जनमानस का रागात्मक सम्बंध इसके विकास की प्रक्रिया में सन्निहित है।’

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि भारत का ऐसा कोई अंचल नहीं, जिसने किसी न किसी रूप में लोक-कला द्वारा अपने क्षेत्र की संस्कृति अथवा रीति-रिवाज को प्रकट न किया हो। परन्तु ब्रज प्रदेश लोककला के क्षेत्र में सदैव अद्वितीय रहा है। साहित्य, संगीत एवं कला के इतिहास में ब्रज का सर्वप्रथम स्मरण किया जाता है। ‘ब्रज लोक जीवन में व्रत-अनुष्ठानों तथा त्योहारों का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। व्रतानुष्ठानों में कौटुम्बिक मंगल कामना और त्योहारों में आनंद की भावना व्याप्त रहती है। लोक परम्परित रूपों की झाँकी दिखाने वाली चित्रकारी की कुशलता ब्रज में आज भी किसी न किसी रूप में विद्यमान है। थापे, अल्पना, सातिया, भित्ति-चित्र कला, गोबर कला, मिट्टी चित्र कला, घट-चित्रकला, साँझी-कला आदि सभी रूप लोक-कला के अन्तर्गत आते हैं।

प्रायः लोकानुष्ठानों एवं व्रतानुष्ठानों में ब्रज-बनिताओं (नारियाँ) की प्रधानता रहती है। ब्रज की बनिताएँ पति-सुख, समृद्धि-सुख तथा संतति सुख के निमित्त अनुष्ठान सम्पन्न करती हैं। इनके नियमित परिपालन में वर्षभर का मंगलमय रूप बनता है। अनुष्ठानों के शुभ अवसर पर घर की दीवारों पर चित्र अंकित किये जाते हैं, इनको भित्तिचित्र कहते हैं। घर की सामान्य वस्तुओं द्वारा चित्रकला का विकास होता है। चित्रों, डिजाइनों और कला के सामंजस्य एवं आश्रय से विशेष रूचि लेकर ब्रज बनिताएँ अपनी दक्षता का परिचय देती हैं। विशेष मांगलिक अवसरों पर घर के आँगन में चौक पूरे जाते हैं और अल्पना भी बनाये जाते हैं।

लोककला में अमूर्त, दुरूह रूप नहीं मिलता, वरन् सरल और सहज रूप मिलता है जो शीघ्र ही समझ में आ जाता है। इसके द्वारा मनुष्य का रहन-सहन, रीति-रिवाज, रंग-रूचि आदि सभी का पूर्ण परिचय मिल जाता है। लोककला मानव का चेतन प्रयत्न नहीं है, वरन् स्वतःस्फूर्ति है। इनमें जन-जीवन के गूढ़तम तथ्य उपलब्ध होते हैं। यह जन-जीवन की एक स्वाभाविक सरस धारा है।

‘गाँवों में, जन-जीवन में विशेषकर नारी संसार में आज भी लोक-कलाओं का शुद्ध रूप मिल जाता है। नारी के ऊपर लोककला का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है। पुरुष के घर से निकलने के पश्चात् नारी ही घर में बैठकर उसकी सुरक्षा के लिए

देवी-देवता मानती थीं। उसके भावुक हृदय में ही कल्पनाएँ उठती थीं। उसी को अधिक अभिव्यक्ति की आवश्यकता पड़ी। इसी से लोककला नारी जीवन में व्याप्त हो गई। लोक कला मानव संस्कृति का मूल रूप है और नारी घरेलू जीवन की आत्मा। इसी से दोनों का इतना घनिष्ठ सम्बंध है। नारी का तो सम्पूर्ण जीवन ही कलात्मक होता है। साधारण अर्थों में तो जीवन में सुचारू रूप से किया गया कोई भी कार्य कला के अन्तर्गत आ जाता है। स्त्री जीवन कार्य की सुचारूता में सदा से ही पारंगत रही है।

‘ब्रज में व्रतानुष्ठान, त्योहार, उत्सव और मेलों की अधिकता रहती है। यहाँ ‘सात वार नौ त्योहार’ की कहावत प्रचलित है। ब्रज की जनता इन आयोजनों के कारण आनंद और उल्लास का अनुभव करती है। इस प्रकार ब्रज में सदैव धूम-धाम का वातावरण बना रहता है। ब्रज के सभी लोकानुष्ठान धार्मिक भावना से अनुप्राणित हैं। इन समारोहों के कारण भी यहाँ की लोक-कलाएँ विकसित होती गईं। ये लोक कलाएँ ब्रज के जन-जीवन में गुँथी हुई हैं। चित्रांकन के बिना व्रतानुष्ठान और त्योहार अपूर्ण तथा अधूरे माने जाते हैं। ब्रज के इन लोकानुष्ठानों के साथ चित्रांकन का गुम्फन है।’

ब्रज में सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक रीति-रिवाजों के अवसर पर, लोकोत्सव और लोकपर्वों के अवसर पर – विशेष रूप से सावन, दीपावली और होली पर– यहाँ लोक कलाओं की मनोहरता देखने को मिलती है। विविध संस्कारों के अवसर पर मंगल कलशों की कलात्मक चित्रकारी और उपहारों में दी जाने वाली वस्तुओं पर की जाने वाली चित्रकारी दर्शनीय होती है। बच्चे का जन्म हो या छठी का अवसर-चित्रकला अपने पूरे सौन्दर्य के साथ विराजमान रहती है। बच्चे के जन्म के छठवें दिन छठी पूजन होता है। ऐसा विश्वास है कि इस दिन ‘वैमाता’ (भाग्य की देवी) बच्चे के भाग्य का लेखा करती हैं। इस अवसर पर सास ‘चरूआ’ का और ननद ‘साँतिया’ का चित्रांकन करती है। ननिहाल से यानी लड़की पीहर से छोड़क के रूप में जो उपहार आते हैं, उनके ऊपर की चित्रकारी भी बड़ी ही मनमोहक होती है। विवाह के अवसर पर तो चित्रकला पूरे यौवन पर दीखती है। ऐसे अवसर पर तो मेहंदी, पाँव में महावर, सातिया (स्वस्तिक), हल्दी के थापे इत्यादि के रूप में इस कला की

विविधता देखते ही बनती है। ‘थापे’ केवल भित्तिचित्रों के रूप में ही नहीं उकेरे जाते, बल्कि पुरुषों की पीठ पर भी हल्दी के थापे महिलाओं द्वारा बनाए जाते हैं। इसके बनाने का ढंग और स्वाद भी निराले होते हैं। कोई जवान-सी चुलबुली महिला घर आए मेहमान की पीठ पर हल्दी के भरे हाथ इस तरह जमाती (मारती) है कि जवान तो सह जाता है, परन्तु कोई-कोई बुढ़ऊ तो दो-चार दिन पीठ टेढ़ी करके चलता है।

चैत्र माह की प्रतिपदा (परिवा) से कुमारी कन्याओं का खेल पूजन का त्योहार ‘गनगौर’ प्रारम्भ होता है, जो अठारह दिन तक चलता है। इसमें गौरी और महादेव के चित्र का पूजन कन्याएँ और नववधुएँ करती हैं।

सावन के महीने में सबसे अधिक व्रत और त्योहार मनाये जाते हैं। नाग पंचमी को द्वार के दोनों ओर नाग के चित्र बनाए जाते हैं। कहीं यह चित्रांकन कोयले को पीसकर काले रंग से की जाती है, तो कहीं गोबर से। दही, दूध और सेवइयां से इनका पूजन किया जाता है। नाग हमारी संस्कृति में देवता के रूप में स्थापित हैं।

हरियाली तीज इस माह का प्रमुख त्योहार है। हरियाली तीज पर गौर बनाई जाती है। लड़कियाँ और वधुएँ भाँति-भाँति की आकर्षक डिजाईनों से मेहंदी रचाती हैं। रक्षाबंधन पर बहिनें भाइयों को राखी बाँधती हैं। दरवाजे के दोनों ओर दीवार पर ‘सोना’ रखे जाते हैं। सोना-सरमन अर्थात् श्रवण कुमार से है। कहीं-कहीं यह चित्र घी से बनाए जाते हैं। इन सब कलात्मक चित्रों की भक्ति भाव से पूजा की जाती है और मंगल कामना की जाती है। इन अवसरों से सम्बन्धित लोकगीत भी गाये जाते हैं।

‘ब्रज-प्रदेश’ में वर्ष भर में दो बार देवी पूजन का पर्व मनाया जाता है। एक चैत्र मास में और दूसरा क्वार मास में। क्वार मास में देवी-पूजन के नौ दिन नवरात्र कहलाते हैं। लोक में इसे न्यौरता खेलना कहते हैं। प्रायः दीवार के घेरे में न्यौरता स्थापित किया जाता है। ब्रज बनिताएँ और कन्याएँ विधि-पूर्वक न्यौरता के गीत गाती हुई मिट्टी की गौर बनाकर चढ़ाती हैं। गीत गाते हुए न्यौरता की आरती की जाती है। अन्तिम दिन न्यौरता को अनेक रंगों की चित्रकारी से सुसज्जित करती हैं।

शरदोत्सव के महत्त्वपूर्ण उत्सवों में 'साँझी' उत्सव लोक कला की दृष्टि से विशिष्ट स्थान रखता है। क्वार के महीने में श्राद्ध पक्ष (सराद) आता है, इसी श्राद्ध पक्ष में ब्रज की किशोरियाँ और नर्हीं कुँवारी कन्याएँ सोलह दिन तक 'साँझी' उत्सव मनाती हैं। साँझी ब्रज प्रदेश में एक लोक देवी के रूप में मानी जाती है। साँझ (संध्या) के समय विधि-विधान से पूजन किया जाता है, संभवतः इसी से इसका नाम 'साँझी' पड़ गया। 'साँझी' गोबर से बनाई जाती है और फूलों से सजाई जाती है। घर की भीति (भित्ति) को मिट्टी और गोबर के घोल से पहले लीपा जाता है फिर गोबर की ही एक आकृति बनाई जाती है, जिसे 'साँझी' की संज्ञा दी जाती है। इस आकृति को बनाने में नर्हीं-नर्हीं हाथों की समूची कला लोकमन की सुंदर भावना के साथ कलात्मक रूप में प्रकट हो उठती है। इस आकृति को बलिकाएँ कौड़ियों से सजाती हैं। साँझी के माथे पर टीका, कानों में झुमके नाक में नथ, हाथों में चूड़ियाँ तथा पैरों में पायल सजाकर अधिक दर्शनीय और शोभनीय बनाया जाता है। इसको सुसज्जित करने वाले उपकरण होते हैं- अरहर, लोकी, तोरई, सेम आदि के फूल, पेपर पन्नी, गेरू, हल्दी, खड़िया मिट्टी सिंदूर इत्यादि। संध्या के समय गीत गाते हुए पूजा की जाती है। इस उत्सव का आनंद लेने के लिए वृद्धा, किशोरियों तथा नर्हीं-नर्हीं बालिकाओं की भीड़ उमड़ पड़ती है। साँझी के दिनों में ब्रज के मोहल्लों, यहाँ तक गाँवों का वातावरण साँझीमय हो उठता है। साँझी के बनाने में ब्रज बनिताओं (नारियों), कुमारियों की कला देखते ही बनती है। साँझी के पूजन के समय गाये जाने वाले गीतों की स्वर लहरी ब्रज संस्कृति के आनंद को साकार कर देती है-

साँझी भैना री, का ओढ़ेगी का पहरेगी?
 काहे कौ सीस गुंथाबैगी?
 मैं तो साल ओढ़ूँगी, मिसरू पहिरूँगी
 मोतिन की माग भराऊँगी।

सूरदास ने भी साँझी लीला के पद गाये हैं-

सखियन संग राधिका बीनत सुमनन बन माँहि।
 साँझी पूजन कौ आतुर ही ठाड़े कदम्ब की छाँहि ॥

आधुनिक युग की चकाचौंध के बढ़ते दबाव के आगे आज साँझी लोक कला अपना अस्तित्व खोती जा रही है। ग्रामीण

क्षेत्रों में आज भी यह कला जीवित है। साँझी के व्रत-पूजन से कन्याओं में संस्कार पैदा करते हैं। कन्याओं के लिए अच्छा घर, वर पाने की अभिलाषा से यह कौमार्य व्रत किया जाता है।

कार्तिक के माह में सौभाग्यवती महिलाओं का व्रत आता है- 'करवा चौथ'। पति की मंगल कामना के लिए यह व्रत रखा जाता है। वैसे भारत के विभिन्न प्रान्तों में यह व्रत रखा जाता है। घर की दीवार के कुछ हिस्से को वर्गाकार गेरू या पीली मिट्टी से लीपकर चावलों को पीसकर उसके घोल से आकृतियाँ बनाई जाती हैं। इन आकृतियों में वैविध्य मिलता है। करवा चौथ के बीच में चन्द्रमा को अर्घ्य देती महिला, उसके भाई-बहिन सात सुहागिनें, शीशा, कंघी, बिन्दी आदि की आकृतियाँ बनाई जाती हैं। एक महिला की आकृति उल्टी अर्थात् नीचे को सिर करके बनाई जाती है, जिसे दूती कहते हैं। सूर्य, चन्द्रमा, वृक्ष, नदी आदि के भी चित्र बनाए जाते हैं। ये चित्र कहीं लोक कथा से जुड़े हैं, तो कहीं सुहाग से और कहीं मांगलिक भावना से।

करवा चौथ के बाद अष्टमी को अहोई माता का पूजन होता है, जो संतान की सुख-समृद्धि के लिए किया जाता है। माँ संतान की कल्याण कामना के लिए व्रत रखती है। करवाचौथ की भाँति अहोई माता का चित्र भी दीवार पर बनाया जाता है। संध्या को माँ पूजन करके तारे को देखकर अर्घ्य देती है, तब भोजन करती है। आधुनिक सुविधा भोगी युग में अहोई माता का बाजार से चित्र लाकर उसकी पूजा कर लेते हैं, लेकिन गाँव में यह कला अभी भी परम्परागत रूप में जीवित है।

लोकोत्सवों में दीपावली का विशेष महत्त्व है। इस अवसर पर भी चित्रांकन की प्रथा है। प्रायः यह चित्र सफेद भीत (भित्ति) पर नारियल के खोपड़े को जलाकर दूध में मिलाकर उसकी स्याही से अंकित किया जाता है। इसमें अनेक अभिप्राय बनाये जाते हैं, जैसे चन्द्रमा, सूर्य, शिव-पार्वती, गणेश, लक्ष्मी, गंगा, हाथी, कमल, श्रवण कुमार, छबरियाँ, तोता आदि। मिट्टी के खिलौनों के रूप में लक्ष्मी और गणेश अधिक संख्या में बनते हैं। ये मूर्तियाँ मेलों, बाजारों में खूब बिकती हैं। मिट्टी के विभिन्न प्रकार के दीपक, गुजरी, चंडोल, हटरी आदि बनाई जाती हैं। रंगों से सजाकर इन्हें आकर्षक बनाया जाता है। ऐसे अवसर पर जो चित्र अंकित किये जाते हैं, इनका प्रतीकात्मक महत्त्व है। प्रायः

इन मांगलिक उत्सवों पर सूर्य और चन्द्र अनिवार्य रूप से बनाये जाते हैं। सूर्य और चन्द्र दोनों भाई-भाई हैं। सूर्य तेजस्वी और चन्द्र शीतल तथा सुन्दर। तभी सुन्दरता के रूप में चन्द्र से उपमा दी जाती है। सूर्य-चन्द्र सृष्टि की दो आँखें हैं। हाथी देवीय ऊर्जा और शक्ति का प्रतीक है। तोता प्रेम का प्रतीक है। श्रवण (सरवन) 'मातृ-पितृ-भक्त' का प्रतीक है। कहते हैं कि श्रवण से ही श्रावण (सावन) मनाया जाने वाला पर्व 'श्रावणी' अर्थात् रक्षाबंधन कहा जाने लगा। इसलिए श्रवण की स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिए यह चित्र बनाया जाता है।

'चौक' या रंगोली (रंगवल्ली) अत्यन्त लोकप्रिय भूमि चित्र है। विभिन्न जनपदों में इसे अलग-अलग नामों से पुकारा जाता है। बंगाल में 'अल्पना' बिहार में 'एपन' और मालवा में 'माँडना' और उत्तरप्रदेश तथा बघेली जनपद में 'चौक' नाम से प्रचलित है। यह लगभग पूरे भारत की अत्यन्त विकसित कला है। जन्मोत्सव, नामकरण, छठी, विवाहोत्सव, होली, दीपावली, दशहरा, वसन्त पंचमी, गणेशोत्सव आदि त्योहारों और मांगलिक अवसरों पर इसका अंकन किया जाता है। 'यह कला वैदिक काल से प्रचलित हुई। पवित्र यज्ञ कुण्डों, मंदिरों, विवाह मण्डपों, घर के द्वारों आँगनों और मिलन स्थलों पर रंगोली कला प्रदर्शित होती रही है। वात्स्यायन ने 'कामसूत्र' में 64 कलाओं के अन्तर्गत रंगोली कला को भी सम्मिलित किया है।' स्थान विशेष के साथ रंगोली के आकर्षक चित्रण और उनके प्रतीक बदलते रहते हैं।

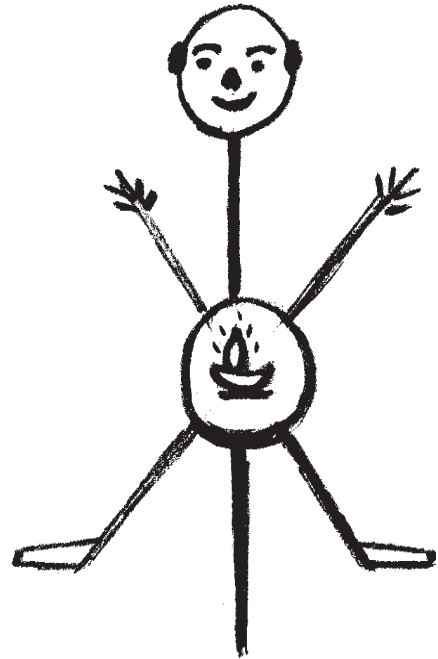
ब्रज क्षेत्र में मांगलिक अवसरों तथा त्योहारों पर चौक (माँडने) बनाने का विशेष महत्त्व है। ब्रज बनिताएँ द्वारा भिन्न-भिन्न त्योहारों पर भिन्न-भिन्न माँडने (चौक) घरों में बनाए जाते हैं। भले ही आज के युग में बजारू सूखे रंगों का प्रचलन हो गया है, लेकिन गाँवों में गेरू, खड़िया मिट्टी या आटे से चौक (माँडने) बनाए जाते हैं, जिन्हें सामान्यतः चौक पूरना भी कहते हैं। ब्रज की ललनाएँ बड़ी रूचि और परिश्रम से त्योहारों पर इस कला का प्रदर्शन करती हैं। इनके बनाने की कुशलता को दिखाने के लिए ब्रज ललनाओं में होड़ लगी रहती है और जिसके माँडने सुंदर होते हैं, वे गौरव का अनुभव करती हैं।

ब्रज के विभिन्न भागों में माँडने (चौक) की कला के रूप-विधान में भिन्नता भी दिखाई देती है। प्रायः चित्रों के विषय

सातिया, देवी-देवता, सूर्य, चन्द्र-तारे, फूल-पत्ती, गाय-बैल, खेती उपकरण आदि होते हैं। जिस स्थान पर यह कला बनाई जाती है, वह जगह पूजा स्थल की तरह मानी जाती है। उसके ऊपर पैर न रखा जाय, इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता है। दीपावली के अवसर पर उस जगह पर दीपक रखे जाते हैं। माँडने (चौक) लोक-मन की चित्रात्मक भावनाओं की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है। ब्रज की कृषि संस्कृति, भक्ति-भावना और धार्मिक आस्था को व्यक्त करती हुई ये कलाकृतियाँ आज भी आधुनिक संदर्भों को ग्रहण करती जा रही हैं। विकसित होती हुई माँडने लोक कला अपने मूल रूप में आज भी गाँवों के जीवन में रची-बसी है। इसकी पूरी सुन्दरता दीपावली पर देखने को मिलती है।

टेसू और झाँझी

क्वार सुदी दसवीं से पूर्णमासी तक लड़कियाँ छेददार एक मलरिया (मटकी) में छोटा सा दीपक रखकर घर-घर झेंझी (झाँझी) नाम के गीत गाती फिरती हैं। मिट्टी की मलरिया भी 'झाँझी' कहाती है। लड़के टेसू नाम के गीत गाते हैं। टेसू एक पुरुष आकृति में होता है, और उसे रंगों से कलात्मक रूप दिया जाता है। बच्चों द्वारा तीन सरकण्डा या बाँस की खपंचों को बाँधकर पुरुष आकृति का ढाँचा बना लिया जाता है। फिर गीली मिट्टी से हाथ पैर मुँह बना देते हैं। आँखों की स्वभाविक आकृति उभारने के लिए दो कौड़ियाँ लगा दी जाती हैं। जहाँ पेट की



आकृति बनती है, वहाँ दीपक रखने की जगह बनाई जाती है। उस मटकी के बीच में मोमबत्ती या सरसों या अरण्डी के तेल का दीपक रख लिया जाता है। मटकी के छिद्रों में से छनकर निकलता दीपक का प्रकाश सुहावना लगता है। पंजाब में जिसे गड़बड़े कहते हैं, बिल्कुल वैसी ही आकृति 'झाँझी' की होती है। अंतर केवल यह है कि ब्रज में झाँझी के गीत गाकर लड़कियाँ झाँझी माँगी हैं और पंजाब में लड़के-लड़कियाँ दोनों। ब्रज में लड़कों के द्वारा 'टेसू' माँगा जाता है। घर-घर जाकर लड़के-लड़कियों की अलग-अलग टोली गीत गाती है और गीत समाप्त होने पर लड़के कहते हैं- 'टेसू दो' लड़कियाँ कहती हैं- 'झाँझी' दो। घर का कोई भी व्यक्ति या महिला उन्हें पैसे या फसल का अन्न (अनाज) दे देते हैं। बाद में बच्चे उस राशि या अनाज को बराबर-बराबर बाँट लेते हैं। टेसू और झाँझी के गीत इस प्रकार होते हैं-

झाँझी के रे झाँझी के, फूल पचासी के।
सरमन तयारी डाँडी, महोबा तयारे फूल॥

× × × ×

बाबाजी के चेली चेली, भिच्छा मांगना आयेगी।
भरि चुटकी मैंने भिच्छा डारी चूँदरिया रंगि लाये जी
चूँदरिया के औरें-ठोरें चार मोती पाये जी॥

इसी प्रकार टेसू के गीत -

इमली की जर में निकरी पतंग।
नौसै मोती नौसे रंग।

× × × ×

टेसूला टेसूला घंटा बजइयौ,
दस नगरी दस गाम बसइयौ,
बस गए तीतर बस गए मोर
सड़ी डुकरियाय लै गए चोर।

× × × ×

टेसू की गइयाँ चकपैदरियाँ, (खूब मोटी-ताजी)
सोलह ढला भुस खाँड़।

टेसू के गीतों में टेसूराय की गायों और धन-सम्पत्ति एवं वैभव का भी वर्णन रहता है। टेसू और झाँझी की एक लोककथा

भी प्रसिद्ध है- 'जब वभु वाहन कुरूक्षेत्र में कौरवों की सहायता के लिए चला था, तब मार्ग में नरकासुर की कन्या झिंझी से उसका प्रेम हो गया। श्री कृष्ण ने ब्राह्मण वेश धारण कर वभुवाहन से दान में उसका सिर माँग लिया और तीन लड़कियों के ऊपर रख दिया। वियोग में झिंझी ने प्राण त्याग दिये। श्री कृष्ण ने दोनों की मूर्तियाँ बनाकर दोनों का विवाह कर दिया। टेसू वभुवाहन का झाँझी 'झिंझी' की प्रतीक है।'

इन गीतों को ब्रज के बालक मटक-मटक के गाते हैं, उनकी छवि देखते ही रहो। भोले-भाले बच्चों के कंठों से निकले सुरीले गीतों को सुनकर कोई नहीं अघाता है।

नाग पंचमी

नाग पंचमी के अवसर पर चित्रांकन का स्वरूप भी कुछ अलग-अलग है। कई स्थानों पर नारियल के खोपरे को जलाकर काली स्याही बनाकर उससे नाग बनाते हैं और कहीं-कहीं दीवारों पर नाग-नागिन गोबर से बनाए जाते हैं।

इन्द्र देवता

जब कभी सूखा पड़ने पर या अधिक वर्षा होने पर गाँव की स्त्रियाँ निर्वस्त्र होकर हल चलाती हैं और गोबर से इन्द्र देवता की आकृति बनाकर पूजा करती हैं।

गोबर की कला

आज आधुनिक चका-चौंध के समक्ष हमारी अनेक स्वस्थ लोक-परम्पराएँ दबकर रह गई हैं या फिर अपने अर्थ खो बैठी हैं। आज गोबर शब्द का प्रयोग करते समय प्रायः उसके गुण और महत्त्व को भुला दिया जाता है। यदि किसी को गोबर की उपाधि दी जाती है, तो लोग सहज ही उस व्यक्ति की बुद्धि को आँकने लगते हैं। 'गोबर की घरिया' और 'गोबर गनेश' प्रचलित मुहावरे हैं, जिनका कोशगत अर्थ भी मूर्ख, बेवकूफ, भद्दा, बेडौल देखने को मिलता है। ये मुहावरे चुहलबाजी करने में बहुत काम आते हैं। कार्य बिगड़ जाने की दशा में 'गुड़-गोबर कर दियाँ' प्रयोग व्यक्ति को ऐसे नोचता है कि वह बिलबिला उठता है। लेकिन गोबर का जिस रूप में मुहावरों में प्रयोग होता है, उसका गुण उसके विपरीत है। किसान के लिए तो गोबर सोना है। गोबर की

खाद सभी खादों में श्रेष्ठ है। गाँव में ऊर्जा का प्रमुख स्रोत गोबर का बना उपला है। आज के आधुनिक युग में गोबर गैस का प्रचलन जोरों से बढ़ रहा है। गोबर में ऐसे तत्व पाये जाते हैं, जो प्रदूषण तथा कीटाणुओं को नष्ट करते हैं। आज शहर के चिकने-चुपड़े वातावरण में पला व्यक्ति गोबर देखकर ही नाक भौंह सिकोड़ता है। उसकी गंध तो उसे एक पल नहीं सुहाती। जो लोग गोबर में पले-पनपे बाद में शहरों में आकर बस गये, उन्हें भी उपलों से सिकी रोटियों में गंध आती है। डॉ. हरद्वारी लाल शर्मा ने बड़ी सारगर्भित बात कही है- जैसा की आदमी साज-श्रृंगार करता है, हम इस प्रवृत्ति के मूल में रुचि को मानते हैं। रुचि की चेतना के विकास के साथ मानव ने सुरुचि और कुरुचि में भेद करना सीख लिया है। सुरुचि हमारी सभ्यता और संस्कृति का अनिवार्य अंग माना गया है, उसकी परख और मापक सौन्दर्य अपने सम्पूर्ण रूप में सुरुचि नहीं है, यह सम्भव नहीं है कि जो वस्तु सुन्दर है, वह सुरुचि पैदा न करके कुरुचि पैदा करे। कुरुचि से युक्त वस्तु को हम भौड़ा, भद्दा, फूहड़ आदि कहकर निन्दा करते हैं। 'लोक' ने इसे कभी स्वीकार नहीं किया। लोक सुरुचि को मानता है और यदि 'लोकसिद्धं भवेत् सिद्धम्' यह सूत्र हमें स्वीकार है तो स्पष्ट ही सुरुचि ही लोक-रुचि है, चाहे वह कितनी ही विचित्र और विभिन्न क्यों न हो।

गो (गाय) सेवा भारतीय जीवन का आदर्श था। गोदान का बहुत महत्त्व समझा जाता था। गाय ग्रामीण जीवन का प्राण मानी जाती थी। उसका गोबर उसके मूत्र की भाँति पवित्र माना जाता था। महाभारत के दानधर्म में इसका माहात्म्य वर्णित है-

शतं वर्षसहस्राणां तपस्तप्तं सुदुष्करम्।
गोभिः पूर्वं विष्ठाभिर्गच्छेम श्रेष्ठतामिति॥
अस्मत्पुरीष स्नानेन जनः पूयते सर्वदा।
सकृता च पवित्रार्थं कुर्वीरन् देवमानुषाः॥
ते भ्यो वरं ददौ ब्रह्मा तपसोऽन्ते स्वयं प्रभुः।
एवं भवत्विति विभुर्लोकंस्तारयतेति च॥

भाव यह है कि गाय के गोबर के स्नान करने पर मनुष्य पवित्र हो जाता है। अपनी पवित्रता के लिए देव तथा मानव ने अनेक बार ऐसा किया है। हजारों वर्षों के दुष्कर तप के साथ गाय के गोबर का महत्त्व अलग से बताया गया है।

ब्रज प्रदेश में होली के त्योहार का अलग ही महत्त्व है।

प्रभात से दोपहर तक होली कीच (कीचड़) और गोबर से खेली जाती है। दोपहर के बाद रंगों और गुलाल से खेलते हैं। इस अवसर पर भी गोबर को पवित्रता की दृष्टि से सम्मिलित किया गया होगा, परन्तु धीरे-धीरे लोक परम्पराएँ अपना अर्थ खो बैठती हैं। शायद इसलिए गोबर के साथ कीचड़ को भी शामिल कर लेते हैं। मनुस्मृति (11.212) के अनुसार कृच्छ्र सान्त्पन व्रत में गोमय (गोबर) भक्षण का विधान है-

गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्विः कुशोदकम्।
एक रात्रोपवासश्च कृच्छ्रं सान्त्पनं स्मृतम्॥

(कृच्छ्र सान्त्पन व्रत में गोमूत्र, गोबर, क्षीर, दही, घी, कुश और जल के साथ सम्पन्न होने का विधान है) इसके निषेध का भी उल्लेख है-बूढ़ी, बन्ध्या, रो गार्त, सद्यः प्रसूता गाय का गोमय (गोबर) वर्जित है-

अत्यन्त जीर्ण देहाया बन्ध्यायाश्च विशेषतः।
रोगार्तायाः प्रसूताया न गोगोमय माहरेत्॥

पुराण में लिखा है कि एक समय समस्त गो (गाय) ने मिलकर आपस में इस बात का परामर्श किया कि उन सबकी उन्नति का क्या उपाय है। अनेक वादानुवाद के बाद स्थिर हुआ कि जो मनुष्य उनके गोबर तथा मूत्र से स्नान करेगा, उसी का शरीर पवित्र होगा। ऐसा होने से ही उनकी उन्नति होगी, अन्यथा नहीं। इसके लिए समस्त गो (गाय) ने एक शत वर्ष कठोर तपस्या की। प्रजापति ने तपस्या से संतुष्ट होकर वही वर दिया, जो उनको अभीष्ट था। उसी समय से गो (गाय) का गोमय (गोबर) और मूत्र पवित्र माना जाता है। गोमय द्वारा देव-देवियों के अभिषेक करने का विधान है। महाभारत के दानधर्म में लिखा है कि एक समय गो (गाय) ने लक्ष्मी जी से कहा कि हम सब आपका सम्मान करेंगे और आप हमारे गोमय (गोबर) और मूत्र में वास कीजिए। लक्ष्मी उनकी प्रार्थना को अंगीकार कर तभी से गो मूत्र और गोमय (गोबर) में वास करने लगी।

आयुर्वेद (वैद्यक) में अनेक औषधियों को गोबर के द्वारा शुद्ध किया जाता है। गोबर से बनी राख पौधों के रख-रखाव में काम आती है। पुराणों, स्मृतियों, चिकित्सा शास्त्र आदि के अध्ययन तथा लोक-व्यवहार देखने से पता चलता है कि 'प्रकृति के निकट रहने वाले भारतीय लोग गो-संस्कृति के आदिकालीन पुजारी हैं।' अपने इस आस्तिक जीवन में वे देव मूर्तियों से लेकर

सामान्य पशु-पक्षी और गोहरों (उपले) के अलंकरण तक में गोबर का रुचिकर उपयोग करते हैं। इससे जहाँ उनके मन की आस्था पक्की होती है, वहीं मनोरंजन की प्यास शान्त होती है।

प्रत्येक कथा-पूजा से पूर्व गाय के गोबर का एक पिण्ड बनाकर उसे सिन्दूर से टीक कर पूजते हैं। यह प्रतीकात्मक आकृति गौरी तथा गणेश के रूप में रची जाती है। गणेश पूजा सभी पूजनों से पूर्व की जाती है। पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा बिहार के कुछ भागों में सुहागन औरतें स्नान के बाद नित्य-गाय के गोबर से गौरी-गणेश की आकृति बनाकर उसे सिन्दूर से टीककर उसी सिन्दूर को माथे से लगाती हैं। सुहाग पुत्र-फल तथा कल्याण के लिए इसे पूजते हैं। शिवलिंगनुमा गौरी-गणेश की इस आकृति का यह रूप कब और किस मर्म के अनुरूप हुआ, यह अज्ञात है।

शादी ब्याह में एक घड़े के चारों तरफ गोबर के छोटे-छोटे पिण्ड लगाकर उसे सिन्दूर से टीकते हैं। एक-एक पिण्ड एक-एक देवता के रूप में बनाया जाता है। हिन्दुओं में देवताओं की संख्या अधिक है, इसीलिए घड़े पर अधिक से अधिक पिण्ड चिपकाते हैं। जिस समय बारात विवाह के लिए जाती है, उस समय वर पक्ष के यहाँ घड़ों पर गोबर से बनाये गए इन प्रतीकात्मक देवों को उधेड़कर घड़े के अन्दर भरकर उसका मुँह बन्द कर देते हैं और उसके पास घी का दिया (दीवा) रखकर देवी के गीत गाते हैं। ऐसा मानते हैं कि यदि देवता बाहर खुले रह गए तो बारात जहाँ गयी है, वहाँ जाकर आँधी-पानी या तूफान लाते हैं।

गोबर कला का उपयोग दीवार पर भी होता है। जब किसी स्त्री को पुत्र-रत्न प्राप्त हो, तब छठी पूजी जाती है। इसी दिन बुआ प्रसूता के द्वार के दोनों ओर गोबर के घोल से सातिया बनाती है। द्वार को छबरिया आदि बनाकर भी अलंकृत कर देते हैं। बुआ को इसको बनाने का नेग मिलता है। यह प्रचलन थोड़ा बहुत अन्तर के साथ भारत के अनेक प्रान्तों में देखने को मिलता है। ब्रज में कच्चे घरों की लिपाई-पुताई प्रायः गोबर से की जाती है। दीवारों पर लिपाई करते समय हाथ को दाएँ-बाएँ घुमा-घुमाकर चन्द्राकार आकृतियाँ बनाई जाती हैं। सूखने पर यह बड़े आकर्षक लगते हैं। गाँव में यही गोबर की आरम्भिक कला है। गोबर से लीपने से कच्ची मिट्टी नहीं झड़ती, दीवारें टिकाऊ रहती हैं। अधिकांश दीवारों की लिपाई का कार्य बरसात से पूर्व किया जाता है।

वैसे भी तीज-त्योहार जैसे पुनीत अवसरों पर ग्रामीण महिलाएँ अपने घर-आँगन चौका-चूल्हे को गोबर से लीपकर पूजा करती हैं। नाग-पंचमी, अहोई, दशहरा, होली-दीपावली, गोवर्धन पूजन गोबर से लीपकर ही किया जाता है। नाग पंचमी को घर के द्वार पर या घर के अन्दर नाग-नागिन और उनके पाँच या सात बच्चे बनाए जाते हैं। ऐसा लोकविश्वास है कि गोबर से बनी नाग आकृति की पूजा करने से सर्प के काटने का भय नहीं रहता। लोक देवी 'सांझी' की आकृति भी गोबर से बनाई जाती है। ब्रज क्षेत्र में पशुओं के बाँधने के स्थान को 'घेर' कहते हैं। पशुओं को बीमारी से बचाने के लिए 'घेर' (गोशाला) के बाहर दरवाजे पर मानव की उल्टी आकृति गोबर से बनाई जाती है। लोक-विश्वास है कि ऐसी प्रतीकात्मक आकृति बनाने से पशु बीमारी से बचे रहते हैं। यह प्रतीकात्मक आकृति किसका रूप है, इसके बारे में अलग-अलग धारणाएँ हैं।

दीपावली के दूसरे या तीसरे दिन गोधन का त्योहार मनाया जाता है। इसे गोवर्धन नाम से भी जाना जाता है। वैसे तो यह त्योहार भारतव्यापी है, परन्तु ब्रज (मथुरा-वृन्दावन) में इसका विशेष महत्त्व है। गोवर्धन, ब्रज मण्डल के एक पर्वत का नाम। जैसा इसके नाम से ही प्रकट है, इससे ब्रज (चारागाह) में गाय का विशेष रूप से वर्धन (वृद्धि) होता था। भागवत की कथा के अनुसार भगवान कृष्ण ने इन्द्रपूजा के स्थान पर गोवर्धन पूजा का प्रचार किया। इससे क्रुद्ध होकर इन्द्र ने भारी वर्षा के साथ ब्रज पर आक्रमण किया और ऐसा लगा कि ब्रज जलप्रलय से नष्ट हो जाएगा। भगवान कृष्ण ने ब्रज की रक्षा के लिए गोवर्धन को एक अँगुली पर उठाकर इन्द्र द्वारा किए गए जल प्रभाव को रोक दिया। तब से कृष्ण का एक नाम गोवर्धनधारी हो गया और गोवर्धन की पूजा होने लगी।

पद्म पुराण (पाताल खण्ड) और हरिवंश पुराण (2.17) में गोवर्धन पूजा का विस्तार से वर्णन पाया जाता है-

प्रातर्गोवर्द्धनं पूज्य रात्रौ जागरणं चरेत्।

भूषणीयास्तथा गावः पूज्याश्च दोहवाहनाः॥

श्री कृष्णदासवर्योऽयं जी गोवर्द्धन भू घरः।

शुक्ल प्रतिपदि प्रातः कार्तिकेऽर्च्योऽव वैष्णवैः॥

गोवर्धन पूजन का बड़ा महत्त्व है। सावन भादों के महीने में

भी श्रद्धालु दूर-दूर से जाकर इस पर्वत की परिक्रमा करते हैं। भजन-कीर्तनों की ध्वनि से मानों पूरा ब्रज-मण्डल गूँज उठता है।

यही गोवर्धन पूजा (गोधन) का त्योहार ब्रज क्षेत्र के गाँव-गाँव में अपने निराले ढंग से मनाया जाता है। इस दिन गाँव की महिलाएँ गोबर इकट्ठा करके गोधन की विशाल मानवाकार आकृति बनाती हैं। इस आस्था कला का प्रदर्शन घर के आँगन या घेर में जमीन को गोबर से लीपकर किया जाता है। गोबर से ही एक और बड़ा-सा सिर, चौड़ा पेट, दोनों हाथों और पैरों को बनाया जाता है। पैरों की ओर एक कुत्ता बनाया जाता है। उस लम्बे-चौड़े पेट के घेरे में गोबर से ही गाय-बैल, बछड़े चारा खाते हुए दर्शाए जाते हैं। स्वाभाविकता लाने के लिए महिलाएँ थोड़ा-सा कुटा हुआ चारा भी डाल देती हैं, जिसे लोक भाषा में कुटी कहते हैं। गोप-गोपियाँ, ओखल, बरोसी, दूध की हाँडी, मथनी तथा दूध और मक्खन से संबंधित बर्तन भी बनाए जाते हैं। इसके बनाने में बच्चे-बच्चियाँ पूरी रुचि लेते हैं। कलात्मक, सौन्दर्य देने या किसी पवित्रता की भावना से बीच में जगह-जगह काँस (घास) की सींके गाड़ देते हैं और उनके सिरों पर कपास लगा देते हैं। आस-पास कहीं दर्जी हो तो उससे सुन्दर-सुन्दर कतरने लाकर गोप-गोपियों को सजाते हैं। रात को गोवर्धन (गोधन) के बीच में तेल से भरा दीपक जलाया जाता है। खील, खाँड़ के खिलौने, मिठाइयाँ पक्रे पकवान (पूड़ी-कचौड़ी इत्यादि) से गोधन की पूजा की जाती है। ब्रज में भी कुछ क्षेत्र विशेष के अन्तर के साथ गोधन पूजन की परम्परा भी अलग-अलग है। कहीं स्त्रियाँ गोधन के पास बैठकर गीत गाती हैं तो कहीं अलंकरण के बीच में मिट्टी का ढेला रखकर उसे मूसल से कूटती हैं, इसे गोधन कूटना कहते हैं।

अब तो समय बदल गया है अन्यथा महिलाएँ इस गोबर अलंकरण को देखने के लिए एक दूसरे के घर जाती थी। उस दिन गोबर के उपले नहीं बनाए जाते, बल्कि जिनके पास पशु कम होते हैं, उन्हें गोबर देकर आपसी भाई-चारे का परिचय दिया जाता था। अब यह सभी लोक परम्पराएँ आधुनिकता में न जाने कहाँ खोती जा रही हैं। गोधन पूजन के अगले दिन उस गोबर को इकट्ठा करके बड़े-बड़े उपले बना दिए जाते हैं।

‘पद्म पुराण’ में लिखा है कि उस दिवस में वृन्दावनवासी

वैष्णवन को गोवर्धन पूजा करना उचित है। दूसरे स्थान के वैष्णवन को गोमय (गाय का गोबर) द्वारा गोवर्धन पर्वत का निर्माण कर उसकी पूजा करना चाहिए। ब्रज में गोबर द्वारा गोवर्धन का अलंकरण देख ऐसा लगता है कि यह शास्त्रसम्मत कथन का ही प्रतिरूप है। गोधन में जो अंकन होता है, उसमें अधिकतर प्रतीकों से काम लिया जाता है। कहीं यशोदा मैया दूध बिलो रही हैं, तो कहीं कन्हा (कृष्ण) मथनी को लिए बैठे हैं। इसी प्रकार अनेक लीलाओं का चित्रण (अंकन) गोधन के माध्यम से ब्रज बनिताएँ (नारियाँ) करती हैं। लोक-कला में मन तथा मस्तिष्क में उठने वाले विविध कलारूपों का सम्प्रेषण प्रतीकों के माध्यम से होता है, फिर वह चाहे चित्रकला हो या गोबर कला। भली प्रकार देखे-भाले और निकट के प्रतीक ही अधिक प्रभाव उत्पन्न करते हैं। गोधन के अलंकरण में गाय, बैल, बछड़े, यशोदा, कृष्ण, गोपियों का जो अलंकरण होता है, उनमें एक तो मन के भावों को अधिक से अधिक अलंकृत करने का प्रयास होता है, दूसरी ओर एक-एक आकृति में अनेक पौराणिक कथाएँ समायी रहती हैं। गोबर के द्वारा जो गाय, बैल, बछड़े बनाए जाते हैं, बड़े हृष्ट-पुष्ट होते हैं। ये ब्रज की समृद्धि को दर्शाते हैं। गोधन में कृष्ण के ऊखल-बंधन का अंकन उस पौराणिक कथा की ओर संकेत है, जिसमें नारद के शाप से कुबेर के नलकूबर और मणिग्रीव नामक पुत्र नन्द और यशोदा के आँगन में यमल और अर्जुन वृक्ष बन गए थे। श्रीकृष्ण ऊखल को वृक्षों के बीच से खींचते हैं तो वे समूल उखड़कर पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं और उनका उद्धार हो जाता है।

इसी प्रकार कृष्ण का दधि-मथनी अंकन समुद्र मंथन की ओर संकेत है, जिसमें वासुकी नाग की रस्सी और मन्दरांचल पर्वत को मथनी बनाया गया था। परन्तु लोक गोधन में इन दृश्यों के अंकन में पौराणिक प्रसंगों तक नहीं जाता, वह तो केवल श्री कृष्ण की लीलाओं को गोबर द्वारा उभारता है, जो परम्परा से उन्हें मिली होती हैं। इन लीलाओं का पौराणिक रूप से हटकर एक लोक सम्मत रूप भी है।

गाँवों में गोबर कला का एक विशिष्ट रूप ‘बिटिया’ या ‘बिटौरा’ के रूप में देखने को मिलता है। संस्कृत में इसे ‘विष्ठाकूट’ कहते हैं। गाय, भैंस तथा बैलों आदि के गोबर से जो गोल-गोल चाँदियाँ सी बनाई जाती हैं, उन्हें ‘कण्डा’ या ‘उपला’ कहते हैं। कण्डे बनाने के लिए पाथना क्रिया का प्रयोग किया जाता है।

जंगल में पशु के गोबर के स्वतः सूख जाने पर जो कण्डा बनता है, उसे आत्रा (संस्कृत में आरण्य) कहते हैं। बहुत छोटा और पतला कण्डा, कण्डी, कण्डिया या करसी कहाता है। संस्कृत में करीष कहते हैं।

किसानों की स्त्रियाँ गोबर को दोनों हाथों से सानकर गोलाकार करती हैं, फिर दोनों हाथों का सहारा देकर गोल-गोल कण्डा बनाती हैं। उँगलियों से बड़ी ही सुन्दर आकृति उभर आती है। इस क्रिया को पाथना कहते हैं। पंजाब में इसी आधार पर कण्डों को पाथियाँ कहा जाता है। जब कण्डे सूख जाते हैं, तो इन्हें खास तरह से चुनकर एकत्र किया जाता है। तभी वे सुरक्षित रहते हैं। वर्षा आदि मौसम में भी इसे सुरक्षित रखने की क्रिया के कारण उनका सुगमता से प्रयोग किया जा सकता है। कण्डों को सुरक्षित रखने का साधन 'बिटिया' या 'बिटौरा' कहाता है। यह गोल तथा आयताकार (चौरस) दोनों रूप में बनाए जाते हैं। 'बिटौरा' का ऊपरी भाग 'पाखा' और मध्यवर्ती भीतर की चिनाई 'चया' कहाती है। बिटौरा बड़ी सावधानी से बनाया जाता है। महिलाओं की इस कला को देखते ही बनता है। पहले कई पंक्तियों में कण्डों को तले ऊपर रखा जाता है। तीन-चार हाथ ऊँची ढेरियाँ लगाई जाती हैं, जिन्हें 'बाँट' कहते हैं। बाँटों के बीच में खाली जगह को जिन कण्डों से भरा जाता है, वे भरत या भरैत कहाते हैं। जब बिटौरा बनकर तैयार हो जाता है, तब गुबरेली (पानी निकला हुआ गोबर) से थोपते हैं। इस प्रक्रिया को बिटिया लेसना (लहेसना) भी कहा जाता है। जब स्त्रियाँ गोबर से बिटिया को थोपती हैं, तब हाथ को दबा-दबाकर तरह-तरह के अलंकरण बना देती हैं। गोबर की परत कुछ मोटी चढ़ाई जाती है। ये अलंकरण प्रायः सीधे, आड़े, उभारदार आकृतियों में और कभी-कभी घुमावदार गहरी रेखाओं में बनाए जाते हैं। साधारण आड़ी-तिरछी रेखाओं या उँगलियों द्वारा उभारकर आकृतियों के साथ-साथ पशु-पक्षियों, लताओं तथा मानव की आकृतियाँ भी बनाई जाती हैं।

यदि बिटौरा चौरस है तो मेह-बूंद से बचाव करने के लिए छोटी सी एक छान (छप्पर) भी छवाकर रख दी जाती है। यदि गोल बनाया है तो सरकरे को चारों ओर करीने से लपेटकर रस्सी से बाँध देते हैं। ऊपर एक चुटिया जैसी भी बना देते हैं। यह

प्राचीन 'स्तूपी' या 'कलशी' की अनुकृति है। ब्रज में बिटौरा के संबंध में एक कहावत प्रचलित है-

मा डौले चौथी-चौथी।

पूत बिटौराई बकसत्वै।।

गोबर लोक जीवन से इतना जुड़ा है कि कण्डे के संबंध में अलग-अलग प्रान्तों में कहावतें सुनने को मिल जाती हैं, जैसे-

जानें दईए रोटीदार।

सोई देइगौ कण्डा चार।।

अर्थात् भाग्य पर पूर्ण आस्था और विश्वास रखने वाले का कथन है कि जिस परमात्मा ने रोटी-दाल दी है, वही इसे पकाने के लिए चार कण्डे भी देगा। भले ही इन कहावतों का लोक-कला से कोई गहरा रिश्ता नहीं है, फिर भी गोबर के महत्त्व को अवश्य रेखांकित किया जा सकता है। होली के दिनों में गोबर से बनाई जाने वाली 'घुलगुली' गोबर कला का अच्छा रूप है। होली से कुछ दिन पूर्व गोबर को इकट्ठा कर पेड़े के आकार जैसा एक छोटा-सा पिण्ड बनाया जाता है। उस पिण्ड के पेट में उंगली की सहायता से आर-पार छिद्र करके धूप से सुखा देते हैं। सूखने पर रस्सी में पिरोकर छोटी-छोटी मालाएँ बना ली जाती हैं। घर के आँगन गोबर से लीपकर उस पर चौक पूरा जाता है और गोबर से बनी मालाएँ गोलाकार रूप में उस पर सुसज्जित कर दी जाती हैं। होलिका दहन के दिन होलिका में से ही अग्नि मंगाकर उन्हें प्रज्वलित किया जाता है। ये उत्सव स्त्रियाँ ही मनाती हैं, जो नई बालियों को भूँकर उस अग्नि में चढ़ाती हैं।

निर्धन माँ-बाप का कोई लड़का यदि बहुत अपव्ययी (खर्चीला) हो तो उस पर यह लोकोक्ति चरितार्थ होती है। शब्दार्थ यह है कि माँ तो एक-एक कण्डे के लिए पशुओं के चोथ जैसे-तैसे इकट्ठे करती फिरती है, लेकिन उसका पुत्र बिटौरा बखशाता है, अर्थात् दान में देने का संकल्प करता है।

'पिड़िया' के रूप में गोबर कला का स्वरूप देखने को मिलता है। गोधन (गोवर्द्धन) में प्रयोग किये गए गोबर का थोड़ा सा अंश लेकर उसमें और गोबर मिलाकर लड़कियाँ घर के अन्दर की दीवार पर पिड़िया लगाती हैं। पिड़िया छोटे-छोटे गोबर के पिण्डों से लगायी जाती है। प्रत्येक लड़की एक पुरुष एक स्त्री

तथा एक पुत्र की गोबर द्वारा छोटी-छोटी आकृति बनाती है और रात में एक महीना जागकर अपनी आकृतियों की रखवाली करती है। रात में तरह-तरह के लोकगीत तथा कहानियाँ सुनाकर मनोरंजन करती है। यह व्रत भाई, पुत्र, सुहाग तथा धन (सम्पत्ति) के लिए किया जाता है। एक महीने बाद क्वारी लड़कियाँ अपनी गोबर की आकृतियों को तेल से तथा विवाह सिन्दूर से टीककर उन्हें दीवाल से उतारकर एक घड़े में बन्द करके तालाब या नदी में प्रवाहित कर देती हैं। इस व्रत को लेकर लोक में अनेक मान्यताएँ हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गोमय (गोबर) महात्म्य वर्णन शास्त्रों में हुआ है। प्रायः ग्रामीण महिलाएँ किन्हीं पुनीत अवसरों

पर ही नहीं, लगभग 15-20 दिन बाद अपने घर-आँगन, चूल्हे-चौके को गोबर से लीपती हैं। होली-दीपावली, तीज-त्योहार सभी अवसरों पर कच्चे घर-आँगन को गोबर से लीपकर पवित्र किया जाता है। घर की बहू पीहर जा रही हो या घर की बेटा ससुराल ऐसे अवसरों पर गोबर से लीपकर मांगलिक चिन्ह के रूप में स्वस्तिक बनाया जाता है। गोबर से लिपे-पुते घर में रहने से तन तो स्वस्थ रहता ही है, मन भी प्रसन्न रहता है। गोबर के संक्रमण कीटाणु नाशक गुण के कारण भी इसका विशेष महत्त्व है। इनमें लोक के हृदयगत भाव होते हैं, इनमें कोई शास्त्रीय छाया नहीं होती। ये हृदयगत भाव ही कला का रूप धारण करते हैं।

संदर्भ

- डॉ. हरिद्वारी लाल शर्मा, लोकवार्ता विज्ञान, प्रकाशक - उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, महात्मा गाँधी मार्ग, लखनऊ
प्रोफसर विश्वनाथ शुक्ल, लोक-कला और कला- (आलेख) ब्रज लोककला (सम्पा. डॉ. नन्दिनी भाटिया), प्रकाशक- भारतीय प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़
संगीता सिंह चंदेल, भारत में जनजातीय (आलेख) चौमासा पत्रिका, प्रकाशक- आदिवासी लोककला अकादमी, भोपाल
गजानन वर्मा, आस्थाओं को प्रकट करती कलाएँ (आलेख) चौमासा
डॉ. शशिकला निगम, मालवी लोकगीतों में चित्र (आलेख) चौमासा
डॉ. हर्ष नन्दिनी भाटिया (सम्पा.) ब्रज लोक कला
डॉ. सत्या गुप्त, खड़ी बोली का लोक-साहित्य, प्रकाशक - हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद
श्रीमती आशा द्विवेदी, बघेली चित्र परम्परा (आलेख) चौमासा
डॉ. श्याम सनेही लाल शर्मा, ब्रज क्षेत्र की प्रमुख कला: सरूप विकास और महत्त्व, ब्रज शतदल (पत्रिका) राजस्थान ब्रजभाषा अकादमी, जयपुर
डॉ. अम्बा प्रसाद सुमन, कृषक जीवन संबंधी ब्रजभाषा शब्दावली, प्रकाशक- हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद
डॉ. विष्णुदत्त शर्मा, ब्रज क्षेत्र की प्रमुख लोक कलाएँ (आलेख) ब्रज शतदल (पत्रिका)

मुण्डारी गीतों में सौन्दर्य

डॉ. बालेन्दु शेखर तिवारी

मुण्डारी झारखण्ड और उसके आसपास बसी मुण्डा जनजाति की भाषा है। आस्ट्रिक परिवार की इस भाषा पर अनेक भाषा समूहों का सीधा प्रभाव लक्षित होता है। विशाल पारम्परिक शब्दावली से भरी मुण्डा भाषा का लोक साहित्य सदियों पुराना और बहुत ही समृद्ध है। मुण्डारी में लोक कथाओं, लोकोक्तियों और लोक संगीत की विविधताओं की कोई कमी नहीं है, लेकिन मुण्डारी लोक साहित्य का सबसे बड़ा भाग लोकगीतों का है। मुण्डारी के सभी लोकगीत नृत्यगीत हैं और विभिन्न ऋतुओं-त्योहारों के अवसर पर लोग उन्हें नाचते-गाते हैं। उनकी लय, ताल, धुन भिन्न होती है। उनसे ज्ञापित होता है कि मुण्डा जनजाति गीत-संगीत प्रिय जनजाति है। मुण्डा लोगों के हर सामाजिक व्यवहार और सांस्कृतिक आचरण में नृत्य-गीत का समावेश है। जगदीश त्रिगुणायत ने मुण्डा लोगों की इस कलाप्रियता के बारे में लिखा है-‘मुण्डा समाज पर भाग्य के बादल बरसें या न बरसें, युवकों की आँखों की झील में भावना का पानी कम नहीं होता, जागरण में भोजन मिले या न मिले, नींद में स्वप्नों की मधुरता घटने नहीं पाती। अभाव उसका सब कुछ छीन ले जाय, पर उसके कंठों का गीत नहीं छीन सकते। जब जीवन के अभाव, नृत्य के अखाड़ों में मिलन के गीत नहीं गाने देंगे, तब वह आसाम-भूटान चलकर, स्वप्नों का महल बनाने का गीत गायेगा। मुण्डा के जीवन संगीत के इसी बीज ने पल्लवित होकर वर्ष भर में अनेक पर्वों का सृजन किया है। कोई भी महीना ऐसा नहीं है, जिसमें कोई प्रमुख पर्व न हो और कोई भी पर्व नहीं, जिसमें उमंग और मस्ती से भरे नृत्य-संगीत न हों।’

झारखण्ड में बसी अन्य जनजातियों की तरह मुण्डा समाज और संस्कृति पर भी आधुनिकता और औद्योगिक विकास का प्रभाव है। उनमें भी पाश्चात्यीकरण और नए फैशन की लहर आई है। फिर भी उनके लोकगीत, नृत्यसंगीत से उनका जीवन अभी पूरी तरह कट नहीं गया है। डॉ. डोमन साहू समीर ने लिखा है-‘जनजातीय लोगों का लोक-जीवन नृत्य, गीत और संगीत से परिपूर्ण है।

नृत्य-गीत और संगीत इन लोगों का जीवन-मंत्र, जीवन-यात्रा का बहुमुल्य पाथेय है। यह वह जादू है, जिसके बल पर ये लोग जीवन की क्रूर विभीषिकाओं, क्षुधा-पिपासा की विडंबनाओं तथा अशिक्षा और उपेक्षा के घात-प्रतिघातों को भी छूमंतर करते आए हैं। यदि नृत्य, गीत और संगीत को इन लोगों से विलग किया जाए, तो इन लोगों का जातीय जीवन निष्प्राण हो जाए। इन लोगों की स्थिति 'जल-बीन मीन' जैसी हो जाए। विभिन्न पर्व-त्योहार इन लोगों की जातीय संस्कृति के प्रमुख अंग हैं तथा कोई भी पर्व-त्योहार नृत्य, गीत और संगीत से शून्य नहीं है।'

मुण्डा समाज का लोक जीवन त्योहारों, नृत्य गीतों और संगीत की सुरलहरी से ओतप्रोत है। प्रत्येक अवसर के लिए भिन्न-भिन्न गीत मुण्डा संस्कृति के अभिन्न अंग हैं। ये गीत मुण्डा समाज के अमूल्य धरोहर हैं और संगीतमय हैं। विभिन्न नृत्य-गीत के अवसरों पर पुरुषों द्वारा बजाए जाने वाले मांदर, नगाड़ा, बाँसुरी, ढोलकी तथा स्त्रियों द्वारा बजाई जाने वाली झांझ इन लोगों के प्रमुख वाद्ययंत्र हैं। बाँसुरी तो जनजातीय युवकों की सहचरी हुआ करती है। मैदानों में गाय चराते हुए, मेलों-ठेलों के लिए राह चलते हुए अथवा अपने-अपने कामों से क्षण-भर के विश्राम का लाभ उठाते हुए वे अपनी-अपनी बाँसुरी पर कोई-न-कोई राग छेड़ते रहते हैं। उसी प्रकार जंगलों या खेत-पथारों में पत्ते या साग तोड़ती अथवा कहीं कोई काम करती हुई, मेला-ठेला जाती हुई अथवा किसी उत्सव का आनन्द लेती हुई जनजातीय लड़कियाँ भी कोई-न-कोई गीत गातीं या गुनगुनाती रहती हैं। ऐसे ही क्षणों में मुण्डारी लोकगीत अपने भाव-सौन्दर्य के साथ समूचे माहौल को प्रसन्न बना देते हैं। प्रकृति, त्योहार, आस्था आदि से ये गीत भरे हैं। झारखण्ड के मुण्डा युवक-युवतियों के सहज स्वाभाविक प्रेम और आकर्षण वाले मुण्डारी लोकगीतों की अपनी अलग ही पहचान है। जैसे, इस मुण्डारी जदुर गीत में एक दूसरे के लिए बने प्रेमी-प्रेमिका का आकर्षण चित्रित है।

अलङ् दिसुम्रेलङ् जोनोम् जन
पुतम् लेक होलङ् जुड़ि जन
अलङ् गमए रेलङ् मत जन
परए, लेक होलङ् मतः जन
पुतम लेक होलङ् जुड़ि जन
मोदेरे गतिज् रेलङ् सुसुन करम
परए लेक होलङ् जोत जन
अलङ् जी सोबेन् मोदे जन

मोदे रे गतिज् रेलङ् सुसुन् करम्
करे गतिज् रेलङ् बपगेअ
अलङ् जीसोबेन् मोदे जन
जीदन सुमुडे लङ् अप सुल

× × × ×

हम दोनों ने अपने देश में जन्म पाया,
हम दोनों की पण्डुक के समान जोड़ी हुई।
हम दोनों अपने देश में बढ़े,
हम दोनों कबूतर के समान साथी हुए।
हम दोनों की (जो) पण्डुक के समान जोड़ी हुई,
तो हम एक साथ नाचे-गायेंगे।
हम दोनों जो कबूतर के समान साथी बने,
हम दोनों का हृदय एक हो गया।
हम दोनों एक साथ नाचे-गायेंगे,
कभी अलग नहीं होंगे।
हम दोनों का मन एक हो गया है,
जीवन-पर्यन्त एक दूसरे का पालन पोषण करेंगे।

ठीक इसी तरह प्रेमी हृदय की विरह भावना भी अनेक मुण्डारी गीतों में व्यक्त हुई है। जैसे, इस जदुर गीत में विरही प्रेमी अपनी सोनामुनी के बिना विरह में सूख रहा है-

हय धोरी सोन मुनि रे
ने लेकज् बलए तन्
हय धोनी रूप मुनि रे
ने लेकइज् कोसोटो तन्
कीच होम् लेले जदिज्
ने लेकज् बलए तन्
कचि होम् चिन जदिज्
ने लेकज् को सोटो तन्
हिअतिङ् हिअतिङ् तेज्
गोसो चब तन्
चकतिङ् चकतिङ् तेज्
मोरोसो मैल तन्

× × ×

हाय प्रिये! सोनामुनी
मैं इस तरह दुःख सह रहा हूँ।
हाय प्रिये! रूपामुनी

मैं इस तरह कष्ट भोग रहा हूँ।
 क्या तुम नहीं देखती कि मैं,
 किस तरह दुःख भोग रहा हूँ।
 क्या तुम नहीं देखती कि मैं,
 किस तरह कष्ट भोग रहा हूँ।
 सोच करते-करते,
 मेरा शरीर सूख रहा है।
 चिन्ता करते-करते,
 मैं मुरझा रहा हूँ।

प्रेम के संयोग और वियोग पक्ष के अनेक आकर्षक और हृदयस्पर्शी चित्र मुण्डारी लोकगीतों में मिलते हैं। इसी तरह इन लोकगीतों में सौन्दर्य के बहुरंगी चित्र भी हैं। चाहे वह नारी सौन्दर्य हो या प्राकृतिक सौन्दर्य। मुण्डारी लोकगीतों में नायिका के रूप और सुन्दरता के अनेक चित्र मिलते हैं। एक करम गीत में नायिका लुदम फूल और तड़एफूल की तरह खिली नजर आती है-

लुदम् बा लुदुगइः
 लोकोतेम् तन
 तड़ए बा तपिर्सः
 चिमएतेम् तन
 लुदम् बा लुदुगइः
 सुसुन्तेम् तन
 तड़ए बा तपिर्सः
 करम्तेम् तन
 लुदम् बा लुदुगइ
 अलोम् ऐजरेइ
 तड़ए बा तपिर्सः
 अलोम् सेपेगेद

× × × ×
 लुदम-फूल के समान खिली हुई
 तुम कहाँ जा रही हो?
 तड़ए-फूल की तरह खिली हुई
 तुम कहाँ जा रही हो?
 लुदम-फूल की तरह खिली हुई
 तुम नाचने के लिए जा रही हो।
 तड़ए-फूल की तरह खिली हुई
 तुम करम के लिए जा रही हो।

प्रकृति का सौन्दर्य भी इतनी ही सजीवता के साथ मुण्डारी कविता में विस्तार से अंकित हुआ है। वास्तव में प्रकृति, प्रेम और सौन्दर्य के मनोहारी चित्रों के साथ ही साथ मुण्डारी लोकगीतों में पारिवारिक संस्कारों की चर्चा भी मिलती है। संतान के जन्म पर छोटे दिन छोटी मनाने की परम्परा तो मिलती है, लेकिन इस अवसर पर नाचने-गाने की परम्परा नहीं मिलती है। विवाह संस्कार के समय मुण्डा समाज में नृत्य-गीत की धूम रहती है। बच्चे के जन्म की खुशी का उल्लेख भी इन गीतों में किया गया है। जैसे-

सिंगि दोए तुरे लेना एअं,
 कोड़ा होन दोए जोनोम लेना।
 चण्डुः दोए मुलुः लेना उमा,
 कुड़ि होन दोए उपन लेना।
 कोड़ा होन दोए जोनोम लेना एअं,
 गोंडा दो उजड़ा जना।
 कुड़ि होन दोए उपन लेना उमा,
 गोंडा दो पेरेः जना।

× × ×
 हे माँ! लड़का पैदा हुआ,
 गोहाल उजड़ गया।
 हे माँ! लड़की उत्पन्न हुई,
 गोहाल भर गया।
 हे माँ! सूरज उगा,
 लड़का पैदा हुआ।
 हे माँ! चाँद उगा,
 लड़की पैदा हुई।

सामाजिक जीवन और पारिवारिक संबंधों के साथ ही साथ मुण्डारी लोकगीतों में विभिन्न सामाजिक समस्याओं की तस्वीरें भी अंकित हैं-

सेरेइ जपः ओते दोरे दद,
 अलो ददम् बन्दरेअ।
 मेयोद् गेअएः सिउः केइ दद,
 अलो ददम् कुन्दरिअ।
 रिणि अलइ कड़ी अलइ दद
 अलो ददम् बन्दरेअ
 पेंचाए अलइ उधारे अलइ दद
 अलो ददम् कुन्दरिअ

मोदे बित लाइः नतिन् दद
अलो ददम् बन्दरिअ
चपु सुनुम् मोच नतिन् दद
अलो ददम् कुन्दरिअ

× × ×

हे दादा! चट्टान के निकट की जमीन,
हे दादा! बन्धक मत रखो।
हे दादा! जोतने के लिए एक ही काड़ा है,
उसे मत दे दो।
हे दादा, हम कर्ज लेंगे, माँग लेंगे,
पर बंधक नहीं धरेंगे।
हे दादा! हम पैचा लेंगे, उधार लेंगे,
पर उसे नहीं देंगे।
हे दादा! वित्ते-भर पेट के लिए,
हे दादा! उसे बंधक मत रखो।
हे दादा! मुट्टे-भर मुँह के लिए,
हे दादा! उसे दे मत दो।

गरीबी और भूख से घबराए लोगों के लिए अपनी ज़मीन बेच देना, अस्वाभाविक नहीं है। गरीब मुण्डा किसान तो पेट भरने के लिए खर-घास भी बेच देता है। इस संवादमय गीत में यही वर्णन किया गया है-

सउड़ि चि बनोःअ
नेतेः लेक जोजोरो
बड़ोअर चि बनोःअ
नेतेः लेक लिलिंग
सउड़िओ तइकेन
सउड़िले अकिरिङ् केद
बड़ोअरो तइकेन
बड़ो अरले खेजकेद
मोदबिता लाइः नंगेन्
सउड़िलं अकिरिङ् केद
चपुतुनुम् मोच नंगेन्
बड़ो अरले खेजकेद

× × ×

क्या खर नहीं है,
जो इस तरह चू रहा है।

क्या बड़वार (घास) नहीं है,
जो इस तरह झर रहा है।

खर था,
लेकिन हमने खर बेच दिया।

बड़वार था
लेकिन हमने बड़वार बेच दिया
एक बित्ता पेट के लिए
हमने खर बेच दिया।
एक छोटे से मुँह के लिए
हमने बड़वार बेच दिया।

मुण्डारी के लोकगीतों में मुण्डा समाज की जीवन पद्धति, जातीय संस्कृति और भावनाओं का चित्रण बहुत विस्तार से हुआ है। कहीं इन लोकगीतों में प्रकृति के मनोहर चित्र हैं, तो कहीं हृदय के सरल भावों की अभिव्यक्ति है। डॉ. बालमुकुन्द वीरोत्तम ने इन लोकगीतों में कला की अपेक्षा भावना का अधिक विस्तार माना है- 'जनजातीय काव्य उत्कृष्ट साहित्य' का नमूना नहीं था। भाव-अनुभाव संचारी भाव की कमी तो थी, किन्तु संवेदनाओं का अभाव नहीं था। अपूर्ण भाषा एवं सतही कल्पना के बावजूद सात्विक काव्य की विस्मयकारी झलक जनजातीय संगीत की विशेषता थी। जनजातीय संगीत का प्राचीनतम और सर्वाधिक सशक्त तत्त्व प्रेम था। वस्तुतः प्रेम का तत्त्व उतना ही प्राचीन था, जितना स्वयं जनजातियाँ थीं। प्रेम-तत्त्व से ओत-प्रोत संगीत कोमल भावों, सुख-दुख तथा परिवेश पर आधारित था। मिलन-वियोग दोनों का समान चित्रण इसकी विशेषता थी। सामाजिक अवरोधों, आर्थिक कठिनाईयों एवं अन्य प्रतिबंधों की झलक भी इसमें मिलती थी।

निश्चय ही मुण्डारी लोकगीतों में प्रेम, प्रकृति और परिवेश से संबंधित भावनाएँ अधिक मिलती हैं, लेकिन यह कहना सही नहीं होगा कि इन लोकगीतों का कला पक्ष कमजोर है। विभिन्न भावों और रसों को प्रस्तुत करने वाले इन लोकगीतों में भाषा, लय और शैली के अन्य तत्त्वों की कलाकारी भी है। मुण्डारी लोकगीतों की भाषा देहात और जंगल के आम लोगों की भाषा है। यह भाषा अधिकतर कोई बनाव श्रृंगार नहीं करती है। लेकिन इसके शब्द हृदय पर सीधा प्रभाव डालते हैं।

एक ही भावभूमि पर एक से अधिक पदों में रचे गए लोकगीत मुण्डारी में बहुत हैं। इनमें तथ्य को अधिक प्रभावी

बनाने के लिए प्रायः कथोपकथन की शैली में, गीत-विशेष के प्रत्येक पद की पहली कड़ी की आवृत्ति, उसकी दूसरी कड़ी में प्रायः समानान्तर रूप से की जाती है, परन्तु पहली कड़ी जैसी-की-तैसी ही दुहरा नहीं दी जाती, बल्कि पहली कड़ी के मुख्य-मुख्य शब्दों में पर्यायवाची या विपरीतार्थी शब्दों का प्रयोग दूसरी कड़ी में बड़ी खूबी के साथ किया जाता है, जिससे गीति-तत्त्व की सौंदर्य-वृद्धि तो होती ही है, कथ्य की बिम्बात्मक अभिव्यंजना में विशिष्ट ध्वनि-सी भी आ जाया करती है। कभी-कभी गीत की पहली कड़ी नायक को लक्षित करती है, तो उसकी दूसरी कड़ी नायिका को। इसलिए भी इस प्रकार की आवृत्ति की आवश्यकता प्रायः हुआ करती है। आवृत्ति की यह विशेषता अन्यान्य जनजातीय लोकगीतों की अपेक्षा मुण्डारी लोकगीतों में अधिक है। एक उदाहरण है-

*ओकोकोतेम सेनोक् तना, ददा! ती रे दो सुकू टुइला,
चिमयकोतेम बिरिद् तना, ददा! मथड रे दो मदे मुरुली।*

× × × ×

तुम कहाँ जा रहे हो, भैया? कि तुम्हारे हाथ में कदू का 'टुइला' है, तुम कहाँ चल रहे हो, भैया? कि तुम्हारी कमर में बाँस की मुरली है।

मुण्डारी लोकगीतों की एक प्रमुख कलात्मक विशेषता उनकी लयात्मक शैली है। विभिन्न लयों के तालमेल से रचित इन लोकगीतों में शास्त्रीय नियमों का कोई बंधन नहीं होता है। केवल नृत्य की लय और ताल से एक ही प्रकार के गीत को कई

प्रकार से गाया जा सकता है। रस, भाव, प्रसंग, ऋतु और क्षेत्र विशेष के आधार पर विभिन्न प्रकार की लयात्मक शैलियाँ भिन्न-भिन्न प्रकार का रूप धारण कर लेती हैं। लोक लय, लोक ताल या लोक धुनों के सौन्दर्य और उसके प्रभाव की तुलना प्रकृति के स्वतः स्फूर्त संगीत के आनंद से की जा सकती है। लोक-लयाधारित शैलियों का महत्त्व लोक संगीत से कुछ कम नहीं होता। जो आनन्द योगियों को योग द्वारा होता है, वैसा ही कुछ आनंद लोकगीतों की धुनों से प्राप्त किया जा सकता है। ताल से मन तल्लीन हो जाता है और पैर अपने आप थिरकने लगते हैं। मुण्डारी लोकगीत नृत्य और संगीत पर आधारित हैं। मुण्डा समाज के उत्सव भी नृत्य, गीत और संगीत की व्यवस्था से जुड़े हुए हैं। इन अवसरों पर गाए जाने वाले लोकगीत अपनी शब्द योजना, कहावतों और लय के कारण भरपूर कलापूर्ण हैं। जगदीश त्रिगुणायत के अनुसार 'मुण्डा जाति का जीवन कलामय है। उसमें सौन्दर्य का प्रेम और रस की प्यास है। अस्तु: उसकी प्रत्येक अभिव्यक्ति के समान उसकी कविता भी कलामय है। मुण्डा की सुकुमार अभिरुचियों ने अपनी कविता के लिए छन्द, अलंकार, रस, ध्वनि आदि के ऐसे अलिखित विधानों के संस्कार लोक-मानस में बैठा दिये हैं, जिनकी सहायता से गीतकार रस की सृष्टि करता है, गायक और श्रोता रस का आस्वादन करते हैं।'

मुण्डारी लोकगीतों में अलंकार, प्रतीक, बिम्ब और अप्रस्तुत विधान के सारे कलात्मक उपकरण कहीं न कहीं मिलते हैं, इसलिए इनके कलापक्ष के बारे में बहुत निराश होने की जरूरत नहीं है। मुण्डारी लोकगीतों की काव्यात्मकता प्रभावित करती है, क्योंकि इनसे धरती का संगीत और जंगल की लय मिलती है।

संदर्भ

- जगदीश त्रिगुणायत (सं.) मुण्डारी लोक कथाएँ
युद्धरत आम आदमी, आदिवासी स्वर और नई शताब्दी विशेषांक, 2002
जगदीश त्रिगुणायत (सं.) बाँसरी बज रही
अखड़ा, जून-2004, पृष्ठ-35 पर उद्धृत
जगदीश त्रिगुणायत (सं.) बाँसरी बज रही
डॉ. बालमुकुन्द वीरोत्तम : झारखण्ड-इतिहास एवं संस्कृति

कुडुख साहित्य

अभिषेक अवतंस

कुडुख उराँव जनजाति की भाषा है। झारखण्ड, ओडिसा, पश्चिम बंगाल और छत्तीसगढ़ में जहाँ कहीं भी उराँव हैं, वहाँ कुडुख का प्रचलन है। द्रविड़ परिवार की इस भाषा के बारे में उन्नीसवीं शताब्दी से पहले कोई व्यवस्थित जानकारी नहीं थी। सबसे पहले अमेरिकन ओरिएंटल सोसायटी की पत्रिका में 1868 में उराँव जनजाति के भाषा व्यवहार की चर्चा करते हुए कुछ कुडुख शब्द छपे। इसके बाद 1874 से कुडुख व्याकरण, लोक साहित्य और कोश के प्रयास आरंभ हुए। कुडुख भाषा के व्याकरण और स्वरूप पर पिछले कुछ दशकों में व्यापक चर्चा हुई है और चिंता भी व्यक्त की गई है। पी. लकड़ा की कुडुख कविता की पंक्तियाँ हैं

कुड़खत तेंगा नाम उज्जोत एकासे,
कुड़खत पहेँ कुड़खनींम बदलत।
हिन्दी, अंग्रेजी का नन्ता भखान अखदत,
अयग कत्थागे नामचिहुट मल नन्दत।
नन्तर गही खोलान अम्बागे पोलदत
कुड़खत तेंगा नाम उज्जोत एकास।¹

इस कविता में स्पष्ट चिंता है कि कुडुख लोग हिन्दी और अंग्रेजी आदि भाषाएँ तो सीख रहे हैं, लेकिन अपनी ही भाषा भूल रहे हैं। इस चिंता के साथ उराँव समाज की कुडुख भाषा का वर्तमान और भविष्य जुड़ा है।

शताब्दियों से चली आ रही सांस्कृतिक परम्परा में उराँव जनजाति ने अपने लोक साहित्य को अपनी भाषा में सुरक्षित रखा है। सभी जनजातियों के मध्य प्रचलित गीत वस्तुतः नृत्य गीत हैं, लेकिन उराँवों की तरह नृत्य-संगीत में विशेष रूचि और अनुरक्ति रखने वाली दूसरी जनजाति नहीं है। डब्ल्यू.जी. आर्चर ने इस तथ्य का उद्घाटन करते हुए लिखा है- 'उराँवों का एक भी गीत नहीं, जो नृत्य, पर्व, विवाह, कृषि जैसे आयोजन से संबंधित न हो और एक भी आयोजन नहीं, जो गीत के बिना पूर्ण हो सके।' ² आर्चर ने उराँवों के बीच प्रचलित 2660 गीतों को एकत्र किया है। उराँव गीतों की चार श्रेणियाँ हैं-नृत्यगीत, विवाह-गीत, कृषि-गीत और बच्चों के गीत। गीतों के राग और लय ऋतुओं के अनुसार अलग-अलग हैं। अन्य जनजातियों की भाँति एक ऋतु के गीत को दूसरी में गाए जाने की मनाही है। नृत्य गीतों के भी कई भेद हैं, जिनमें फागु गीत, सरहुल या खद्दी गीत, करम गीत, जतरा, मट्टा, जदुरा, डोमकच, खुरिया और लुझकी प्रमुख हैं।

कुडुख गीतों की रचना ऐसी होती है कि एक ही गीत कई रागों में गाए जा सकते हैं। गीत प्रायः छोटे-छोटे चार-पाँच पंक्तियों के और दो-दो पदों के भी होते हैं। सभी प्रकार के गीत ऊँचे स्वरों में पुनरावृत्ति के साथ अखाड़ों में ही प्रस्तुत किए जाते हैं। केवल खद्दी या सरहुल पर पाहन की पूजा के समय गाए जाने वाले गीत ही लम्बे अर्थात् 15-16 पंक्तियों के होते हैं। कुडुख में बुझौवलों और कहावतों की संख्या भी बहुत अधिक है। लोक गीतों के द्वारा उराँव समाज के स्वभाव की जानकारी मिलती है। जैसे उराँव समाज की एक ऐतिहासिक परम्परा है- जनी शिकार। रोहतासगढ़ के जमाने में जब शत्रुओं ने धावा बोल दिया था, उराँव मर्द हंडिया छकाछक पीकर मस्त हो गये। उनकी औरतों को एक ऐतिहासिक अवसर मिला। वे सब के सब मर्दाना भेष पहनकर पगड़ियाँ बाँध, पुरुषों के हथियार धरे, दुश्मनों पर जूझ पड़ी। अन्त में हार तो गयीं, पर यह बहादुरी की कथा रह गयी। उन्हीं दिनों से अब हर 12 वें वर्षों में वे मर्दाना भेष धारण कर गाँव-गाँव रणगोहार मचाती हुई 'शिकार' खेलने निकलती हैं। यही एक हेय बात है कि कभी-कभी इस कार्य में अपनी बहादुरी गाँवों के मुर्गे-मुर्गियों, चेंगनों पर भी दिखाती हैं और हाथ भी साफ करती हैं। इनका गीत इस प्रकार है-

बारह, बछर राजा, जनी शिकार।
बैनी केर मुड़े राजा पगड़ी, बाँधए ॥
हर! हर!! हर!!!

लोकगीतों, लोक कथाओं और लोकोक्तियों के रूप में कुडुख का लोक-साहित्य सदियों से फैला हुआ है। इसी पृष्ठभूमि में कुडुख शिष्ट साहित्य का विकास हुआ है। फादर ओ. फ्लैक्स से 1874 में पहली बार कुडुख वर्णमाला पर एक पुस्तिका तैयार की थी और फादर एफ हॉन ने 1898 में कुडुख ग्रामर/कुडुख व्याकरण तैयार किया। बाद में 1926 में भी कुडुख व्याकरण की एक पुस्तक कलकत्ते से छपी। अंग्रेजी से कुडुख और कुडुख से अंग्रेजी के कई शब्दकोश भी प्रकाशित हुए। इन सारी कृतियों ने कुडुख भाषा और साहित्य के विकास का मार्ग प्रशस्त किया। ईसाई मिशनरियों ने इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया। डॉ. नागेश्वर सिंह के अनुसार- 'कुडुख के विकास और उन्नयन के क्रम में ईसाई मिशनरियों की व्याकरणिक पुस्तकों और उनके द्वारा तैयार किए गए कोशों का उल्लेख प्रमुखता के साथ किया जा सकता है। किसी भी भाषा विशेष की जानकारी के निमित्त व्याकरण के नियमों, परिनियमों और विधियों का ज्ञान अगर अत्यावश्यक है, तो भाषिक शब्द सम्पदा को समृद्ध करने के लिए कोशों की सहायता की अपेक्षा होती है। अतः ईसाई मिशनरियों का सर्वाधिक प्रयत्न-परिश्रम और अभिगमन इसी खास दिशा की ओर हुआ है।'³

ईसाई मिशनरियों ने 1882 में कुडुख में मुद्रण का प्रारंभ किया था, लेकिन आज एक सौ बीस वर्ष के बाद भी इस भाषा का रचनात्मक साहित्य समुन्नत नहीं हो सका है। कुडुख में उपन्यास, कहानी, नाटक, निबंध, व्यंग्य, संस्मरण, जीवनी, लघुकथा जैसी विधाओं का स्वरूप अभी तक स्थिर नहीं हो सका है। कुडुख कविता की दिशा में अवश्य कुछ महत्वपूर्ण प्रयास हुए हैं। फादर अलबिनस मिंज की चौदह कविताओं का संग्रह 'कुडुख हांस मसि' ऐसा ही प्रयास है, जिसका प्रकाशन 1995 में हुआ था। इस कविता संग्रह में सृष्टि रचना और उसके विकास से संबद्ध कविताओं की संख्या अधिकाधिक है, साथ ही कुडुख समाज के पर्व-त्योहारों से संबंधित प्रार्थनाओं की भी उपस्थिति है। जनजातीय समाज में 'करम' त्योहार का विशेष महत्व है, अतः प्रस्तुत पुस्तक में 'नेम्हा करम' शीर्षक (करमा प्रार्थना)

द्वारा प्रार्थनाओं की उपस्थित हुई है। इस परम्परा में कुडुख के कई अन्य कवि सक्रिय हुए हैं। आह्लाद तिकी, पी. लकड़ा, नारायण भगत और फ्रांसिस्का कुजूर इस दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। अपनी इस उपदेशात्मक कविता में कुजूर ने नई पीढ़ी के उराँव लोगों को परिवर्तन और जागरण का संदेश दिया है—

हुल्लोन ता पुखार ही, राजिन बुझरना मानो।
आर ही बेलखन, कीरतिन ओंदरना मानो।
कड़मन सकत नत्रा की, खेडुन आगे बढ़ाबअना मानो।
हेखा नू तलबाइर अरा, धनुष तीर होअना मानो।
अपन हकन अखना, बुझरना मानो।
कुड़खर ही मुलदान कत्थन, उमी उल्ला से अम्बना मानो।
कुडुख कत्थन चोन्हान्ति सिखरना मानो।
अपना आलर गने संगे, उज्जना बिज्जना मानो।।⁴

अपने बीते हुए गौरव को वापस लाने के लिए, कदम से

कदम मिलाने के लिए, सजग होने के लिए सचेत करने वाली इस कविता में सभी उराँव लोगों को एक विशिष्ट संदेश दिया गया है। इधर कुडुख में सामाजिक, आर्थिक समस्याओं, राष्ट्रीयता और सांस्कृतिक चिंताओं से संबंधित साहित्य विपुल मात्रा में रचा गया है। प्यारी कुजूर की इन काव्य पंक्तियों में जीवन का संदेश दिया गया है।

पाहियर गो पाहियर गही घोख मल्ला,
उर्बस गे जोंखस गहीतिहा मल्ला।
तंगदस तंगियो तम्बस गही घोख मल्ला,
तंग सेडो गे साईस-ससुर गही तिहा मल्ला।।⁵

निश्चय ही कुडुख में काव्य रचना करने वालों की संख्या बहुत अधिक नहीं है। कथा साहित्य, नाटक, निबंध और समीक्षा के क्षेत्र में अभी इस जनजातीय भाषा में सृजन की अपार संभावनाएँ हैं। आने वाले दिनों में कुडुखभाषी लोग अपनी भाषा में सृजन की चुनौती स्वीकार करेंगे, ऐसी आशा है।

संदर्भ

1. संगम पत्रिका, अगस्त, 1992, पृष्ठ-31
2. डब्ल्यू. जी. आर्चर : दि ब्लू ग्रोव, पृष्ठ-11
3. डॉ. नागेश्वर सिंह : जनजातीय भाषाएँ और ईसाई मिशनरी, पृष्ठ-214
4. नागपुरी कला संगम स्मारिका, 14 अगस्त, 1987 पृष्ठ-47
5. अखड़ा, सितम्बर-नवम्बर, 2008 पृष्ठ-52

कुमाउनी बाल साहित्य

प्रो० शेरसिंह बिष्ट

‘लोक साहित्य’ लोकाभिव्यक्ति का सहज एवं सशक्त माध्यम है। यह लोकाभिव्यक्ति कई रूपों में व्यक्त होती है। कहीं गाथाओं के रूप में प्रकट होती है, तो कहीं गीतों के रूप में। गाथा हों अथवा गीत इनमें ‘गेय’ तत्त्व समान रूप में विद्यमान रहता है। ‘गेयता’ ही लोक साहित्य का प्राणतत्त्व है जिसके कारण श्रुति एवं वाचिक परम्परा से यह एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होता रहता है। गेयता की अक्षुण्ण परम्परा के कारण ही वैदिक साहित्य भी अद्यतन लिखित रूप में आने तक जीवित रह पाया है।

‘लोक साहित्य’ लोक मानस की अभिव्यक्ति के रूप में वाचिक परम्परा से जीवित रहता है। इसमें समय के प्रवाह के साथ जहाँ बहुत कुछ छूटता जाता है, वहीं समयानुरूप काफी कुछ जुड़ता भी जाता है। ‘लोकमानस’ में मनुष्य की आदिम अवस्था से लेकर सभ्य मानव तक के संस्कार श्रृंखलाबद्ध रूप में अंतर्निहित रहते हैं। वर्तमान में भी आदिवासी जन समुदाय के संस्कारों में जहाँ आदिम संस्कारों की प्रधानता पायी जाती है, वहीं सभ्यता की चकाचौंध में साँस ले रहे लोकमानस के संस्कारों में युगीन प्रभाव देखा जा सकता है।

लोक जीवन की आजीविका का प्रमुख आधार कृषि एवं पशुपालन रहा है। ये दोनों उसके जीवन के अभिन्न अंग हैं। लोक जीवन प्रकृति के सान्निध्य में गुजरता है। प्रकृति ही उसकी संगी-साथी है। लोक देवता उसके आराध्य होते हैं, जिन पर उसकी अटूट आस्था और धार्मिक विश्वास टिके रहते हैं। लोक जीवन प्रकृति के उन्मुक्त आँगन में खुले आसमान के नीचे सहज मानवीय वृत्तियों के साथ अकृत्रिम रूप से व्यतीत होता है। इस कारण मानवीय मूल संवदेनाओं का अविरल प्रवाह भी सहज रूप में लोकजीवन में देखा जा सकता है। कबीलाई समाज में किसी मुखिया के नेतृत्व या संरक्षण में लोक समुदाय नियंत्रित एवं संचालित होता है, इस कारण उनके

नायकों की गाथाओं की परम्परा अविच्छिन्न रूप में लोकसाहित्य में देखी जा सकती है। इस प्रकार लोकजीवन से जुड़े ये तमाम संदर्भ उनकी अभिव्यक्ति के प्रमुख विषय होते हैं।

लोकजीवन शहरी जीवन की विशेषताओं से असम्पृक्त होने के कारण अपने तक ही सीमित रहता है। वह अपने ढंग से जीवन जीता है। लोक जीवन शैली शहरी जीवन शैली से एकदम भिन्न होती है। वह अपनी परम्पराओं, आस्थाओं, लोकविश्वासों, रूढ़ियों आदि में ही सिमटा रहता है। आधुनिक ज्ञान-विज्ञान, औद्योगिक विकास, तकनीकी ज्ञान एवं औपचारिक शिक्षा आदि से जो लोकजीवन जितना ही अछूता रहा है, वह अपनी मौलिकता को उसी सीमा तक बचा पाया है। जिस-जिस लोक समुदाय में आधुनिक सभ्यता एवं संस्कृति का जितना अधिक प्रभाव पड़ता गया है, उसका लोकतत्त्व उतना ही सिमटता गया है। यही कारण है कि आधुनिक भारत के लाखों गाँव शहरों की चकाचौंध से प्रभावित होने तथा औपचारिक शिक्षा के प्रचार-प्रसार के कारण अपने लोकजीवन से कटते जा रहे हैं और उनमें शहरीकरण की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है, जिसके कारण लोक साहित्य का सृजन भी अवरुद्ध होता जा रहा है।

श्रुति एवं वाचिक परम्परा से जीवित एवं संरक्षित लोक साहित्य ही वर्तमान में अध्ययन का मुख्य आधार है। क्षेत्रीय लोक संस्कृति, लोकविश्वास, लोकभाषा, लोकाचार, लोक इतिहास, लोक धर्म, लोक समाज एवं लोक परम्पराओं आदि का अध्ययन उसी के आधार पर किया जा सकता है। लोक साहित्य की बहुत सारी सामान्य विशेषताएँ प्रत्येक लोक समुदाय के लोकवार्ता साहित्य में समान रूप से पायी जाती हैं, परन्तु प्रत्येक लोक समुदाय की भाषा-संस्कृति भिन्न-भिन्न होने के कारण उनमें स्थानीय विशेषताएँ भी पायी जाती हैं, जो उसे दूसरे लोक समुदायों से पृथक् करती हैं।

भारतवर्ष के मध्य हिमालय का कुमाऊँ क्षेत्र अपनी भौगोलिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, पौराणिक, धार्मिक एवं भाषायी विशेषताओं के कारण अपना विशेष महत्त्व एवं पृथक् अस्तित्व रखता है। कुमाऊँ क्षेत्र की भाषा 'कुमाउनी' कहलाती है, जिसे बोलने और समझने वालों की संख्या वर्तमान में लगभग पच्चीस लाख है। कुमाउनी लोकवार्ता साहित्य काफी समृद्ध है, जिसकी अविच्छिन्न वाचिक परम्परा उसे आज तक जीवित रखे हुए है। विगत पाँच-छः दशकों से कुमाउनी लोकवार्ता साहित्य के

ध्वन्यंकन, ध्वन्यालेखन एवं उसके हिंदी अनुवाद का कार्य बड़े जोर-शोर से चल रहा है। ध्वन्यंकन के कार्य में जहाँ आकाशवाणी लखनऊ, रामपुर, नजीबाबाद तथा अल्मोडा का बहुत बड़ा योगदान रहा है, वहीं ध्वन्यंकन, ध्वन्यालेखन एवं हिंदी अनुवाद का कार्य विभिन्न विश्वविद्यालयों एवं महाविद्यालयों के प्राध्यापकों, शोधार्थियों, स्वतंत्र लेखकों, विदेशी विद्वानों तथा कुमाउनी भाषा-साहित्य एवं लोकसंस्कृति प्रेमी सुधी पाठकों द्वारा किया जा रहा है। इसी के परिणामस्वरूप वर्तमान में पर्याप्त मात्रा में कुमाउनी लोक साहित्य लिखित एवं प्रकाशित रूप में उपलब्ध हो पाया है।

कुमाउनी लोक साहित्य के अंतर्गत लोकगाथाएँ, लोककथाएँ, लोकगीत, कहावतें, मुहावरे, पहेलियाँ आदि विधाएँ मुख्य रूप से पायी जाती हैं। कुमाउनी लोक साहित्य में लोकगीतों की समृद्ध परम्परा है। कुमाउनी लोकगीतों के अंतर्गत- न्यौली, झोड़ा, चाँचरी, जोड़, छपेली, बैर, भगनौल, फाग, होली तथा बालगीत आदि आते हैं। इन बालगीतों को ही बाल साहित्य के अंतर्गत परिगणित किया जा सकता है। कुमाउनी लोकसाहित्य में अन्य लोकगीतों की अपेक्षा बालगीतों की संख्या कम है। बालगीतों की रचना दो प्रकार से हुई है- वयस्कों द्वारा लोरियों तथा बच्चों के लिए मनोरंजक लोकगीतों के रूप में, बच्चों द्वारा निर्मित खेलपरक तुकबंदियों के रूप में। इस तरह की तुकबंदियों में अर्थ की अपेक्षा लय की प्रधानता रहती है। वयस्कों द्वारा रचित बालगीत मनोरंजनप्रधान, शिक्षाप्रद एवं बालमनोविज्ञान पर आधारित होते हैं।

कुमाउनी लोकसाहित्य में अब तक उपलब्ध बाल साहित्य को मुख्य रूप से तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है- लोरी गीत बाल मनोरंजक गीत तथा बाल-शिक्षाप्रद गीत।

बाल गीत

बच्चों से संबंधित गीतों को 'बालगीत' कहते हैं। बालगीत मुख्यतः बच्चों के मनोरंजन, कौतूहल, ज्ञानवर्धन एवं उनके बौद्धिक विकास से संबंधित होते हैं। कुमाऊँ में प्रचलित कुछ बालगीत निम्नवत् दिए जा रहे हैं,-

सिमलखेत बाग ब्यानौ, बागलि मैकैपोथि दे।
पोथि मैलि क्वाला खिती, क्वाललि मैकै धान दी।
धान मैलि उखव खिती, उखवलि मैकै चौव दी।
चौव मैलि तौली खिती, तौललि मैकै भात दे।

भात मैलि ल्वारी खितौ, ल्वारिल मैकें आँसि दे ।
 आँसि मैलि झुड़ खितौ, झुड़लि मैकें घास दे ।
 घास मैलि गोरु खितौ, गौरुलि मैकें दूद दे ।
 दूद मैलि ठेकि खितौ, ठेकिलि मैके दै दे ।
 दै मैलि डॉकइ खितौ, डॉकइलि मैकें नौनि दे ।
 नौनि मैलि ताई खितौ, ताइलि मैकें घ्यु दे ।
 घ्यु मैलि हड़प्या खितौ, हड़प्येलि मैकें रुपै दी ।
 रुपायँले घोड़ो लायों, घोड़ो जो बिगड़ो आयो ।
 घोड़ गौ गाड़े-गाड़, मैं गयौं भाड़े-भाड़ ।
 घोड़ गौ बगड़-बगड़, मैलि खायीं लगड़े-लगड़ ॥

हिन्दी

सिमलखेत में बाघ ब्याया, बाघ ने मुझे बच्चा दिया ।
 बच्चा मैंने कोल्हू में डाला, कोल्हू ने मुझे धान दिये ।
 धान मैंने ओखली में डाले, ओखली ने मुझे चावल दिये ।
 चावल मैंने पतीली में डाले, पतीली ने मुझे भात दिया ।
 भात मैंने लोहारिन को दिया, लोहारिन ने मुझे दरती दी ।
 दरती मैंने घास कुंज में डाली, घास कुंज ने मुझे घास दी ।
 घास मैंने गाय को दी, गाय ने मुझे दूध दिया ।
 दूध मैंने ठेकी (बर्तन) में डाला, ठेकी ने मुझे दही दिया ।
 दही मैंने डॉकली में डाला, डॉकली ने मुझे मक्खन दिया ।
 मक्खन मैंने कढ़ाई में डाला, कढ़ाई ने मुझे घी दिया ।
 घी मैंने हड़पिया (काष्ठपात्र) में डाला, हड़पिये ने मुझे रुपये दिये ।
 रुपयों से घोड़ा खरीद लाया, घोड़ा बिगड़ल आ गया ।
 मैं ऊपर-ऊपर चलने लगा, घोड़ा नदी के किनारे चल दिया ।
 घोड़ा नदी तट के मैदान में गया, और मैंने खूब पूड़ियाँ खायी ।

कुमाऊँ के कतिपय क्षेत्रों में उपर्युक्त बालगीत का रूपान्तर निम्नांकित रूप में भी पाया जाता है-

छक-छक छुपरि मोत्युँ का दाणा ।
 पार बटी अइन कुमइयाँ राणा ।
 कुमइयँल मैकें धान दी ।
 धान मैलै ऊखल दी ।
 उखलैल मैकें चाँवल दी ।
 चाँवल मैले तौली दी ।
 तौलिल मैकें भात दी ।
 भात मैलै ल्वारि दी ।

ल्वारिलै मैकें दाँती दी ।
 दाँती मैलै घस्यारी दी ।
 घस्यारिल मैकें घास दी ।
 घास मैलै गोरु दी ।
 गोरुल मैकें दूद दी ।
 दूद मैलै राजा दी ।
 राजा लै मैकें घोड़ी दी ।
 मैं गयूँ माव,
 घोड़ी लागि धार ।
 मैं बैट्यूँ स्योव ।
 घोड़ि पड़ि भ्योव ।

हिन्दी

टोकरी भरी है मोतियों के दानों से ।
 सामने से आए दुष्ट कुमइयाँ ।
 कुमइयों ने मुझे धान दिए ।
 धान मैंने ओखली में डाले ।
 ओखली ने मुझे चावल दिए ।
 चावल मैंने पतीली में डाले ।
 पतीली ने मुझे भात दिया ।
 भात मैंने लोहारिन को दिया ।
 लोहारिन ने मुझे दरती दी ।
 दरती मैंने घसियारिन को दी ।
 घसियारिन ने मुझे घास दी ।
 घास मैंने गाय को दी ।
 गाय ने मुझे दूध दिया ।
 दूध मैंने राजा को दिया ।
 राजा ने मुझे घोड़ा दिया ।
 मैं गया भाबर (मैदान) को,
 घोड़ा चला पहाड़ को ।
 मैं बैठ गया छाया में ।
 घोड़ा गिरा पहाड़ से ।

कुमाऊँ के जनजातीय क्षेत्र जोहार (मुनस्यारी) में उपर्युक्त बालगीत का रूपान्तर निम्नांकित रूप में पाया जाता है-

पारि पातल बाघ भेटी
 बाघल मैं है छौन दी ।

छौन मैल चेलि थें दी।
 चीलैल मैं है पख्यान दी।
 पख्यान मैल ल्वार थें दी।
 ल्वारैल मैंहें स्वीड़ दी।
 स्वीड़ मैल ढोलि थें दी।
 ढोलील मैंहें बुटुवा दी।
 बुटुवा मैल ओखल कुटुवा थें दी।
 ओखल कुटुवालैं मैंहें खाजा दी।
 खाजा मैल ग्वाला थें दी।
 ग्वालालैं मैंहें दाँथु दी।
 दाँथोल मैल घास काटि।
 घास मैल गोरु थें दी।
 गेरुलू मैंहें दूध दी।
 दूध मैल ट्यकीन घालि।
 ट्यकील मैंहें दै दी।
 दै मैल नलियान घालि।
 नलियान मैंहें नौनि दी।
 नौनि मैल भदल्योन घालि।
 भदल्योल मैंहें घ्यू दी।
 घ्यू मैल राजा थें दी।
 राजाल मैंहें घ्वाड़ा दी।
 घ्वाड़ा म्हाँ चढ़ी जौँला,
 खिचड़ी भात खौँला।

हिन्दी

पार के जंगल बाघ मिला,
 बाघ ने मुझे छौना दिया
 छौना मैंने लड़की को दिया,
 लड़की ने मुझे पख्यान दिया
 पख्यान मैंने लोहार को दिया
 लोहार ने मुझे सूई दी
 सूई मैंने ढोली को दी
 ढोली ने मुझे बटुवा दिया।
 बटुवा मैंने ऊखल कूटने वाले को दिया
 ऊखल कूटने वाले ने मुझे खाज (चावल) दिए
 खाजे मैंने ग्वाले को दिए
 ग्वाले ने मुझे दराती दी।

दराती से मैंने घास काटी
 घास मैंने गाय को दी।
 गाय ने मुझे दूध दिया।
 दूध मैंने ठेकी (काठ के बर्तन) में डाला
 ठेकी ने मुझे दही दिया
 दही मैंने नाली (दही मथने के बर्तन) में डाला
 नाली ने मुझे मक्खन दिया
 मक्खन मैंने कढ़ाई में डाला
 कढ़ाई ने मुझे भी दिया
 घी मैंने राजा को दिया,
 राजा ने मुझे घोड़ा दिया
 घोड़े में चढ़ जाऊँगा,
 खिचड़ी-भात खाऊँगा।

बच्चे के मनोरंजन के लिए स्वयं पीठ के बल लेटकर बच्चे को पाँवों में रखकर ऊपर-नीचे झुलाते हुए कहा जाता है -

घुगूति बासूति,
 आम् काँछ?
 पाण में छ।
 कि करनैछ?
 पु पकौनैछ।
 एक पुवा मैं दे,
 काच्वै छ।
 दुहर पुवा मैं दे,
 डजि गोछ।
 तिहर पुवा मैं दे,
 पकाये नैं।
 आम् की न खानि भैं!

हिन्दी

घुगुती चहकती है,
 अम्मा कहाँ है?
 दुमंजिले में है।
 क्या कर रही है?
 मालपुए पका रही है।
 एक पुवा मुझे दे,
 अभी कच्चा है।

दूसरा पुवा मुझे दे,
जल गया है।
तीसरा पुवा मुझे दे,
अभी नहीं पकाया है।
अम्मा नहीं खाने पायी, इन पुवों को।

बच्चे का बड़ा भाई खाएगा।
बड़े भाई का जूठा कौन खाएगा?
बच्चे की दीदी खाएगी।
दीदी का जूठा कौन खाएगा?
दीदी का जूठा जीजा जी खाएँगे।

यत्किंचित रूपान्तर के साथ उपर्युक्त बालगीत कुमाऊँ के विभिन्न क्षेत्रों में निम्नांकित रूप में भी पाया जाता है-

यत्किंचित रूपान्तर के साथ उपर्युक्त बालगीत कहीं-कहीं निम्नांकित रूप में भी पाया जाता है-

घुघूती बासूती, माम काँ छ?
मालकोट छ।
कि लालो? दुदु भात्ती।
को खालो? भौवा खालो।
भौवा को जूठो को खालो?
भौवा को बब्बा खालो।
बब्बा को जूठो को खालो?
भौवा की ईजा खाली।
ईजा को जूठो को खालो?
भौवा को दददा खाली।
दददा को जूठो को खालो?
भौवा की दीदी खाली।
दीदी को जूठो को खालो?
दीदी को जूठो भिना खालो।

हिन्दी

(बच्चे को बाँहों से ऊपर उठाकर, फिर नीचे लाकर गाया जाता है।)

फाख्ता चहकता है, - मामा कहाँ हैं?
ननिहाल में।
क्या लाएँगे? दूध-भात।
कौन खाएगा? छोटा बच्चा।
बच्चे का जूठा कौन खाएगा?
बच्चे का पिता खाएगा।
पिता का झूठा कौन खाएगा?
बच्चे की माँ खाएगी।
माँ का जूठा कौन खाएगा?

घुगूति बासूति
आमा काँछ
भाड़ में छ।
कि कनैछ,
स्वाट हालनैछ।
को खालो,
भै खालो।
भै जुठ को खालो,
इज खालि।
इजा जुठ को खालो,
बाबु खालो।
बबा जुठ को खालो,
आमा खालि।
मैं देलै नै,
नी दयूँ.....
देलै नै (घुटनों पर रखे बच्चे को हिलते हुए)
देलै नै,
दयूँल-दयूँल,
दयूँल-दयूँल

हिन्दी

(पीठ के बल लेटकर बच्चे को पाँवों में ऊपर-नीचे झुलाते हुए बाँहें पकड़कर कहते हैं।)

फाख्ता पक्षी बोले,-
दादी कहाँ है,
भाड़ में है।
क्या कर रही है,
रोटी पका रही है।

कौन खाएगा,
 भैया खाएगा ।
 भाई का झूठा कौन खाएगा,
 माँ खाएगी ।
 माँ का झूठा कौन खाएगा,
 बाप खाएगा ।
 बाप का झूठा कौन खाएगा,
 दादी खाएगी ।
 मुझे दोगे नहीं,
 नहीं दूँगा,
 दोगे नहीं(घुटनों पर रखे बच्चे को हिलते हुए)
 दूँगा-दूँगा
 दूँगा-दूँगा ... ।

कौ लटा क्थ बाथा,
 सुन काला तू!
 स्यूड़ी हरै गैछ,
 हयर काणा तू!
 अनावले कुड़ि मुसि,
 दौड़ डुँडा तू!

हिन्दी

गूँगे! तुम कथा कहो,-
 बहरे! तुम सुनो ।
 सुई खो गयी है,-
 काने! तुम उसे ढूँढ़ो ।
 अन्धे ने घर में चोरी कर दी है,
 लंगड़े! तुम (उसे पकड़ने के लिए) दौड़ो!

यह बाल उलटवाँसी है -

माव बटी कौवा आयो,
 काँव-काँव करनै आयो ।
 ऊखल में पिना छ-
 देख बुड़िया! कौवा आलो ।
 कौवा आलो, पिना खालो,
 आयो-आयो, कौवा आयो ।

काँ बुड़ि? काँ बुड़ि? करनै आयो,
 कुत-कुत, कुत-कुत-कुत!

हिन्दी

भाबर से कौआ आया,
 काँव-काँव करते आया ।
 ओखली में कूटे तिल हैं,
 देखना बुड़िया! कौआ आयेगा ।
 कौआ आयेगा, कूटे तिल खा जायेगा ।
 आया-आया, कौआ आया,
 कहाँ है बुड़िया? कहाँ है बुड़िया? कहते आया ।
 गुदगुदी-गुदगुदी, गुदगुदी-गुदगुदी-गुदगुदी!

यह कहकर बच्चे के पेट में गुदगुदी करते हुए उसे हँसाते हैं।

यत्किंचित रूपान्तर के साथ उक्त भावभूमि पर आधारित
 बालगीत निम्नांकित रूप में भी पाया जाता है-

पार बटी कौवा आलो
 डाली में भौवा छ ।
 ऊखल में पिना छ ।
 देख बुड़िया! कौवा आलो, पिना खालो,
 कुत-कुत-कुत!

हिन्दी

दूर से कौवा आएगा ।
 पालने में बच्चा है ।
 ओखली में कूटे तिल हैं ।
 देखना बुड़िया! कौआ आएगा, कूटे तिल खा जाएगा!
 गुदगुदी-गुदगुदी-गुदगुदी!

यह कहते-कहते बच्चे को गुदगुदी दी जाती है, जिससे वह
 खिलखिलाकर हँसने लगता है

दयो लागो दन-दना, बुड़ि भाजी बन-बना,
 ले बुड़ि खाजा! त्पार गोरु भाजा ।

हिन्दी

वर्षा हुई दन-दन, बुड़िया भागी वन-वन ।
 लो बुड़िया खाजा भुने चावल!, तेरी गाएँ भार्गी ।

च्युँ मुसि च्युँ उखव ग्युँ।
मावो को बेडु पाको, -
चड़ि को पुछड़ पाको।
चड़ि आनि ल्वे लागो,
हवा चड़ि! हवा!

हिन्दी

चूहा करता चूँ-चूँ,
ओखली में रखे हैं गेहूँ।
तराई में अंजीर पक गया,
चिड़िया की पूँछ पक गई।
चिड़िया के अण्डों में खून लगा,
भाग चिड़िया! भाग!

बड़ नाक्खि! बड़-बड़!
चिपड़ि नाक्खि! बड़-बड़!
तुरतुरि हो, बड़-बड़!
मालकोट जूँलो, दूद-भात खूँलो।
दाल को भड़्डू घुर्यै ऊँलो।
सागैकि कड़है घुर्यै ऊँलो।
खीरैकि कड़है पोछि खै ऊँलो।
बड़ नाक्खि! बड़-बड़!
चिपड़ि नाक्खि! बड़-बड़!
तुरतुरि हो, बड़-बड़!

हिन्दी

बढ़ नाक! बढ़-बढ़!
(मेरे बच्चे की) चपटी नाक! बढ़-बढ़!
सुंदर लंबी बन जा, बढ़-बढ़!
ननिहाल जाएँगे, दूध-भात खाएँगे।
दाल का पतीला लुढ़का आएँगे।
साग का भगौना लुढ़का आएँगे।
खीर की कढ़ाई पौँछकर खा आएँगे।
बढ़ नाक! बढ़-बढ़!
चपटी नाक! बढ़-बढ़!
उठ-उठ नाख, चिपड़ि नाख, तुरतुरि हो!
सुंदर लंबी बन जा, बढ़-बढ़!

सरू सरपाता जान्हरि लै दे।
सासु भेटण जानू, द्वि र्वाटा हालि दे।
साग-पात के न्हाति, द्वि मुसा मारि दे।
मुस लै नैं मरन त भ्योव घुर्यै दे।
सरू सरपाता जान्हरि लै दे।।

हिन्दी

ओ सरू! जल्दी से चक्की (से आटा) तो ला दे।
सास से मिलने जाना है, दो रोटी पका दे।
सब्जी तो है ही नहीं, दो चूहे ही मार ला दे।
चूहा भी नहीं मर पावे तो? चट्टान से लुढ़का दे (सब कुछ)।
ओ सरू, जल्दी से चक्की (से आटा) तो ला दे।।

बुड़ छै बुड़ा, धँस्याला।
त्यारा नि खान्युँ, धँस्याला।
कटुवा खान्याँ, धँस्याला।
सिघाणै लतपत, धँस्याला।।

हिन्दी

बुड़्ठा है, बुड़्ठा! हर समय खाऊँ-खाऊँ।
तेरे घर नहीं रहती हूँ, खाऊँ-खाऊँ।
कद्दू खाने वाले, खाऊँ-खाऊँ।
नाक बह रही है, खाऊँ-खाऊँ।

आ द्यो, आ द्यो, -
अउवा का बाना बटि,
कपोली का छाना बटि,
समुन्दरा का जाड़ा बटि,
अगासा का टुका बटि,
आ द्यो, आ द्यो, --।

हिन्दी

आओ वर्षा, आओ वर्षा!
औला के बाना पराश्रित टहनी से आओ,
कपोली की झोपड़ी से आओ,
समुद्र की जड़ पाताल से आओ,
आकाश के शिखर से आओ,
आओ वर्षा, आओ वर्षा, --!

काले कौवा! काले!
 तयोर बानो रोटी खाले।
 काले कौवा! काले!
 पूसकि रोटी माघे खाले।
 काले कौवा! काले!
 ले कौवा! पूरी।
 मैंकें दे जा सुनुकि छुरी।
 ले कौवा! बड़।
 मैंकें दे सुनू घ्वड़।
 ले कौवा! ढाल।
 मैंकें दे सुनू थाल।
 ले कौवा! लगड़।
 मैंकें दे सुनू सगड़।
 काले कौवा काले।
 घुगुति-बड़ खा ले।
 काले कौवा! काले!
 तयोर बानो रोटी खाले!

हिन्दी

काले कौवे! काले कौवे!
 तेरे हिस्से की रोटी खा ले।
 काले कौवे! काले कौवे!
 पूस मासान्त की रोटी, गते माघ में खा ले।
 काले कौवे! काले कौवे!
 ले कौवे! पूरी।
 मुझे दे सोने की छुरी।
 ले कौवे! बड़।
 मुझे दे सोने का घोड़ा।
 ले कौवे! ढाल।
 मुझे दे सोने की थाल।
 ले कौवे! पूड़ी।
 मुझे दे सोने की अँगूठी।
 काले कौवे! काले कौवे!
 घुघुते-बड़े खा ले।
 तेरे हिस्से की रोटी खा ले।
 काले कौवे! काले कौवे!

मकर संक्रांति के दिन बच्चे कौवों को बुलाकर उन्हें घुघुते-
 बड़े, रोटी-पूड़ियाँ आदि खिलाते हैं।

अ आ, लछू दा।
 इ ई, लछुलि दी।
 उ ऊ, बिजू बू।
 ए ऐ, भात में दै।
 ओ औ, ढाड़ो में मौ।

इस गीत द्वारा बच्चों को अक्षर बोध कराया जाता है

हिन्दी

अ आ, लछुवा बड़ा भाई।
 इ ई, लछुली दीदी।
 उ ऊ, बिजुवा दादा।
 ए ऐ, भात में दही।
 ओ औ, लकड़ी के बक्से में मधु।

एक पत्या बैगन, धम्मोधुस्सा।
 द्वि पत्या बैगन, धम्मोधुस्सा।
 तीन पत्या बैगन, धम्मोधुस्सा।
 चार पत्या बैगन, धम्मोधुस्सा।
 पाँच पत्या बैगन, धम्मोधुस्सा।
 छै पत्या बैगन, धम्मोधुस्सा।
 सात पत्या बैगन, धम्मोधुस्सा।
 आठ पत्या बैगन, धम्मोधुस्सा।
 नौ पत्या बैगन, धम्मोधुस्सा।
 दस पत्या बैगन, धम्मोधुस्सा।
 इग्यार पत्या बैगन, धम्मोधुस्सा।
 बार पत्या बैगन, धम्मोधुस्सा।
 तेर पत्या बैगन, धम्मोधुस्सा।
 चौद पत्या बैगन, धम्मोधुस्सा।
 पनर पत्या बैगन, धम्मोधुस्सा।

इस गीत द्वारा खेल-खेल में ही बच्चों को गिनती सिखाई जाती है।

हिन्दी

एक पत्ती वाला बैगन, उछलो-कूदो।

दो पत्तियों वाला बैगन, उछलो-कूदो।
 तीन पत्तियों वाला बैगन, उछलो-कूदो।
 चार पत्तियों वाला बैगन, उछलो-कूदो।
 पाँच पत्तियों वाला बैगन, उछलो-कूदो।
 छः पत्तियों वाला बैगन, उछलो-कूदो।
 सात पत्तियों वाला बैगन, उछलो-कूदो।
 आठ पत्तियों वाला बैगन, उछलो-कूदो।
 नौ पत्तियों वाला बैगन, उछलो-कूदो।
 दस पत्तियों वाला बैगन, उछलो-कूदो।
 ग्यारह पत्तियों वाला बैगन, उछलो-कूदो।
 बारह पत्तियों वाला बैगन, उछलो-कूदो।
 तेरह पत्तियों वाला बैगन, उछलो-कूदो।
 चौदह पत्तियों वाला बैगन, उछलो-कूदो।
 पन्द्रह पत्तियों वाला बैगन, उछलो-कूदो।

डॉ० शेरसिंह पांगती ने जोहार घाटी (मुनस्यारी) के बाल गीतों के बारे में प्रकाश डालते हुए लिखा है- 'छोटे-छोटे बच्चे परस्पर खेलते समय प्रायः अनेक प्रकार के गीत गाते हैं। कोई परस्पर एक दूसरे का हाथ पकड़कर उछल-कूद करते हुए गाते जाते हैं, तो कोई पत्थर की गोलियाँ अँगुलियों पर उछालते हुए गणना करते रहते हैं। एक खेल में सब बच्चे एक दूसरे के कपड़े का पल्ला पकड़कर खड़े होते हैं, सबसे आगे का बालक ग्वाला बनता है तथा पीछे के अन्य सभी बच्चे भेड़-बकरियाँ। एक बच्चा भेड़िया बनकर एक किनारे दुबका रहता है। उसके सम्मुख जाते ही भेड़-बकरियाँ ग्वाले के पीछे भागने लगते हैं। परन्तु भेड़िया एक-एक करके सबको उठा ले जाता है। कुछ खेलों में गीतों का अन्तिम बोल जिस बच्चे तब पहुँचता है, उसे अछूत मानकर सब बच्चे भागते हैं तथा वह बच्चा जिसे छूता है, वह भी अछूत माना जाता है।'

डॉ० पांगती ने जोहार घाटी के नन्हें बच्चों के कुछ बाल गीतों का संग्रह किया है, जो इस प्रकार हैं-

इकना-दुकना, तिनकी चार,
 भोल बटी मंगल बार।
 त्यरो दिदीक, च्यौपोड नाक,
 क्वाँठ गोरूक, रूपो सीघ,
 क्वाट्ट-कुट्ट, कौनी बीस।

हिंदी

इक्का-दुगुना, तीन के चार
 कल से मंगलवार!
 तेरी दीदी की चपटी नाक,
 बाँझ गाय के सुंदर सींग
 काटो कूटो, कहते बीस!

पारि पातल मामी भेटी,
 मामी हाथ तामी छी।
 तामी भरी चूख छी।
 चूख धै चाटूँ, मामि धै भैटूँ?

हिंदी

उस पार जंगल में मामी मिली,
 मामी के हाथ में पतीली थी
 पतीली चूख (खट्टा पदार्थ) से भरी थी
 चूख तो चाटूँ, मामी से जो मिलूँ?

सभी बच्चे - घर बार, हुदाड़ि-हुदाड़ि।
 ग्वाला - पाकि न पाकि?
 बकरियाँ - पाकि गो।
 ग्वाला - इथै बटि कु खालो?
 बकरिया - मै.....मै.....मै।
 ग्वाला - इथै बटि कु खालो?
 बकरियाँ - बाघै खालो।
 ग्वाला - लूँन-पानि, लूँन-पानि...।
 बाघ - म्यर धारो क्वल हुदाड़ि?
 सबसे पीछे का बच्चा - आगा बटीक अनवालैल् हुदाड़ि।
 ग्वाला - यो झुठ बाकरो है।
 बाघ - ठिनक पारि दे।
 ग्वाला - हाथै नैछ।
 बाघ - ठिनक पारि दे।
 पीछे का बच्चा - आग् बटीक अनवालक् हाथ छ।
 ग्वाला - यो झुठ बाकरो है।
 बाघ - जब त्यर बाकरो भेल घमकलोत् कसि
 कै तानलै?

ग्वाला - खुटा लै तानूँले।
बाघ - जब त्पर बाकरो किड़ पड़लोत् कसि कै तानलै?
ग्वाला - चिमटालै तानूँल।
ग्वाला - (पत्थर फेंकते हुए) यो तरफ त्पर मैत।
बाघ - हा! हा! हा!
ग्वाला - यो तरपफ त्पर पैल।
बाघ - थू... थू... थू... (कुछ ढूँढता है)।
ग्वाला - कि चैन है रेछै?
बाघ - म्पर स्वीड़ हरै रेछ।
ग्वाला - यो हैई?
बाघ - होई सुई ढूँढने का बहाना करते हुए एक-एक करके सब बच्चों को उठा ले जाता है।

हिंदी

सभी बच्चे - घटबार सब तोड़-फोड़ कर दी।
ग्वाला - पका कि नहीं पका?
बकरियाँ - पक गया।
ग्वाला - इधर से कौन खाएगा?
बकरियाँ - मैं.....मैं.....मैं (खाऊँगी)
ग्वाला - इधर से कौन खाएगा?
बकरियाँ - बाघ ही खाएगा।
ग्वाला - नमक-पानी, नमक-पानी।
बाघ - मेरा घर किसने तोड़ा?
सबसे पीछे का बच्चा - आगे वाले अन्न वाले ने तोड़ा।
ग्वाला - यह बकरी झूठ बोलती है।
बाघ - ठिनक से आग जलाओ।
ग्वाला - हाथ ही नहीं है।
बाघ - ठिनके से (लोहे की पत्ती से चकमक पत्थर को टकराकर) आग जलाओ।
पीछे का बच्चा - आगे वाले अन्न वाले के पास हाथ हैं।
ग्वाला - यह बकरी झूठी है।
बाघ - जब तेरी बकरी चट्टान से गिरेगी तो कैसे खींचेगा?

ग्वाला - चिमटे से खींचूँगा।
ग्वाला - (पत्थर फेंकते हुए) इस तरफ तेरा मायका।
बाघ - हा! हा! हा!
ग्वाला - इस तरफ तेरी ससुराल।
बाघ - थू.....थू..... थू..... (कुछ ढूँढता है)।
ग्वाला - क्या ढूँढ रहा है?
बाघ - मेरी सूई खो गई है।
ग्वाला - यही है?

बाघ सुई ढूँढने का बहाना करते हुए एक-एक करके सब बच्चों को उठा ले जाता है।

पारि पातल बाघ भेटी
बाघल मेंहै छौन दी।
छौन मैल चेलि थें दी।
चीलैल मेंहै पख्यान दी।
पख्यान मैल ल्वार थें दी।
ल्वारैल मेंहै स्वीड़ दी।
स्वीड़ मैल ढोलि थें दी।
ढोलिल मेंहै बुटुवा दी।
बुटुवा मैल ओखल कुटुवा थै दी।
ओखल कुटुवालै मेंहै खाजा दी।
खाजा मैल ग्वाला थै दी।
ग्वालालै मेंहै दाँथु दी।
दाँथोल मैल घास काटि।
घास मैल गोरु थै दी।
गेरुलू मेंहै दूध दी।
दूध मैल ट्यकीन घालि।
ट्यकील मेंहै दै दी।
दै मैल नलियान घालि।
नलियान मेंहै नौनि दी।
नौनि मैल भदल्योन घालि।
भदल्योल मेंहै घ्यू दी।
घ्यू मैल राजा थै दी।
राजाल मेंहै घ्वाड़ा दी।
घ्वाड़ा म्हाँ चढी जौँल,
खिचड़ी भात खौँल।

हिन्दी

पार के जंगल बाघ मिला,
बाघ ने मुझे छौना दिया
छौना मैंने लड़की को दिया,
लड़की ने मुझे पख्यान दिया
पख्यान मैंने लोहार को दिया
लोहार ने मुझे सुई दी
सुई मैंने ढोली को दी
ढोली ने मुझे बटुवा दिया।
बटुवा मैंने ऊखल कूटने वाले को दिया
ऊखल कूटने वाले ने मुझे खाज (चावल) दिए
खाजे मैंने ग्वाले को दिए
ग्वाले ने मुझे दराती दी।
दराती से मैंने घास काटी
घास मैंने गाय को दी।
गाय ने मुझे दूध दिया।
दूध मैंने ठेकी (काठ के बर्तन) में डाला
ठेकी ने मुझे दही दिया
दही मैंने नाली (दही मथने के बर्तन) में डाला
नाली ने मुझे मक्खन दिया
मक्खन मैंने कढ़ाई में डाला
कढ़ाई ने मुझे घी दिया
घी मैंने राजा को दिया,
राजा ने मुझे घोड़ा दिया
घोड़े में चढ़ जाऊँगा,
खिचड़ी-भात खाऊँगा।

इस प्रकार कुमाउनी लोक साहित्य में बाल रचनाएँ स्फुट रूप में ही पायी जाती हैं, जिनमें बच्चों का मनोरंजन करना मुख्य उद्देश्य रहता है। बच्चे उन्हें आसानी से ग्रहण कर सकें इसलिए उनमें तुकबंदी की प्रधानता रहती है। ये तुकबंदियाँ कहीं सार्थक होती हैं तो कहीं निरर्थक। तुकबंदियों की खासियत यह है कि इससे पंक्तियों को याद करने में आसानी रहती है। इनमें अधिकांश रचनाएँ बच्चों के खेल-कूद से संबंधित होती हैं। कुछ खेलों के नाम तो इन्हीं तुकान्त पंक्तियों के नाम से चल पड़े हैं, जैसे- 'च्युँ मुसी', 'आती-पाती', 'कोड़ा जमाल साई', 'पन्ना पत्ती', 'फुकम फुकारा', 'बागी-बागी', 'माछी-माछी' आदि। बच्चों के मनोविनोद

के लिए कुछ रचनाएँ प्रश्नोत्तर के रूप में होती हैं। वर्तमान में शिक्षा के प्रचार-प्रसार के कारण ये रचनाएँ धीरे-धीरे विलुप्त होती जा रही हैं।

लोरी गीत

शिशुओं को सुलाने के लिए स्त्रियों द्वारा गाए जाने वाले गीत 'लोरी' कहलाते हैं। 'लोरी' का कोशगत अर्थ है- 'वह गीत जो स्त्रियाँ छोटे बच्चों को सुलाते समय गाती हैं।' शिशुओं को सुलाने के लिए गाई जाने वाली लयें प्रायः लोरी कही जाती हैं। पूरे संसार में बच्चों को सुलाने के लिए माताएँ किसी-न-किसी प्रकार की लय की गुनगुनाहट करती हैं। ऐसा करते हुए बच्चे को या तो पालने में हलके-हलके झुलाया जाता है या गोद में लेकर हलके-हलके हिलाया जाता है। बिस्तर पर लेटकर बच्चे को सुलाया जा रहा हो, तो कुछ गुनगुनाते हुए ही थपथपाया जाता है। डॉ० सत्येन्द्र के अनुसार ये सभी गुनगुनाहटें लोरी नहीं कही जा सकतीं। लोरियाँ लोकगीतों का ही एक अंग हैं और उनमें जब तक शब्द नहीं भरे जाते, तब तक केवल लय या ध्वनि लोरी नहीं कही जा सकती।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि सार्थक गीतों की संगीतमय आवृत्ति ही 'लोरी' के अंतर्गत आती है। लोरियों का प्रारंभिक रूप लोकवार्ता साहित्य में लोकगीतों के अंतर्गत मिलता है। परिनिष्ठित साहित्य में भी 'लोरियों' की रचना होती रहती है। 'लोरी' में विषय-वस्तु और अभिव्यक्ति विधान दोनों का समान महत्त्व है। चूँकि लोरियाँ बच्चों को सुलाने के लिए गाई जाती हैं, इसलिए उनमें प्रायः नींद को बुलाया जाता है और उसे तरह-तरह के प्रलोभन दिए जाते हैं। लोरियों का संबंध बच्चों से है- इसलिए उनमें बच्चों के कल्याण की कामना, उनके गुणों का बखान तथा देवी-देवताओं से उनकी रक्षा की मनौतियाँ आदि भी अतर्निहित रहती हैं। लोरियाँ कई तरह की होती हैं। लोरियों के विषय एवं उनके महत्त्व को स्पष्ट करते हुए डॉ० सत्येन्द्र ने लिखा है- लोरी में कोई-न-कोई अर्थ रहता है। भारत में बहुधा नींद को बुलाया जाता है- 'आ जा री नींदिया, मेरे लाल के नैनों में घुल-मिल जा।'.....कुछ लोरियों में विषाद और थकान भी अभिव्यक्त होती है। लोरी में माताएँ बच्चों की सुख-समृद्धि का टोटका मानती हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रतीत होता है कि लोरी से एक तो बच्चे का ध्यान इधर-उधर बिखरने से रोक लिया जाता है, दूसरे बच्चे को आंतरिक आश्वासन रहता है कि वह अकेला नहीं है और किसी-न-किसी का स्नेहपूर्ण

संग उसे मिला हुआ है। यह आश्वासन उसके मन में किसी भी भय का उदय नहीं होने देता। तालयुक्त ध्वनि और थपथपाहट या झूलन मन और शरीर को सुख भी पहुँचाते हैं। लोरी में यों तो कोई भी विषय रह सकता है, क्योंकि माँ जानती है कि वह शिशु न तो उसे समझता है, न वह समझाने के लिए गाई जाती है।

जहाँ एक ओर लोरी के विषय का संबंध माँ की भावनाओं के साथ जुड़ा होता है, वहीं दूसरी ओर शिशु के लिए उसकी माँ का संग और उस गीत की संगीतात्मकता का महत्त्व होता है, जो उसके तन-मन को भावविभोर कर उर्नीदा कर देता है और निंदास भरे वातावरण में निद्रा देवी उसे अपने आगोश में समा लेती है। दरअसल 'संगीत' में जादुई शक्ति होती है, जिसकी सुमधुर ध्वनि से मानव ही नहीं, वरन् मानवेतर प्राणी भी मंत्रमुग्ध हो जाते हैं। संगीतात्मक रूप में गुणगुनाए जाने वाले निरर्थक शब्द भी अपनी लयात्मकता एवं ध्वन्यात्मक मधुरिमा से श्रुतिमधुर लगते हैं और तन-मन को सुकून एवं शांति प्रदान करते हैं। सुनने वाले को शब्दों का अर्थ समझ में आ रहा हो या न आ रहा हो, लेकिन संगीत और लयात्मकता का जादू उसे तन्मय कर देता है। कहते हैं साँप के कान नहीं होते, परंतु सपेरे की बीन की सुमधुर ध्वनि तरंगों विषधारी साँप को भी अपने इशारों पर नचा देती है। संगीत में श्रोता को एकाग्रचित्त करने की अद्भुत शक्ति होती है।

सुर-लय-ताल संगीत के अभिन्न अंग हैं। संगीत की भाषा आत्मा की भाषा होती है, जिसमें हृदय का स्पंदन होता है, जो रक्त की सिराओं में आत्मानंद का संचार करता है। इसीलिए मानव ही नहीं, वरन् मानवेतर प्राणी पशु-पक्षी आदि भी संगीत का आनंद उठाते हैं। शोधों से पता चला है कि यदि सुमधुर संगीत बज रहा हो और उसी समय दुधारु पशु दुहा जा रहा हो तो वह अन्य दिनों की अपेक्षा सामान्य से अधिक दूध देने लगता है। माँ की गोद में खेलता अथवा पालने में झूलता बच्चा किसी भाषा को न जानते हुए भी संगीत की भाषा को आत्मसात् कर लेता है और आनंदमग्न हो उठता है, जिसकी अभिव्यक्ति उसके चेहरे के हाव-भावों एवं आंगिक चेष्टाओं के द्वारा परिलक्षित होती है।

'संगीत' की कई कोटियाँ एवं विधाएँ होती हैं। नवजात शिशु अथवा बच्चे का बाल मन कली के समान सुकोमल होता है। अतः उसे सुकोमल एवं सुमधुर संगीत ही आनंदित कर सकता है। 'लोरी' उसी का एक रूप है, जो पूरे विश्व में विविध रूपों में

देखने को मिलता है। महाकवि सूरदास ने भी कृष्ण को सुलाने के लिए लोरियाँ लिखी हैं, जिनमें कृष्ण को पालने में सुलाते हुए माता यशोदा भी लोरी गा रही हैं-

जसोदा हरि पालनैँ झुलावैँ ।
हलरावैँ, दुलराई मल्हावैँ, जोइ-सोई कछु गावैँ ।
मेरे लाल कौँ आउ निंदरिया, काहँ न आनि सुवावैँ ।
तू काहँ नहिँ बेगिहिँ आवैँ, तोकौँ कान्ह बुलावैँ ।....
इहि अंतर अकुलाई उठे हरि, जसुमति मधुरैँ गावैँ ।
जो सुख सूर अमर-मुनि दुरलभ, सो नंद-भामिनि पावैँ ।

सूरदास जी के इसी पद से प्रेरित होकर कुमाउनी में भी एक लोरी है,-

यशोदा हरि डाला में झुल्यँछ ।
हलराई दुलराई काखी में नच्यँछ ।
भुला की निनी आज काँसूँ गई छ ।
आई जा निनी त्वे कैँ भाऊ बलूँछ ॥

नना थोल में कब्भैँ हँस्सी उणैँछ ।
अँखा बंद छिन में, अधिल छिन खुली छ ।
निनी आई नानो डला में सिती छ ।
इजा ओ ! भाऊ ले च्याँ पिफर करी छ ॥

उकँ देख छ्वे स्नेह उम्डो हिदैँ छ ।
पयोधर बटी दूधा बगनौँ तली छ ।
ऐसो शुद्ध स्वर्गीय आनंद काँ छ ।
तपस्वैँल यशोदा उ हत्याइ ले छ ॥

अती दुर्लभैँ यो तपस्वी मुनिन सूँ ।
अवर्णित भयो शेष औ शारदा सूँ ।
कृपालू हरी भैँ सुदैँणा जनन सूँ ।
उई आधार भैँ सूर-तुलसी कविन सूँ ॥

हिन्दी

यशोदा हरि को टोकरे में झुलाती है ।
हलराई-दुलराई गोद में नचाती है ।
बच्चे की निंदिया आज कहाँ चली गई है ?
आ जा निंदिया, तुझे बच्चा बुलाता है ।

नन्हें होंठों में कभी हँसी खिलती है।
आँखें बंद क्षण में, अगले क्षण खुले हैं।
निंदिया आयी, बच्चा टोकरे में सोया है।
माँ ओ! बच्चे ने 'च्याँ' फिर कर दी है।

उसको देख प्रेम-स्रोत उमड़ा हृदय से है
पयोधरों से दूध बह रहा नीचे को है।
ऐसा शुद्ध स्वर्गीय आनन्द कहाँ है?
तपस्या से यशोदा ने वह हथिया लिया है।

अति दुर्लभ यह तपस्वी मुनियों के लिए भी।
अवर्णनीय है शेष और माँ शारदा के लिए भी।
कृपालु हरि हुए दयालु, माँ के लिए भी
वही आधार है सूर-तुलसी कवियों के लिए भी।

'लोरी' सुनाने में 'माँ' को और सुनने में शिशु को असीम आनंद की अनुभूति होती है। एक निंदास भरे वातावरण में माँ और शिशु कुछ पल के लिए एकमेक हो जाते हैं। माँ और शिशु का यह अंतरंग संबंध ही 'लोरी' का प्राणतत्त्व है, जो वात्सल्य की फुहारों में संगीतमय रूप में प्रवाहित होता है और अपनी सुमधुर वाणी एवं भावों की सुगंध से वातावरण को मनमोहक बना देता है। ये लोरियाँ लोकवार्ता साहित्य की अभिन्न अंग हैं और वहीं से परिनिष्ठित साहित्य में भी ली गई हैं।

कुमाउनी लोकसाहित्य में भी 'लोरी' का विशेष महत्त्व है। यद्यपि लोकगीतों के अंतर्गत 'लोरी' बाल साहित्य का अंग है, परंतु 'लोरी' का अपना पृथक् अस्तित्व एवं स्वतंत्र महत्त्व है। कुमाउनी में संख्या की दृष्टि से अन्य लोकगीतों की तुलना में लोरियाँ बहुत कम पाई जाती हैं। कुमाउनी में 'लोरी' को 'होलारि', 'हुलारि' 'हल्लोरी', 'हिलोरी', हलोरि आदि कहा जाता है।

कुमाऊँ में शिशु को पालने में सुलाते हुए अथवा बिछोने या गोद में थपथपाकर उसे सुलाने के लिए 'स्त्रियाँ' जो गीत गाती या गुनगुनाती हैं, उन्हीं को हम लोरी साहित्य के अंतर्गत परिगणित कर सकते हैं। उनमें कुछ लोरियाँ इस प्रकार हैं-

हल्लोरी बाला हल्लोरी!
तेरी इजू पालुरि का घास जैरै,
हल्लोरी बाला हल्लोरी!

घास बटी आलि, चुचि भरि ल्यालि,
चुचि खाप लालै, हलोरी हलोरी!

तेरी इजू पालुरि का घास बटी
चड़ि मारि ल्यालि,
चड़ि खेल लगालै,
हलोरी हलोरी!

तौलि की खिचड़ि खालै,
नौलि को पानि खालै,
गुदड़ी में से रौलै,
हल्लोरी बाला हल्लोरी,
हलोरी हलोरी!

हिन्दी

मेरे नन्हें बच्चे सो जा, सो जा!
तेरी माँ नई कोपलों वाली घास लाने गई है,
सो जा, मेरे नन्हें-मुन्ने, सो जा!

घास से आएगी,
स्तनों में दूध भर लाएगी,
तुम स्तन पान करोगे,
सो जा, मेरे नन्हें-मुन्ने, सो जा!

तुम्हारी माँ पलुरिया घास से
चिड़िया मार लाएगी,
तुम चिड़िया से खेलेगो,
सो जा, मेरे नन्हें मुन्ने, सो जा!

पतीली की खिचड़ी खाएगा,
बावड़ी का पानी पियेगा,
गूदड़ी में सोया रहेगा
मेरे नन्हें बच्चे सो जा, सो जा,
सो जा मुन्ने, सो जा!

उपर्युक्त भाव को ही व्यक्त करने वाला लोरी गीत यत्किंचित परिवर्तन के साथ कुमाऊँ में कहीं-कहीं निम्नांकित रूप में भी मिलता है -

भफुलील्यै भुफली भावा भुफली लै!

पुरवि को पिंगह्यो लो
पछिम की हावा
भुफली लै भावा!

तेरी इजू पलुरिया घास जाई रैछ।
तेरा लिजिया भावा
चुचि भरि ल्यालि, चडि मारि ल्याली।
चुचि खाप लैलै भावा।
चडिखेल लगालै, होलि लै, होली!

चुंगरी तोड़लै भावा
खातड़ि फाड़लै,
तेरि छत्तर राजगद्दी, बड़ि बड़ि हौली लै।
कुमवी को जौल खालै, अजुवा को पानी।
गुदड़ी में सोइ रौले, होलि लै होलि लै!

हिन्दी

ओ मेरे नन्हें, सो जा, सो जा मेरे बच्चे!
पूर्व की ओर से ही आएगी पीली गेंद
पश्चिम से आ रही होगी हवा
सो जा, मेरे मुन्ने! सो जा!

माँ तेरी गई है पल्लवित घास लाने,
तेरे लिए, ओ बच्चे!
वह स्तनों में दूध लाएगी, चिड़िया मार लाएगी,
तू माँ का स्तनपान करेगा, ओ नन्हें!
तू चिड़िया से खेलेगा, सो जा मुन्ने, सो जा!

तू फिर चुंगरा तोड़ेगा,
अपने गद्दे फाड़ेगा।
तेरा छत्र होगा, बड़ी राजगद्दी होगी।
तू कुमई की खिचड़ी खावेगा और स्रोत का पानी पीएगा,
गुदड़ी में सोया रहेगा, सो जा मुन्ने, सो जा।।

आँखन निनुरि दुलि गे, दुलि गे मुयै दुली गे।
फिण बिछूणो भुलि गे, भुलि गे मुयै, भुली गे।
पाणि भरण भुलि गे, भुलि गे मुयै, भुली गे।
साग काटण भुलि गे, भुलि गे मुयै, भुली गे।
पिस्युवा ओलण भुलि गे, भुलि गे मुयै, भुली गे।

रवाटा पकूण भुलि गे, भुलि गे मुयै, भुली गे।
आँगडै चिथड़ि छोड़ी गे, छोड़ी गे मुयै, छोड़ी गे।
पिछडै भिदड़ि छोड़ी गे, छोड़ी गे मुयै, छोड़ी गे।
आँखन निनुरि दुलि गे, दुलि गे मुयै, दुली गे।

हिन्दी

आँखों में नींद भर आई है, भर आई है ओ मेरी बच्ची! भर आयी है।
चटाई बिछाना तो भूल गई, भूल गई ओ मेरी बच्ची! भूल ही गई।
पानी भरना तो भूल गई, भूल गई ओ मेरी बच्ची! भूल ही गई।
शाग काटना तो भूल गई, भूल गई ओ मेरी बच्ची! भूल ही गई।
रोटी पकाना तो भूल गई, भूल गई ओ मेरी बच्ची! भूल ही गई।
अंगिया का चीथड़ छोड़ गई, छोड़ गई ओ मेरी बच्ची! छोड़ ही गई।
पुरानी ओढ़नी छोड़ गई, छोड़ गई ओ मेरी बच्ची! छोड़ ही गई।
आँखों में नींद भर आई, भर आई है ओ मेरी बच्ची! भर आई है।

हिल्लो चिलपोथि रन्न रन्न।

सातै भै म्यारा बनज गया।

छय्यै भौजि का भै जो मरा।

हिल्लो चिलपोथि रन्न रन्न।

बोरियो दिसाण दिछि रन्न रन्न।

कूचै दणक दिछि रन्न रन्न।

हिल्लो चिलपोथी रन्न रन्न।

आदु रोटी खाण दिंछि रन्न रन्न।

देलि क्वाणा जागा दिंछि रन्न रन्न।

हिल्लो चिलपोथि रन्न रन्न।

हिन्दी

ओ मेरे नन्हें से बच्चे! सो जा, सो जा।

मेरे सातों भाई व्यापार करने गए हुए थे।

मेरी छः भाभियों के भाई जो मरे हैं।

ओ मेरे नन्हें से बच्चे! सो जा, सो जा।

बोरे का बिछौना दिया करती थी, सो जा, सो जा।

झाड़ू से मुझे मारा करती थी, सो जा, सो जा।

ओ मेरे नन्हें से बच्चे! सो जा, सो जा।

आधी रोटी खाने को देती थी, सो जा, सो जा।

दरवाजे के कोने में जगह देती थी, सो जा, सो जा।

ओ मेरे नन्हें से बच्चे! सो जा, सो जा।

होली रे, हुल्यारी भव्वा से जा!

ओ भव्वा से जा!

निनुरी तू माटू-माटू ऐ जा,

ओ निनु ऐ जा!

पालुरिया घास तेरी मायड़ी जै रेंछ
दूध कि घुटकु भरी त्वै हैणि लौनेछ
लाड़लो पोथिलो राजा! से जा,
दूध भात खालै बाबू! से जा!
होली रे.....!

झक-झक नानु तारा निनुरी लि आला
पंचनाम देवो त्यरो दुख हरि लेला
आँखि लटि गैछो निनु, से जा!
घोल में को चड़ो पोथी! से जा,
होली रे.....!

सिती जालो मेरा बावो, घुरि-घुरि नीना
घोड़ चढ़ि आली नीनू बाँसुरी बजौना
बजानी धुरै की हवा! से जा.....!
चँवरो डुलेंछि इजू! से जा.....!
होली रे हुल्यारी.....!

बाजिगै बीणाई भली, मडुवा की सारा
नाचनै हँसनै नीनू ऐ गै धार धारा
चाँदी का घुँघरू भुलू! से जा.....!
होली रे हुल्यारी.....!

अगासी का तारा जतु उमरि बरसा
देवो तुम दैन होया, मेरी यो अरजा
में तेरो अदीन ल्यौलो, से जा!
चंदन पालन भव्वा! से जा!
होली रे....!

हिन्दी

हौले रे, हौले, बच्चे! सो जा!

ओ बच्चे! सो जा!

निंदिया! तू चुपके-चुपके आ जा!

ओ निंदिया! आ जा!

पल्लवित घास काटने तेरी माँ गई है!

दूध की घूँट भरकर तेरे लिए ला रही है!

लाड़ले बच्चे राजा! सो जा!

दूध-भात खाएगा बाबू! सो जा!

हौले रे...!

टिमटिम करते नन्हे तारे निंदिया ले आएँगे!

पंचनाम देवता तेरा दुःख हर लेंगे।

आँखियाँ नींद से अलसा गई हैं, सो जा!

घोंसले में का चूजा बच्चे! सो जा!

हौले रे....!

सो जाएगा मेरा बच्चा! गहरी-मीठी नींद!

घोड़ी चढ़कर आएगी निंदिया बाँसुरी बजाते

बाँज-वन के शिखरों की हवा, सो जा!

चँवर झलती है, सो जा!

हौले रे, हौले.....!

बज गई है बिणाई मधुर, मुडुवे के खेतों में

नाचते-हँसते निंदिया आ गई है, पर्वत शिखरों से!

चाँदी के घुँघरू पहनकर जैसे, बच्चे! सो जा,

हौले रे! हौले....!

आसमान में तारे जितने, उतने वर्ष की उम्र हो जाए!

देवताओ! तुम कृपा करना, यही मेरी विनती है!

मैं तेरी बलैयाँ ले जाऊँ! सो जा!

चंदन के पालने में बच्चे! सो जा!

हौले रे.....!

डॉ० शेरसिंह पांगती ने कुमाऊँ के जोहार (मुनस्यारी) क्षेत्र में गाए जाने वाले लोरी गीतों की परम्परा और उनके स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए लिखा है, - 'नन्हें शिशुओं को डोका या पालना में रखकर धीरे-धीरे हिलाते हुए सुलाते समय 'होले री बालो होले! होले!' की धुन में लोरी गीत गाते हैं तथा थपथपाते रहते हैं। शिशु भी पालने में झूलते हुए लोरी की मीठी तान सुनकर गहरी नींद में सो जाता है।....

मुनस्यारी के वीषा तथा सेविला ग्राम की महिलाओं द्वारा भादों मास की 'आठों पर्व' में बाल खिलाई के अवसर पर गाये जाने वाली लोरी गीत के अनुसार एक नारी अपने कुटुम्बी जनों से

क्रमशः कहती जाती है कि मैं घास काटने तथा धान की गुड़ाई करने के लिए खेत को जा रही हूँ। आप लोग मेरे बच्चे की देखभाल कर दीजिए। परंतु सभी अपने-अपने कार्य में व्यस्त रहने के कारण असमर्थता प्रकट करते जाते हैं। अन्त में उनकी द्यौरानी बच्चे की देख-रेख करने के लिए सहमत होती है, तब वह द्यौरानी को 'फूलि जाए, फल जाए, जी रये, जागि रये' का आशीष देती है। गीत की प्रथम पंक्ति को एक महिला गाती है तथा बालक को गोद में लेकर झुलाते हुए अन्य महिलाएँ 'होलो री बालो होलो-होलो' पद की पुनरावृत्ति करती रहती हैं।" उक्त लोरी गीत का एक उदाहरण निम्नवत् है -

ओ म्यरा जेठाण बालो देखी दिया,
होलो री बालो, होलो री!
मी जूँली जेठाण्यू, घास काटन हो,
होलो री बालो, होलो री!
नै म्यरो बालो की दूध-ज्योला हो,
होलो री बालो, होलो री!
मैं त्यरो बालो की बात नै जाणन्यू,
होलो री बालो, होलो री!
ओ मेरी जेठाणी बालो देखी दिया,
होलो री बालो, होलो री!
कपफुवा की सेरी धान गोड़न जूँली, धान गोड़न,
होलो री बालो, होलो री!
मी जूँली धान गोड़न जूँली,
होलो री बालो, होलो री!
यो त्यरो बालो की बात नी जाणन्यू,
होलो री बालो, होलो री!
ओ म्यर देवर! बालो देखी दिया,
होलो री बालो, होलो री!
मी जूँली धान गोड़न जूँली,
होलो री बालो, होलो री!
चौ गघा पार की म्येर छ हो जाण,
होलो री बालो, होलो री!
नै म्यर बालो की क्याला कोसी हो,
होलो री बालो, होलो री!
मी जूँलो भौजी, इस्कूल जूँलो,
होलो री बालो, होलो री!

त्यर बालो की मैं बात नै जाणन्यू,
होलो री बालो, होलो री!
ओ मेरी ननद! बालो देखी दिए,
होलो री बालो, होलो री!
मी जाँछूँ ननद! घास काटन हो,
होलो री बालो, होलो री!
नै मेरी बालो की लड़वै पिनालू,
होलो री बालो, होलो री!
मी जूँली भौजी हो पूत की खेल,
होलो री बालो, होलो री!
मी त्यरो बालो की बात नी जाणन्यू,
होलो री बालो, होलो री!
ओ मेरी द्योराणी! बालो देखी दिये,
होलो री बालो, होलो री!
धान गोड़न जाँछूँ, बालो मरी जाँछूँ,
होलो री बालो, होलो री!
ओ मेरी जेठाणी! बालो देखी द्यूँली,
होलो री बालो, होलो री!
मी द्यखी द्यूँली, बालो द्यखी द्यूँली,
होलो री बालो, होलो री!
ओ मेरी द्योराणी जिय जागी रये,
होलो री बालो, होलो री!
फल्लि जाए, पफूल्लि जाए, जिय जागी रये,
होलो री बालो, होलो री!

हिन्दी

ओ मेरे जेठ जी! बच्चे को देख देना,
होलो री बालो, होलो री!
मैं जाऊँगी जेठ जी! घास काटने को,
होलो री बालो, होलो री!
न मेरे बच्चे को दूध-जौला है,
होलो री बालो, होलो री!
मैं तेरे बच्चे की बात नहीं जानता,
होलो री बालो, होलो री!
ओ मेरी जेठानी! बच्चे को देख देना,
होलो री बालो, होलो री!
कफुवा का सेरा धान गोड़ने जाऊँगी, धान गोड़ने,

होलो री बालो, होलो री !
 मैं जाऊँगी, धान गोड़ने जाऊँगी,
 होलो री बोलो, होलो री !
 ये तेरे बच्चे की बात नहीं जानती,
 होलो री बालो, होलो री !
 ओ मेरे देवर ! बच्चे को देख देना,
 होलो री बालो, होलो री !
 मैं जाऊँगी, धान गोड़ने जाऊँगी,
 होलो री बालो, होलो री !
 चार गंगा पार मुझे है जाना,
 होलो री बालो, होलो री !
 न मेरे बच्चे के लिए केले की पफली है,
 होलो री बालो, होलो री !
 मैं जाऊँगा भाभी, स्कूल जाऊँगा,
 होलो री बालो, होलो री !
 तेरे बच्चे की मैं बात नहीं जानता,
 होलो री बालो, होलो री !
 ओ मेरी ननद ! बच्चे को देख देना,
 होलो री बालो, होलो री !
 मैं जाती हूँ ननद, घास काटने को,
 होलो री बालो, होलो री !
 न मेरे बच्चे के लिए लड्डू-पिनालू हैं,
 होलो री बालो, होलो री !
 मैं जाऊँगी भाभी बच्चों से खेलने,
 होलो री बालो, होलो री !
 मैं तेरे बच्चे की बात नहीं जानती,
 होलो री बालो, होलो री !
 ओ मेरी देवरानी ! बच्चे को देख देना,
 होलो री बालो, होलो री !
 धान गोड़ने जाती हूँ, बच्चा मर जाता है,
 होलो री बालो, होलो री !
 ओ मेरी जेठानी ! बच्चे को देख दोगे,
 होलो री बालो, होलो री !
 मैं देख दूँगी, बच्चे को देख दूँगी,
 होलो री बालो, होलो री !
 ओ मेरी देवरानी ! जीते-जागते रहो,
 होलो री बालो, होलो री !

फल जाना-फूल जाना, जीते-जगाते रहना,
 होलो री बालो, होलो री !

इस प्रकार कुमाउँनी में लोरी गीतों की संख्या अपेक्षाकृत कम है और यत्किंचित रूपान्तर के साथ एक ही तरह की भावभूमि पर आधारित लोरियाँ प्रायः पायी जाती हैं।

समकालीन बाल साहित्य

'बाल साहित्य' का तात्पर्य है- बालकों से संबंधित साहित्य। यह साहित्य मुख्य रूप से चार तरह का होता है। बालकों के मनोरंजन के लिए लिखा जाने वाला साहित्य, बालकों के मानसिक एवं बौद्धिक विकास के लिए लिखा जाने वाला साहित्य, बालकों के विषय में लिखा जाने वाला साहित्य तथा बाल कल्याण से संबंधित साहित्य। पहले प्रकार के साहित्य का उद्देश्य केवल बच्चों का मनोरंजन करना होता है। दूसरे प्रकार के साहित्य में बच्चों के मनोरंजन के साथ-साथ उन्हें शिक्षा देना भी होता है ताकि वे खेल-खेल में आसानी से नई-नई चीजें भी सीखते जाँय और उनके मस्तिष्क में कोई बोझ भी न पड़ने पाए। अर्थात् मनोरंजन भी होता रहे और नई चीज के प्रति जिज्ञासा का भाव भी पैदा हो, जिससे उनका बौद्धिक एवं मानसिक विकास हो सके। तीसरे प्रकार का साहित्य विशुद्ध रूप से बच्चों के क्रियाकलापों, उनकी चारित्रिक विशेषताओं तथा बाल मनोविज्ञान से संबंधित होता है, जिसके माध्यम से सयाने लोगों का मनोरंजन भी होता है। महाकवि सूरदास द्वारा कृष्ण की बाल लीलाओं का वर्णन इसी कोटि में आता है। परम्परित अर्थों में इसे विशुद्ध रूप से बाल साहित्य तो नहीं कह सकते, क्योंकि इसमें साहित्यिक सौन्दर्य का प्राधान्य रहता है, लेकिन बालकों के विविध क्रियाकलापों, उनकी मासूम एवं भोली-भाली हरकतों तथा वाक्पटुता आदि का वर्णन होने से वे आबाल-वृद्धों के लिए भी रसास्वादन का विषय बन जाते हैं। अतः बालकों से संबंधित होने तथा बालकों द्वारा यत्किंचित ग्राह्य होने से इसे बाल साहित्य का अंग भी माना जा सकता है। उदाहरणस्वरूप सूरदास की कुछ पंक्तियों को उद्धृत किया जा सकता है। जैसे -

मैया मैं नहिं माखन खायो।

भोर भयो गैयन के पीछे, मधुवन मोहिं पठायो।

अथवा

मैया कबहुँ बढेगी चोटी । या

मैया मोहिं दाउ बहुत खिझायो । आदि

उपर्युक्त पंक्तियाँ बच्चों के मनोविनोद का विषय भी बन जाती हैं। चौथे प्रकार का साहित्य वह है, जो बच्चों की कल्याण-भावना से जुड़ा होता है तथा जिसमें बच्चों को सन्मार्ग में ले जाने, उनमें नैतिकता, ईमानदारी, कर्तव्यपरायणता आदि गुणों का समावेश कर उन्हें संस्कारवान, सभ्य एवं जिम्मेदार नागरिक बनाने की भावना अंतर्निहित रहती है।

जहाँ तक कुमाउनी में बाल साहित्य का प्रश्न है, कुमाउनी में दो तरह का बाल साहित्य पाया जाता है- कुमाउनी बाल साहित्य, कुमाउनी और परिनिष्ठित अथवा लिखित बाल साहित्य। कुमाउनी बाल साहित्य वर्तमान में अपनी शैशवावस्था में है। इसका मुख्य कारण यह है कि कुमाउनी भाषी क्षेत्र हिंदी भाषी क्षेत्र के अंतर्गत आता है, जिसके कारण हिंदी ही यहाँ की राजभाषा, सम्पर्क भाषा एवं सामान्य बोलचाल की भाषा होने के साथ-साथ औपचारिक शिक्षा की माध्यम भाषा भी है। इस कारण कुमाउनी परिनिष्ठित साहित्य में बाल साहित्य अपेक्षाकृत कम मात्रा में पाया जाता है।

आवश्यकता आविष्कार की जननी मानी जाती है। यदि कुमाऊँ क्षेत्र में कुमाउनी भाषा शिक्षा का माध्यम होती अथवा प्राथमिक स्तर पर भी पाठशालाओं में पढ़ाई जाती, तो निश्चित रूप से उसमें भी बाल साहित्य की रचनाएँ प्रचुर मात्रा में होतीं। दुर्भाग्य से अभी तक ऐसा नहीं हो पाया है। इसके बावजूद कुमाउनी रचनाकारों द्वारा छिटपुट मात्रा में बाल साहित्य विषयक रचनाएँ लिखी गई हैं। ये रचनाएँ मुख्य रूप से बच्चों के कल्याण पर आधारित होने के कारण उपदेशात्मक हैं। इनमें प्रायः बच्चों को बुरी संगत से बचने, स्कूल जाने, पढ़ाई करने तथा अपना भविष्य सुधारने जैसी बातें कही गई हैं। कहीं-कहीं पहाड़ के बच्चों की यथार्थपरक स्थिति का वर्णन भी किया गया है। बाल साहित्य विषयक ऐसी ही कुछ कविताओं को हम नीचे उद्धृत कर रहे हैं, साथ ही उनका हिन्दी रूपान्तर भी दिया जा रहा है, ताकि अकुमाउनी भाषी पाठकों को उनका अर्थ समझने में किसी तरह की कठिनाई न हो।

लौंडा इस्कूलिया सब घ्वाड़ा बणा ।

मिल्ला उनन बुकूणा हूँ काचा चणा ।।

अब बीर भारत-सन्तान होली, जब बटि लागल-घास खाणा ।
गोलमेज बटि चारो मिलो छ, भारत कणि गोल दाणा ।
पूरो स्वराज्य मिली गोछ भायो, मैस बटि तुम पशु गणा ।
मास्टरनै हुणि अड़दल चेंछ, बाल्टि भरी मुख थैं धरणा ।
खरहर बुरुश सबन कें लागलो, नाल खुटा सबनै ठोकणा ।
जीन लगाम फिरी कसी जाली, लागला सैप सवार हुणा ।
अस्तबलै में फिरी बाँधी जाला, पछिला खुटा कें एक कूणा ।
पूठि में उनरा चाबुक लागला, ऐंडि-बैंडि लगा जो करणा ।
रिसाले में भरती फिरि सब होला, बोकला ब्वाजा ढाई मणा ।
खुशि मन लै होली रंग मचावौ, 'गौर्दा' पूँछौ कणसुणा ।

हिंदी

स्कूली बच्चे सब घोड़े बन गये हैं।

मिल रहे हैं उन्हें चबाने को कच्चे चने।

अब वीर भारत की सन्तान होगी, जबसे ये घास खाने लगेंगे।
गोलमेज (सम्मेलन) से चारा मिला है, भारत को ये गोल (चने के) दाने।

पूरा स्वराज्य मिल गया है भाइयों! मनुष्यों से तुम अब पशु बन गये हो!

मास्टरों के लिए मोटा अनाज चाहिए, बाल्टी भर मुख के आगे रखने।

घोड़िया बुरुश सबको लगेगा, नाल पैरों पर सबकी ठोंकी जायेगी।

जीन-लगाम पिपर (तुम पर) कसी जायेगी, साहब लोग सवार होने लगेंगे।

अस्तबल में ही फिर बाँधे जाओगे, पिछली टाँग के बल एक कोने में।

पीठ पर उनके चाबुक पड़ेंगे, ऐंठ जो दिखाने लगेंगे।

रिसाले में भरती फिर सब किये जाओगे, ढाई मन का बोझ ढोओगे।

खुशी मन से होली खेलो, छिपकर बात सुनने वाला 'गौर्दा' कहता है।

हम गुलेल लै चाड़ नि मारना,

ग्यूनौक पौहर कनूँ-चड़ि हा!

जा अपना घर पफुर्र घिनौड़ी-

तू हमरो बिसकूण नि खा।

रजें ढकी बड़बाज्यू कूनी,
 'हाँ-हाँ, घन्तर क्वे नि उठा!
 घोल बटी छुटिया पोथील कै
 घौलै में धरि दिया पोथा।।'
 ओ बड़बाज्यू पुसिल मारि है
 चीं-चीं, चूँ-चूँ मुस दुलपन।
 ही-ही, ही-ही, हँस बड़बाज्यू
 'बिराउक धरम मुसै मारण।'
 ब्याई रतूली मा-मा करनै,
 दौड़ि ब्याखुलि घर भाजी किलै?
 अहा बिनैली नानिबाछि कै चाटि
 दूध पेऊनै, -देखूँ मिलै!
 घनमन-घनमन गोरु-बाछ चरनी,
 चमको सूरज, खुलो असमान।
 दै-दाड़िम हरी खुस्याणी लूण में।
 सानि ल्यैगोछौ रुपुवा पधान।।
 घ्वाड़क पुछ्ड़ जस छिड़ छुट सुकिला,
 गाड़ भरोणि सुसाट-भुभाट।
 फरफर नाचिगे घटकि फितौड़ी।।
 घ्वाइँ-घ्वाइँ रिघो माथी को पाटा।।
 पैन्याइ में आब बीं ऐ गई रे,
 पिसी गई नरुवा त्यार ग्युँ।
 घट्क म्वाव बै भ्यार मुनइ करि,
 छार-जौ पफोकी सार आघ पिस्युँ।।

हिंदी

हम गुलेल से चिड़िया नहीं मारते,
 गेहूँ का पहरा करते हैं-चिड़िया भगाकर।
 जा अपने घर को उड़कर गौरैया!
 तू हमारा अनाज मत खा!

रजाई ओड़कर दादा जी कहते -
 अरे-अरे! पत्थर कोई मत उठाओ!
 घौंसले से गिरे चिड़िया के बच्चे को
 घौंसले में ही रख देना, बच्चे!
 ओ दादाजी! बिल्ली ने मार दिया है
 चीं-चीं चूँ-चूँ करते चूहे को बिल में!

ही-ही ही-ही करते हँसे दादाजी
 'बिल्ली का धर्म है चूहे ही मारना'!
 ब्यायी रतूली गाय मा-मा करती
 दौड़ते संध्या को घर को भागी क्यों?
 अहा! कबरैली छोटी बछिया को चाटती
 दूध पिलाते हुए देखता हूँ मैं भी!
 घनमन-घनमन गाय-बछिया चरती
 चमका सूरज, खुला आसमान!
 दही-दाड़िम हरी मिर्च नमक में
 मिश्रित कर लाया है रुपुवा मालगुजार।
 घोड़े की पूँछ जैसी सकल सफेद
 नदी भर आयी उमड़ती-घुमड़ती।
 फरफराते नाचने लगे पनघट के पंखे
 घ्वाँई-घ्वाँई घूमता पनघट का ऊपरी पाट।
 पन्याली में अब दाने आ गए हैं रे!
 पिसे जा चुके हैं नरुवा! तेरे गेहूँ।
 पनघट के दरवाजे से बाहर सिर किया-
 राख जैसा फैला है सारे शरीर में आटा।

चेलि : इजू! जाण दे स्कूल पढ़न।
 इजू! जाण दे स्कूल पढ़न।
 इज : कसी जाँछै स्कूल पढ़न।
 कसी जाँछै स्कूल पढ़न।
 कसी आली घास की गढ़ोई।
 काँ बै खाली दूध की मलाई।
 को थामल काखी मैक भाऊ।
 गोरू बाछा बादिये रै जाला।
 कसी जाँछै स्कूल पढ़न?

चेलि : ब्याण ल्यौल घास की गढ़ोई।
 तब खाली दूध की मलाई।
 भाई ल्यौल काखी में ब्याखुली।
 दिन होली स्कूल पढ़ाई।
 गोरू बाछा जंगल जै आला।
 इजू जाण दे स्कूल पढ़न।

इज : सुखो पड़ सुखिया पहाड़ा।
 फिर होली किताब की डाड़ा।
 काँ बै आली कलम दवात।

तब होली शर्म की बात।
बुती धाणी धरिये रै जाली।
कसी जाँछे स्कूल पढ़ने?
चेलि : भली-भली स्कूल की दीदी।
पूरी करली किताब की माँग।
जरा खोल धें पिछौड़े की गाँठी
तब आली कलम दवात।

हिंदी

बेटी : माँ! जाने दो स्कूल पढ़ने
जाने दो स्कूल पढ़ने!
माँ : कैसे जाती है स्कूल पढ़ने ?
कैसे जाती है स्कूल पढ़ने ?
कैसे आएगा घास का गट्टर ?
कहाँ से खाएगी दूध की मलाई?
कौन पकड़ेगा गोद में का बच्चा
गाय-बछिया बँधी रह जाएँगी।
कैसे जाती है स्कूल पढ़ने ?
बेटी : प्रातः लाऊँगी घास का गट्टर।
तब खाएगी दूध की मलाई।
भाई को पकड़ूँगी गोद में शाम को
दिन में होगी स्कूल की पढ़ाई।
गाय-बछिया जंगल हो आएँगे
माँ! जाने दो स्कूल पढ़ने।
माँ : सूखा पड़ा है, सूखे पहाड़ों में
फिर होगा किताबों का रोना,
कहाँ से आएगी कलम-दवात?
तब होगी शर्म की बात।
काम-धंधा धरा रह जाएगा,
कैसे जाती है स्कूल पढ़ने?
बेटी : अच्छी-अच्छी स्कूल की दीदी
पूरी करेगी किताबों की माँग।
जरा खोलो तो पिछौड़े की गाँठ
तब आएगी कलम-दवात!

आओ रे, आओ! इस्कूल जानू!

चार आन रोजौक, भात-दाव खानू।

पाठि-दवात आपफी रौलि,
झ्वालन एक थाई ल्हि जानू
आओ रे! आओ, इस्कूल जानू!
आओ इस्कूल में तुम लै देखला,
नानि बहनजी दाव पकूनई
टुलि बहनजी भात पकूनई
नानतिन ढीक लै च़ड़ जा ब्ासनई
हैड मासैप ज्यू लूण चाखनई
आओ झिटघडि उती कें भै रून!
भात प्ाकण जानै थाइ बजून,
झिटघडिमणी ड़डु-पणयूँ थमून
भातैलि उतीकें थोव ल्यतपतून
घर अ-आ बतून धौ हूँछी
आज के दाव पाकै, झट बतै द्यून।
कदीनै ऊनई नेताज्यू, कदीनै ऊनई डी० एम० सैप
भात खाणहुँ इस्कूल ऊनई, जाणि क्ास-क्ास जाणि,
शिक्षा कभणी फुकि सकि हाली,
रोज मनूनई बारसी, रोज मनूनई पिपवपाणि।
खाण दिणी केंलै पत्त छू
जो उनर याँ पड़नहुँ जानी
उननकेंहैरे के खानू, के खानू
आओ रे! आओ, इस्कूल जानू,
चार आन रोजौक, भात-दाव खानू।

हिंदी

आओ रे! आओ, स्कूल जाते हैं!
आओ रे! आओ! स्कूल जाते हैं
चार आने रोज का दाल-चावल खाते हैं,
तख्ती-दवात अपने-आप रहेगी,
झोले में एक थाली ले जाते हैं,
आओ! स्कूल में तुम भी देखोगे,
छोटी बहिन जी दाल पका रही हैं
बड़ी बहिन जी चावल पका रही हैं।
बच्चे बगल में पक्षी जैसे चहक रहे हैं
हेडमास्टर साहब जी नमक चख रहे हैं,
आओ, थोड़ी देर वहीं बैठे रहेंगे!
चावल पकने तक थाली बजाएँगे

थोड़ी देर जरा करछुल-पनेला पकड़ेंगे
 भात से वहीं पर होंठ लतपताएँगे
 घर में 'अ-आ' बताना मुश्किल होता था
 आज कौनसी दाल पकाई, तुरंत बता देंगे!
 कभी आ रहे हैं नेताजी, कभी आ रहे हैं डी०एम० साहब,
 भात खाने स्कूल आ रहे हैं, जाने कैसे-कैसे लोग,
 शिक्षा कब की फूँक डाली है
 रोज मना रहे हैं बरसी, रोज मना रहे हैं बारहवीं!
 खाना देने वाले को भी पता है,-
 जो उनके यहाँ पढ़ने को जाते हैं
 उनको हो रही है,- 'क्या खाएँ, क्या खाएँ'?
 आओ रे! आओ, स्कूल जाते हैं
 चार आने रोज का दाल-चावल खाते हैं!

आज पाड़लै खराब लत,
 भोल है जालि तेरी कुगत
 बुबु कुनीछ, समउ हरू
 ल्याख नि लागै, फिरि के करूँ!
 आजि धरीनै, उमर सारि
 भोल ऐ जाली, विपत भारि
 साँचि नि मानै, देखि ल्है ल्हिये
 औरन धणी, तू पूछि ल्हिये,
 बीड़ील लागौं कलज में लस
 झन पड़िये नैकि शोबत। आज!
 तासोंक खेल, के हुँछ न्यार
 घर बै उई निकारों भ्यैर
 बेमानी ऐँछ, मन में यैसि
 दुणी हँसैछ, मैस जा फँसि
 के लागै भली, अन्यार पट
 नि औण दिये, येसि श्यामत। आज.....!
 जड़ उखाड़ करै शराब
 सारै समाजों हँछ खराब
 उजड़ि गया, यैल जतुक
 नि बणी सका, यैल उतुक
 घर में धरी, भ्यैर न्है जाँछ
 यई यमैँछ, सारि कुमत! आज.....!
 दुणी में आज के हुना देख

तवै कै पढ़ौनी, तू पढ़-लिख
 डबल-टूक धरीयै रै जाँ
 मैसौक नाम, इति कै ऐ जाँ
 तू भल नाती, भलाई सिख
 बचै रखिये, मेरी इज्जत। आज.....!
 सुणै सबनै, कर आपणि
 घरकै जास, भ्यैर भै बणि
 नौक बुलाण, कै निक लागों
 आघ में मांशु, ज्वानिक लागों
 हँसने खानै, मानि जा नाती!
 हाथ में म्यार, तेरी हिम्मत
 आज पाड़लै.....!

हिंदी

आज पड़ेगी बुरी लत
 कल को हो जाएगी तुम्हारी कुगत
 दादा कह रहे हैं, सँभल जाओ हरुवा।
 कहना नहीं माना, फिर क्या करेगा।
 अभी पड़ी है उम्र सारी
 कल को आ जाएगी विपत्ति भारी
 सच नहीं मानता, देख भी लेना
 औरों से भी तुम पूछ लेना
 बीड़ी से लगता है कलेजे में दाग
 मत पड़ना बुरी संगत में। आज.....!
 तासों का खेल क्या होता है अनोखा
 घर से वही निकालता है बाहर,
 बेईमानी आती है मन में ऐसी
 दुनिया हँसती है, आदमी फँस जाता
 क्या लगता है अच्छा, घुप्प अँधेरा?
 मत आने देना ऐसी हालत!
 जड़ उखाड़ करती है शराब
 पूरा समाज हो जाता खराब
 उजड़ गए इससे कितने
 नहीं बन सके इससे उतने
 घर में धरा, बाहर चला जाता है
 यही इसमें है सारी बुराई। आज.....!

दुनिया में आज, क्या हो रहा है, देख!
तुझे पढ़ाते हैं, तू पढ़-लिख
रुपया-पैसा धरा रह जाता है
व्यक्ति का नाम, इससे आ जाता
तू अच्छा है नाती! भलाई सीखो
बचाए रखना, मेरी इज्जत! आज.....!
सुनो सबकी, करो अपने मन की
घर का ही जैसा बाहर भी बनो
बुरा बोलना, किसे अच्छा लगता है
शरीर में मांस, जवानी का लगता है
हँसते-खाते मान जाओ नाती!
हाथ में मेरे, तेरी ही हिम्मत है।
आज पड़ेगी.....!

चल के चेलि, चेलि छ चल,
उकँ पढ़ाया तुम अक्षर।
उकँ पढ़ाल्य, तुम याँ जब
आल खुशाली, देखला तब।
नाम कमौणी, चेली लै छन
भोल के चाला बेलिया छन।
मन लगौनी काम करनी
द्वियै घरोंकि लाज धरनी।
च्यल भाजनी, घर बै जब
चेलि जै हुनी सोचँछा तब।
छ्वट कबिल, घर में जब
रँ खुशहाली घर में तब।
घर में चेली किलै पिफकर
ज्ञान सबनै टुल जिवर।
च्यल के चेलि, चेलि छ चल
उकँ पढ़ाया तुम अक्षर।

हिंदी

लड़का क्या लड़की, लड़की है लड़का
उसको पढ़ाना तुम अक्षर!
उसको पढ़ाओगे, तुम यहाँ जब
आएगी खुशहाली, देखोगे तब!
नाम कमाने वाली लड़कियाँ भी हैं

कल क्या देखोगे, कल ही देख लिया है।
मन लगाती हैं, काम करती हैं
दोनों घरों की लाज रखती हैं।
लड़के भागते हैं घर से जब
लड़की जो होती, सोचते हो तब।
छोटा परिवार, घर में जब
रहती है खुशहाली, घर में तब!
घर में लड़कियाँ क्यों चिन्ता?
ज्ञान सबसे बड़ा आभूषण!
लड़का क्या लड़की, लड़की है लड़का
उसको पढ़ाना, तुम अक्षर!

सुण मोहनी बैणा सुण रधुली।
स्कूल न्हें गे बैणा तीरै हिरुली।।
ताल खावै परुली न्हें गे।
पारै सरुली बेइयकी ग्वाई देखो जाणै नरुली।।
सलवार कमीज ख्वार तेल कंघी।
स्कूल न्हेंगे बैणा पौरै की गंगी।।
ग्वाल जाण छोड़ो, पलि खेड़ो दाधुली।
हम सब स्कूल जौल हिट रधुली।।
सरकारी किताब मिल्ल, सब फीस माफ।
भुला-भुली सब हिटो, दिखाओ नाख।
सबों हँणि शिक्षा भली, सब सुख देली।
हम सब स्कूल जौल, हिट रधुली।।

हिंदी

सुनो मोहिनी बहिन! सुनो रधुली।
स्कूल चली गई है बहिन नीचे की हिरुली।।
नीचे आँगन की परुली भी चली गई है।
उस पार की सरुली, कल की ग्वालिन देखो जा रही है नरुली।।
सलवार कमीज सिर में तेल कंघी।
स्कूल चली गई है बहिन! परसाल की गंगी।।
ग्वाला जाना छोड़ो, उधर फँको दराती।
हम सब स्कूल जाएँगे, चलो रधुली।।
सरकारी किताब मिलेंगे, सब फीस माफ,
बच्चों - बच्चियों! सब चलो, दिखाओ नाक

सबके लिए शिक्षा अच्छी, सब सुख देगी
हम सब स्कूल जाएँगे, चलो रधुली।

यो देखो! यो!
म्यौर गौक इस्कूली जाणौ
वीक लुकुडॉक भिदाड़-भिदाड़
वीक किताबोंक चिथाड़-चिथाड़
वीक झ्वलक कतार-कतार
वीक कुर्त फाटि-फाटि
वीक सुर्याव में टलै-टल
वीक खुट नघाड़-नघाड़
वीक पैन्टाक पिछाड़ि ठीक जागि पर उसै ट्वट
जस सुवौक कपोरि दाड़िम, मुसौक कपोरि गदू!
उ देखौ, उ डाड़ हालनै जाणौ
वीकि इजैल भात नि पकै
उ अण खाइयै भुकान जाणौ
अल्लै उ गोरु हकै आ
यैहै पैली पाणि भरि ल्या
उ जामनै बै क्मन हैगो
देखणौक एतौर-एतौर लागू
बात बड़-बड़ बुड़न है लै बुणणि करूँ।
वीक गलाड़ फाटि रयीं
उन बटि ल्यो तौराणौ
वीक खुटन हव जासी चिर पड़ गयीं
उ उनुकै तात लिसेन डामणौ।
उ अल्लै पाँच मैलौक
उकाव उकईबेर ऐरौ
वीक साँस चड़ि रौ
उ पस्यणैल लथपथ है रौ
ऐल उ दर्ज में भै रौ!
उ अरड़िल थर-थरै रौ
वीक कामणैल इस्कूलाक बाँस लै हिल गयीं
वीक आघ नौतार द्याप्त जै ऐरौ
वीक आघ बस एक कुर्तौक कट्याव छु
पणज्यू हिसाब बतूणी
उनूल उथै सवाल पुछि हैलौ
उकैके लै नि उणै, वील बिन कइयै

आपण हाथ आघिल करि हैलौ
स्याप-स्याप भेकुवा सिकौड़ाक सपक
वीक हाथन में लागणी
उ के नि कूणै चुपचाप मार खाणौ
दर्ज बै भ्यार निकवण जाणै
उ यो सब भुलि जाणौ
कुकुरै जै पुछड़ि उसै है जाणौ।

हिंदी

ये देखो! ये!
मेरे गाँव का स्कूली लड़का जा रहा है
उसके कपड़ों के कतरे-कतरे
उसकी किताबों के चीथड़े-चीथड़े
उसके झोले के तार-तार
उसका कुर्ता फटा-फटा
उसके पायजामे में थिगलियाँ ही थिगलियाँ
उसके पाँव नंगे-नंगे
उसकी पैंट के पीछे ठीक जगह पर वैसा ही छेद
जैसे तोते का कुतरा दाड़िम, चूहे का कुतरा कदू!
वो देखो! वह रोते हुए जा रहा है
उसकी माँ ने भात नहीं पकाया
वह बिना खाए भूखा जा रहा है
अभी वह गायों को हाका लगा आया है
इससे पहले पानी भर लाया
वह पैदा होते ही धूँत हो गया है
देखने का इतना-इतना (छोटा) लगे
बातें बड़े-बड़े बूढ़ों से भी बड़ी (सयानी) करता है!
उसकी गालें फटी हुई हैं
उनसे लहू बह रहा है
उसके पाँवों में हल जैसी बिवाइयाँ पड़ी हैं
वह उन्हें गरम लीसे से भरकर दाग रहा है!
वह अभी पाँच मील की
चढ़ाई चढ़कर आया हुआ है
उसकी साँस चढ़ी हुई है
वह पसीने से लथपथ हुआ है
अभी वह कक्षा में बैठा है!
वह ठंड से थरथरा रहा है

उसके काँपने से स्कूल की धरन भी हिल गई हैं
 उसके शरीर में नव अवतारी देवता सा आ रहा है
 उसके शरीर में बस एक कुर्ते का चीथड़ा है
 गुरु जी हिसाब बता रहे हैं
 उन्होंने उससे प्रश्न पूछ लिया है
 उसको कुछ भी नहीं आ रहा है, उसने बिना कहे
 अपना हाथ आगे कर दिया है
 सटाक! सटाक! भेकुल की टहनी की मार
 उसके हाथों में लग रही है
 वह कुछ नहीं कर रहा है, चुपचाप मार खा रहा है
 कक्षा से बाहर निकलने तक
 वह यह सब भूल जा रहा है
 कुत्ते की जैसी पूँछ, वैसा ही हो जा रहा है!

नान भव कस है रूँ छाव?
 आपण खेल-खिलौणन दगै।
 खिलौण लै के खास नि हुन-
 लकाइनाक् टुकुड़, घाक तिनाइ,
 डाबाक ढाकण, डाँसि, दुघ, फाटी चिथाइ
 जो मिलि गे, उ दगडि शुरू है जाँ खेल।
 खेल में उ भुलि जाँ दीन-दुनि कै
 लहैजाँ उ संसार में, जाँ है हँसी-हँसि, सुखै-सुख।
 नानाकि हँसि में हँसनी राम
 नानाक सुख में, सुखी छन रहीम
 उनार खेलम मिलनी गोविन्द
 उनार दगै खेलनी परमपिता परमेश्वर।
 नान भौ तुल हुनै जाँ
 खिलौणनौक रूप बदलनै जाँ।
 तुल हैबेर, कवे खेल्लूँ
 रंग-रूप दगै, कवे नौणि-मलाइ दगै
 कवे खेल्लूँ चाण-गूड़ दगै
 कवे हुँ मस्त गोइ-गवालन में
 कवे बन्दूक, तमन्च, कट्टन में
 कवे मन्दिर दगै खेल्लूँ, कवे मस्जिद दगै
 कवे गुरुद्वारा दगै खेल्लूँ
 कवे गिर्ज दगै।
 खेल, खेल नि रून, एक लगबाजी है जाँ

मैंस भितेर मैंस नि रून, एक रकस्याट फै जाँ।
 मन्दिर भितेर राम नि रून, मस्जिद भितेर रहीम
 गुरुद्वारा बै गोविन्द हरै जाँ, गिर्ज बटिक परमपिता।
 द्यापताँक थान तिथाण है जानी,
 द्यापत हरै जानी, दैत्य पफै जानी।

हिंदी

छोटा बच्चा कैसा हुआ रहता है चंगा?
 अपने खेल-खिलौनों के साथ।
 खिलौने भी कोई खास नहीं होते-
 लकड़ियों के टुकड़े, घास के तिनके
 डिब्बों के ढक्कन, चकमक पत्थर, फटे चीथड़े
 जो मिल गया, उसी के साथ शुरू हो जाता है खेल।
 खेल में वह भूल जाता है दीन-दुनिया को
 चला जाता है उस संसार में, जहाँ है हँसी ही हँसी, सुख ही सुख।
 बच्चों की हँसी में हँसते हैं राम
 बच्चों के सुख में, सुखी हैं रहीम
 उनके खेल में मिलते हैं गोविन्द
 उनके साथ खेलते हैं परमपिता परमेश्वर।
 छोटा बच्चा बड़ा होता जाता है
 खिलौनों का रूप बदलता जाता है।
 बड़ा होकर, कोई खेलता है-
 रंग-रूप के साथ, कोई मक्खन-मलाई के साथ
 कोई खेलता है चना-गुड़ के साथ
 कोई होता है मस्त गाय-गवालों में
 कोई बन्दूक, तमन्चा, कट्टे में
 कोई मंदिर के साथ खेलता, कोई मस्जिद के साथ
 कोई गुरुद्वारे के साथ खेलता
 कोई गिरजे के साथ।
 खेल, खेल नहीं रहता, एक वैर भाव बन जाता है
 इंसान अंदर से इंसान नहीं रहता, राक्षस घुस जाता है।
 मंदिर के अंदर राम नहीं रह पाते, मस्जिद के भीतर रहीम
 गुरुद्वारे से गोविन्द खो जाता, गिरजे से परमपिता।
 देवताओं के मंदिर श्मशान हो जाते हैं
 देवता खो जाते हैं, दैत्य घुस जाते हैं।

प्यारा नान्तिना !
 पटाँगण में घिनौड़ घुघुती कैं
 चारौ खितण झन भुलिया,
 गोरु-कलोड़ि कैं
 गगरास खवौण झन भुलिया ।
 लड़ प्यारैल धरिया तै दुब
 निमड़ि गो, आब मिलछौ काँ?
 भुबिन घास कणी,
 झन उजाड़िया, झन
 खेलण-कुदण बेर-
 चोट लगछौ, ल्वे बगछौ,
 झट्ट टोड़ी, फट्ट मिनि-निचोड़ी
 लगौ दिया घौ परी
 ल्वे थामी, घौ पुरियौलौ ।
 भुली-भुल्य हो !
 तकैं झन समजिया कान्
 तौ पतकँवार छु,
 कँवल बौ हो, डा या पीड़ हो,
 उपजि रौछौ-पिल गाँठ हो
 य डजिया हो आगौकौ
 काँ गुण यो नि दिखौनौ ।
 डाई ! तुलसी की डाई
 तीसि झन राखिया हो
 सदी-जुकाम
 एकनार हो, चौथी हो भागी
 कालमर्चा सघ घोटीबेरे
 पिसि-पासी रस खया !
 प्यारा नान्तिना !
 समहालिया हो इजुली धरती कैं ।
 माँ धरती को
 प्यारे बच्चों !
 आँगन में गौरैया -फाखा को
 चारा डालना मत भूलना
 गाय-बछिया को
 गौ-ग्रास खिलाना मत भूलना ।

लड़-प्यार से रखना वहाँ दूब
 खत्म हो गया, अब मिलता है कहाँ?
 भुबिन घास को
 मत उजाड़ना, मत
 खेलने-कूदने पर
 चोट लगती है, खून बहता है,
 तुरन्त तोड़ा, फटाक से मसला-निचोड़ा
 लगा देना घाव पर
 खून बहना बंद, घाव भर जाएगा ।
 बलिकाओं ! बालकों हे !
 इसको मत समझना कानी घास
 यह 'तकँवार' है,
 कँवलबाई हो, जलन या पीड़ा हो,
 उपजा हुआ हो फोड़ा या गाँठ हो
 या जला हुआ हो आग का
 कहाँ गुण यह नहीं दिखाता ?
 पौध ! तुलसी का पौध !
 प्यासा ही मत रखना, इसे हे !
 सदी जुकाम
 ज्वर हो एकदिनी -चार दिन चाहे
 काली मिर्च के संग घोटकर
 पीसकर मिलाकर रस पीना ।
 प्यारे बच्चों !
 सँभालना हे ! माँ धरती को ।
 नौ धान बत्तीस कावन,
 च्यौल हरु कैं द्वी आँखर के पड़ा,
 हरुवाक लछण मैकैं
 नान्छना बै देखी गोछी ।
 अर हो के कई,
 हुणी च्याल्क गणुवै न्यार,
 मैसनाक च्यालै स्कूल जाँछी,
 म्यर हरु आदुकै बाट बै,
 घर हौँ लौटि औँछी ।
 हरुवा नान्छना त्वील,
 घोलैकि चड़िक आन फोड़ि दी,

झिमौड़ाक पुड़ फोड़ि दी,
गाड़नाक मनकिटौव नैं धरि दी।
सारि गौं-गाड़ एक लगा,
भितेर त्वील मडुवाक दाण नैं धरि दी,
धानाक लिपि टुपार उचेड़ि दी,
ग्यौंक बियाक दाण नैं धरि दी।
गै-बाछिक पिछौड़ि,
निमोरि-निमोरि बेर तोड़ि दी,
बाकारनाक नया त्वील तोड़ि दी,
बोट-डावन फल-फूल नैं धरि दी,
घ्यौंक डूब त्वील सबै टट्क्या दी।
यहो फिर लै मैं सोचि,
धैं आबै समवछै कबेर,
गौं-गाड़ैकि, इष्ट मितुरनैकि,
सरमै-सरम,
आपण मन मारिबेर,
हरुवाक आँख खोलनै रैर्यो,
हगिल कै हरु कैपणोंनै गर्यो।
हरुवल नौ धान बत्तीस कावन,
हाईस्कूल, इण्टर, बी०ए०,
सबै पास थर्ड डिविजन में करि,
आब हरु सयाण हैगै,
मैंहों अंगरेजी में बुलाण फैगै।
अर हो हुणी च्याल्क गणुवै न्यार,
हरुवैकि अंगरेजी में बुलाण,
म्यार तरबै बाबिलकै भै,
हरु आब भैंपनै नैं भै।
घर छोड़ि, मै-बाब छोड़ि
हरु आज आपण मनौकै हैगै,
के कौँछौँ तदुकहों पड़ि-लेखि हैगै,
हरु आब भलीकै बुसी गै।
हरुवा त्वे पछिल मैं आसै-आस,
आपणि सारि जिंदगी लगा,
आपण हँट-भाँट टोड़ि तुकै पड़ा,
त्वील सारि मिहनत मेरि गाड़ बगै दी।
रयी उभरि कसर लैं आब,

त्वील भलीकै पुर्या दी,
दिन भरिक कमै,
ब्याहों शराब में डुबा दी।
पिण-खूण लै त्वील सिकी दी,
हरुवा त्यार लछण मैकै,
नानछना बै देखी गोछी,
अर हो हुणी च्यालाक गणुवै न्यार।
तु पूत नैं, कपूत छै,
तु मैस नैं, पिशाच छै,
हरुवा जौस ब्वीनाछै, उसै लवालै,
तु लै य बूट औनाछै।
हरुवा उमरैकि-अकलैकि भेट नैं हुनि,
म्यर उमर में आबेर तु सोचलै,
मैलै खालि हाथै जौन,
तुलै खालि हाथै जालै,
नौक भल सब येति देखियेल रे,
नौक भल सब येति देखियेल।।

हिंदी

नौ धंधों बत्तीस प्रयत्नों से
बेटे हरुवा को दो अक्षर क्या पढ़ाए
हरुवा के लक्षण मुझे
बचपन से ही दिखाई दे गए।
अरे भाई! क्या कहा जाय
होनहार लड़के के पाँव ही अलग
लोगों के लड़के स्कूल जाते
मेरा हरुवा आधे रास्ते से ही
घर को लौट आता।
हरुवा! बचपन में तूने
घोंसले की चिड़िया के अण्डे फोड़ दिए।
भिड़ का छत्ता तोड़ दिया
नदियों के मुनकिटौव तक नहीं रहने दिए।
सारा गाँव-नदी एक लगाकर
घर के भीतर तूने मडुवा का दाना नहीं रहने दिया
धन के लिपे-पुते टोकरे उचेड़ दिए
गेहूँ के बीज के दाने नहीं रहने दिए।

गाय-बछिया की पूँछ
 मरोड़-मरोड़कर तोड़ दी,
 बकरियों के पाँव तूने तोड़ दिए
 पेड़-पौधों में फल-फूल नहीं रहने दिए
 घी के डिब्बे तूने सब खाली कर दिए।
 अरे! फिर भी मैंने सोचा
 क्या पता, अब ही सँभलेगा करके
 गाँव- नदियों के इष्ट-मित्रों की
 शर्म ही शर्म
 अपना मन मारकर,
 हरुवा की आँखें खोलता रहा,
 आगे को हरुवा को पढ़ाता रहा।
 हरुवा ने नौ धंधों-बत्तीस प्रयत्नों से
 हाईस्कूल, इण्टर, बी०ए०
 सभी तृतीय श्रेणी में उत्तीर्ण किए
 अब हरुवा सयाना हो गया
 मुझसे अंग्रेजी में बोलने लग गया।
 अरे भाई! होनहार लड़के के पाँव अलग
 हरुवा का अंग्रेजी में बोलना
 मेरी तरफ से बाबिला (घास) ही हुआ
 हरुवा अब धरती में ही नहीं हुआ।
 घर छोड़ा, माँ-बाप छोड़े
 हरुवा आज अपने मन का हो गया,
 कुछ कहता हूँ, इतने के लिए पड़ा-लिखा हो गया,
 हरुवा अब अच्छी तरह भूसा हो गया।
 हरुवा! तेरे पीछे मैंने आशा ही आशा में
 अपनी सारी जिन्दगी लगा दी,
 अपनी हड्डी-पसली तोड़कर तुझको पढ़ाया
 तूने सारी मेहनत मेरी नदी में बहा दी।
 उस पर रही-सही कसर भी अब
 तूने अच्छी तरह पूरी कर दी,
 दिन भर की कमाई
 शाम को शराब में डुबा दी।
 पीना-खाना तो तूने सीख ही लिया,
 हरुवा तेरे लक्षण मुझे
 बचपन से ही दिख गए थे,

अरे भाई! होनहार लड़के के पाँव ही अलग।
 तू पूत नहीं, कपूत है
 तू इंसान नहीं, हैवान है
 हरुवा! जैसा बो रहा है, वैसा ही काटेगा
 तू भी इसी रास्ते आ रहा है।
 हरुवा! उम्र और अक्ल की भेंट नहीं होती।
 मेरी उम्र में आकर तू सोचेगा
 मैंने तो खाली हाथ ही जाना हुआ
 तू भी खाली हाथ ही जाएगा,
 अच्छा-बुरा सब यहीं दिखेगा रे!
 अच्छा-बुरा सब यहीं दिखेगा।
 करौ हिसाब पाई-पाई,
 जन दिया कैकैगाई,
 आपस में छन सबै भाई-भाई।
 भाल नानतिन, लिखनान-पड़नान
 वी कन गुड़नान, योयी छ भलाई
 मै बाबु ल्हिनी उनरि बलाई।
 भल नानतिन खेलनान खेल
 खेल-खेल में, बडूनान मेल।
 सिकि ल्हिनी अक्षर ढाई।
 के नि हुनि फिरि कठिनाई।
 मन लगै काम करनान, बुराई लिजी डरनान,
 भवलक काम आज, आजक अल्ले करनान।
 काम में नी हुनि ढिलाई,
 एथें कूनी जग भलाई।
 पड़ि ल्यखि अफसर हवाल, जीवन भरि स्याव कराल,
 देशकि स्याव करिबेर, अघिल कै बडूल।
 सबै द्याल दुहाई।
 योई छ: असल कमाई।।

हिंदी

करो हिसाब पाई-पाई,
 मत देना किसी को गाली,
 आपस में हैं सब भाई-भाई।
 अच्छे बच्चे लिखते-पढ़ते हैं,

उसका विश्लेषण करते हैं, यही है भलाई,
माँ-बाप लेते हैं उनकी बलैयाँ।
अच्छे बच्चे, खेलते हैं खेल,
खेल-खेल में बनाते हैं मेल।
सीख लेते हैं अक्षर ढाई।
कुछ नहीं होती फिर कठिनाई।
मन लगाकर काम करते हैं, बुराई से डरते हैं।

कल का काम आज, आज का अभी करते हैं।
काम में नहीं होती ढिलाई
इसे कहते हैं जग भलाई।
पढ़-लिखकर अफसर होंगे, जीवन भर सेवा करेंगे,
देश की सेवा करके, आगे को बढ़ेंगे।
सभी देंगे दुहाई
यही है असली कमाई।

संदर्भ

1. कुमाउनी का संस्कृत मूलक व्याकरण, भाषाविज्ञान एवं साहित्य- डॉ० भवानी दत्त काण्डपाल
2. कुमाऊँ का लोक साहित्य- डॉ० कृष्णानन्द जोशी, प्रथम संस्करण
3. जोहार के स्वर- डॉ० शेरसिंह पांगती
4. कुमाऊँ के लोकगीत- डॉ० देवसिंह पोखरिया, (सं. डॉ० कपिल तिवारी)
5. नालंदा विशाल शब्द सागर, सं० नवल जी, आदीश बुक डिपो, संस्करण-१९८३
6. हिंदी साहित्य कोश, भाग-1
7. सूर काव्य सौरभ, संपा० डॉ० श्रीभगवान शर्मा
8. ऐच्छिक वनवास-सं० दिनेश कुंजवाल (कवि-केदार सिंह कुंजवाल)
9. छोड़ो गुलामी खिताब - गौरीदत्त पाण्डे 'गौर्दा'
10. अघवाल - चारुचंद्र पाण्डे
11. निशाश- देवकी महारा
12. उमाव- सं०-जगत सिंह बिष्ट
13. द्वै असीक - नारायण सिंह बिष्ट
14. गौँ वाले चिट्ठी लेखिया - नारायण सिंह बिष्ट 'नरैण'
15. उत्तरांचल गौरव- काशीराम भट्ट 'मधुर'
16. जैघड़ी उज्याव- जगदीश जोशी
17. भ्रमर गीत- पीताम्बर पाण्डे
18. दुदबोलि- संपा० मथुरादत्त मठपाल
19. बखताक हाल- डॉ० दलीप बोरा
20. नरै- घनानन्द पाण्डेय

उत्तरांचल के लोक साहित्य में विज्ञान

दिवा भट्ट

लोक साहित्य जीवनोपयोगी ज्ञान के समस्त विषयों को रोचक कलेवर में सजाकर अपने भीतर संरक्षित रखता है। लिखित दस्तावेजों के रूप में उपलब्ध नहीं होने के कारण विज्ञान सम्मत अध्ययनों में यह प्रमाणित स्रोत के रूप में प्रयुक्त नहीं होता। यह मौखिक परम्परा से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक एक स्थान से दूसरे स्थान तक प्रसारित होता है, इसलिए लोक साहित्य को मौखिक परम्परा का साहित्य भी कहा जाता है। छन्द, रस, अलंकार, भाषिक चमत्कार, प्रतीक, बिम्ब, मिथक, रूपक, फेंटेसी इत्यादि तत्त्व इसे लोकप्रिय एवं मनोरंजक बनाते हैं, तो इसमें समाविष्ट विविध विषयों का ज्ञान उसे उपयोगी तथा संग्रहणीय बनाते हैं। लोक-मानस धर्म, आध्यात्म, इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, राजनीति, मनोविज्ञान, आयुर्विज्ञान, कृषि, पशुपालन तथा पारिस्थितिकी जैसे विषयों के अनुभवजन्य समाजोपयोगी ज्ञान को लोकगाथाओं, लोक कथाओं, लोक गीतों, किंवदन्तियों, सूक्तियों एवं लोकोक्तियों आदि के रूप में प्रसारित और संरक्षित करता है। लोक साहित्य को एक प्रकार से लोक-वेद भी कहा जा सकता है, क्योंकि यह समय-समय पर लोक का दिशा-निर्देशन भी करता है। किसी क्षेत्र विशेष की पारिस्थितिकी के अध्ययन में भी लोक साहित्य एक विश्वसनीय स्रोत सामग्री उपलब्ध कराता है।

मध्य हिमालय स्थित उत्तराखण्ड के कुमाऊँ और गढ़वाल क्षेत्रों का प्राकृतिक परिवेश जितना वैविध्यपूर्ण एवं समृद्ध है, उतना ही समृद्ध यहाँ का लोक साहित्य भी है। इसमें यहाँ के मानव-हृदय की ही नहीं, यहाँ की संवेदनशील प्रकृति की धड़कने भी सुनाई देती हैं। कुमाउनी-गढ़वाली भाषाओं की विविध छटाओं तथा अद्भुत अभिव्यक्ति क्षमता से साक्षात्कार कराती यहाँ की लोक गाथाओं में एक ओर यहाँ का सामाजिक-सांस्कृतिक इतिहास सुरक्षित है, तो दूसरी ओर इसमें यहाँ की प्रकृति और पारिस्थितिकी संबंधी आश्चर्यजनक जानकारियाँ छिपी मिलती हैं। आज जो मनुष्य प्रकृति का अवैज्ञानिक दोहन करके उसे प्रदूषित तथा असन्तुलित बनाकर पृथ्वी के अस्तित्व के लिए संकट उत्पन्न करने वाला प्रमुख कारण बन रहा है, वही मनुष्य पूर्व युगों में प्रकृति का मित्र-सहचर, सेवक

और आत्मीय बनकर कैसे उसकी तथा अपनी सुरक्षा करता था, इसके प्रमाण हमें स्थानीय लोक गाथाओं में मिलते हैं। इन गाथाओं में प्रकृति मानवीकृत होकर मनुष्यों के साथ संवेदनापूर्ण संवाद स्थापित करती है और मनुष्य पात्र भी प्रकृति के विभिन्न तत्त्वों के साथ आत्मीय स्वजनवत् व्यवहार करते दिखाई देते हैं।

विषयवस्तु के अनुसार उत्तराखण्ड की लोकगाथाओं को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है-

1. प्रेम गाथाएँ : जैसे, राजुला-मालुशाही
2. वीर गाथाएँ : जैसे, अजुवा-बफौल, रमौल
3. धार्मिक गाथाएँ : जैसे, नन्दा जागर, आटूंगाथा

इन सभी प्रकार की गाथाओं में पारिस्थितिकी विषयक ज्ञान की पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होती है। यहाँ चर्चा हेतु गौरा/पार्वती विषयक गाथा-अंशों के कतिपय उदाहरण दिए जा रहे हैं। गौरा/पार्वती/नन्दा विषयक गाथा के यहाँ प्रमुखतः तीन पाठ मिलते हैं, गढ़वाल क्षेत्र में प्रचलित नन्दा गाथा, अल्मोड़ा क्षेत्र में प्रचलित नन्दा जागर तथा पिथौरागढ़ क्षेत्र में प्रचलित 'आटू' गाथा।

इन सबकी नायिका गौरा पार्वती हैं, जो कहीं गंवरा तो कहीं नन्दा कही जाती है। वह आद्यशक्ति महिष-मार्दिनी, दुष्ट-विनाशिनी महादेवी हैं। वही हिमवान-पुत्री पार्वती हैं, जो शिव महादेव के साथ ब्याही जाने के पश्चात् कैलाश-हिमालय में निवास करती हैं। यही देवी नन्दा या गंवरा के रूप में इस पर्वत प्रदेश की श्रमरत, संघर्षशील नारी का प्रतिरूप भी बन जाती हैं। स्थानीय स्त्रियों के समान उनके भी अपने अभाव और कष्ट हैं। नदी किनारे गाथें-बकरियाँ चराते समय उसका शिव से प्रथम परिचय होता है। विवाह के बाद दीर्घ अन्तरालों में अपने माइके आती गंवरा के लिए ऊँचे-नीचे दुर्गम पर्वतों के वनों के बीच से माइके का रास्ता खोजना कठिन हो जाता है, तब वह पेड़-पौधों से अपने माइके का रास्ता पूछती है। उसके आते ही उसके माइके अर्थात् निचले हिमालय के आवासीय क्षेत्र में मेले और उत्सव मनाये जाते हैं। ससुराल को लौटते समय स्थानीय जन समुदाय भेंट-उपहारों के साथ उसकी भव्य विदाई करता है और भाव विह्वल होकर दूर तक उसे पहुँचाने जाता है।

त्रिशूल, नन्दादेवी, नन्दा घुंटी, नन्दा खाअ, नन्दा कोट इत्यादि हिमशिखरों से क्रमशः नीचे को उतरकर गंवरा जब घास-लता-गुल्म आच्छादित वन्य प्रदेशों से होकर आगे बढ़ती हैं तो प्रत्येक

दोराहे पर वहाँ खड़े पेड़-पौधे जैसे-जैसे उसका पथ-निर्देशित करते हैं, वैसे-वैसे वह उन्हें आशीर्वाद या शाप देती है -

गंवरा- बाटा में की नीमुवा डाली, म्यार मैत जान्या बाटो काँ हो।
नीबू का वृक्ष- दैनु बाटो जालो देव केदार, बाँ बाटो त्यार मैत जालो।
गंवरा-धौला रंगन फूलिए डाली, पीला रंगन पाके।
तेरा फल नीमुवा डाली, मुनुखिया रे खाला। (जोशी-1990)

अर्थात्-रास्ते में के नीबू-वृक्ष, मेरे माइके को जाने वाला रास्ता कौन-सा है? दायाँ रास्ता केदारनाथ को जाएगा, बायाँ तेरे माइके को। नीबू-वृक्ष, तुझ पर धवल रंग के फूल खिलें और पीले रंग के फल पकें। तेरे फलों को सभी मुनुष्य खाएँ।

आगे जाकर वह नारंगी-वृक्ष से रास्ता पूछती है, तो वह बताता है कि दायाँ रास्ता त्रियुगी नारायण को जाता है और बायाँ तेरे माइके को। गंवरा उसे आशीष देती हैं कि उस पर नीले रंग के फूल खिलें और लाल रंग के फल पकें। यह फल देवताओं के प्रसाद बनें। घिंगारू नामक झाड़ी उसे बताती है कि बायाँ रास्ता बद्रीनाथ को जाएगा तथा दायाँ रास्ता गंवरा के माइके को। गंवरा कहती है कि घिंगारू पर श्वेत वर्ण के फूल खिलें तथा लाल रंग के फल पकें। ये फूल पक्षियों का भोजन बनें। फिर उसे किल्लमोड़े की झाड़ी मिलती है। वह बताती है कि बायाँ रास्ता कैलाश को जाएगा और दायाँ गंवरा के माइके को। उसे गंवरा आशीष देती है कि उस पर पीले वर्ण के फूल खिलें तथा नीले वर्ण के फल पकें। ये फल ग्वाल-बालों के खाने के काम आएँ। उसके बाद हिसालू की झाड़ी मिलती है। वह कहती है कि दायाँ रास्ता डोटीगढ़ (नेपाल) को जाएगा, बायाँ तेरे माइके को। गंवरा कहती है- हिसालू, तू कली रूप में खिलना और बड़ी-बड़ी बूँदों जैसा पकना। तेरे इन मीठे रसीले फलों को बहू-बेटियाँ खाएँगी।

अगला दोराहा पर्वत की चोटी पर पड़ा, जहाँ चीड़ के वृक्ष खड़े थे। गंवरा ने चीड़ से भी पूछा कि मेरे माइके का रास्ता कौन-सा है, तो चीड़ कहने लगा कि 'मैं तो अपने ही सूसाट-फूफाट में मस्त हूँ। तेरे माइके के रास्ते की बात मैं क्या जानूँ?'

गंवरा बोली-'धिक्कार है तुझ चीड़ को जो केवल अपने विषय में सोचता है। तू एक ही बार जन्मेगा, तुझ पर हरे फूल तथा सूखे फल लगेंगे और यह फल धरती पर व्यर्थ झड़ेंगे। किसी के काम नहीं आएंगे।' फिर गंवरा को शिखर के गहरे ढलान पर देवदारू वृक्ष मिला। पूछते ही बोला-'मेरी लाडिली बेटी, यही तो

तेरा माइके का देश है' और गंवरा माइके पहुँच गई।

भाद्रपद मास में आयोजित होने वाले 'आठूँ' पर्व पर व्रत करती स्त्रियाँ पूजा के समय जिन गीतों को गाती हैं, उन्हीं में से एक इस गीत में एक साथ अनेक संकेतों का द्योतन होता है। यह गीत एक ओर ससुराल वाली बेटियों की पीहर के प्रति आत्मीय संवेदना व्यक्त करता है, तो दूसरी ओर प्रकृति के साथ मनुष्य के आत्मीय संबंधों की ओर भी संकेत करता है। इसमें हिमाच्छादित पर्वतों से लेकर पिंडर, सरयू, काली, गोरी आदि नदियों की घाटियों तक की भौगोलिक स्थिति और यात्रा-पथ का निर्देशन भी मिलता है और इस पथ पर क्रमशः नीचे को उतरते हुए भिन्न-भिन्न ऊँचाइयों पर भिन्न-भिन्न वातावरण में उत्पन्न होने वाली विभिन्न वनस्पतियों की जानकारी भी मिलती है। केवल जानकारी ही नहीं, गीत उन सभी वनस्पतियों के पर्यावरणीय महत्त्व की ओर भी संकेत करता है। गीत में जो पौधे गौरा की मदद करते वर्णित किये गये हैं, वे ही पौधे पर्यावरण संरक्षण की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हैं। यहाँ हिसालू-किल्मोड़ा और धिंगारू की छोटी-कंटीली झाड़ियों को आकाश भेदी विशाल चीड़-वृक्ष से अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। निरक्षर लोकगायक विज्ञान पढ़े बिना भी समान दिखाई देने वाली चीड़ और देवदारू के पर्यावरण अनुकूलता के चारित्रिक भेद को सहज ही व्यक्त कर देता है। इसमें भिन्न-भिन्न ऊँचाइयों और वहाँ की हवा, तापमान तथा वातावरण की आर्द्रता आदि के अनुसार उत्पन्न होने वाले भिन्न-भिन्न पेड़-पौधों के प्राकृतिक सौंदर्य और पर्यावरणीय महत्त्व की जानकारी मिलती है। ये पौधे वातावरण के कार्बन-अवशोषण के साथ ही मिट्टी को सेंद्रीय बनाते हैं तथा भू-क्षरण को रोकते हैं। इनके फूल-फल तथा पत्तियाँ किसी-न-किसी अन्य प्राणी का भोजन बनते हैं। ये परोपकारी पौधे ही गौरा के सहायक बनकर उनका आशीर्वाद प्राप्त करते हैं। धरती की नमी और सेन्द्रियता तथा वायुमण्डल की नमी का अवशोषण कर बदले में शुष्कता बढ़ाने वाला, केवल अपने लिए जीने वाला चीड़ वृक्ष गौरा की भी सहायता नहीं करता और शाप पाता है। अन्य पेड़-पौधे कटने या छँटे जाने के बाद पुनः पनप जाते हैं, लेकिन चीड़ की कटी हुई टहनी भी पुनः नहीं पनपती। इसी कारण उसे एक ही बार जनमने वाला कहा गया है। गौरा वस्तुतः यहाँ प्रकृति का प्रतीक बनकर आती हैं। उनकी सहायता करने वाले पौधे ही पर्यावरण मित्र हैं। गीत में वर्णित पौधे मनुष्य तथा पशुओं के जीवन में भी अनेक तरह से उपयोगी हैं। स्थानीय समाज में इनकी उपयोगिता का विवरण निम्न है-

नींबू/निम्बूक

नींबू की अनेक प्रजातियाँ हैं। पर्वतीय समाज में इसे शुभ का प्रतीक माना जाता है। यह एक रूचिकर खट्टा फल है, जो तृष्णा शान्त करता है तथा भूख बढ़ाता है। इसके साथ ही ज्वर, शूल, हृदय रोग, श्वास रोग और त्वचा रोग में इसका प्रयोग किया जाता है।

नारंगी/सन्तरा

यह खट्टा-मीठा स्वादिष्ट फल श्वास तथा पाचन संबंधी रोगों में औषधीय कार्य करता है। विटामिन-सी से भरपूर इस सदाबहार वृक्ष की अनेक प्रजातियाँ पाई जाती हैं।

धिंंगारू

इसकी छोटी-छोटी झाड़ियाँ तथा फैली हुई जड़ें मिट्टी को बाँधकर भूक्षरण को रोकती हैं। हरी-हरी झाड़ियों में खिले छोटे-छोटे लाल फलों के गुच्छे प्रकृति में सजे हुए गुलदस्तों की भाँति सौंदर्य वृद्धि करते हैं और पक्षियों के साथ ही मनुष्यों द्वारा भी खाये जाते हैं।

किल्मोड़ा/किरमोड़/ दारू हरिद्रा

लघु हिमालयी क्षेत्र में इसकी तेरह प्रजातियाँ पाई जाती हैं। इसका स्थानीय नाम 'किलमोड़ा' दो शब्दों से मिलकर बना है-किल=काँटा और मोड़=खट्टा। इसकी जड़ और तना हल्दी जैसे पीले रंग के होते हैं। इनसे रंग भी बनाया जाता है। कंटीली झाड़ियों वाले इस वृक्ष की जड़ें मिट्टी को बाँधती हैं तथा खट्टे-मीठे पके हुए फल काफी स्वादिष्ट होते हैं।

किलमोड़ा मुख्यतः औषधि के रूप में प्रयुक्त होता है। इसके रस, काँटों, फूलों, जड़ों तथा छाल का प्रयोग नेत्र-रोग, उदर रोग, चर्म रोग, श्वास रोग, क्षय रोग, ज्वर, पाचन विकार तथा हृदय रोगों में किया जाता है। कुछ रोगों में मनुष्यों एवं पशुओं को झाड़ने के लिये भी इसका प्रयोग होता है।

हिसालू

हिसालू की कंटीली झाड़ियों की पत्तियाँ भेड़-बकरियों का चारा बनती हैं तथा जड़ भू-क्षरण को रोकती हैं। इसके बड़ी-बड़ी बूँदों जैसे केसरी रंग के खट्टे-मीठे रसीले फल मनुष्यों और

पक्षियों द्वारा खाये जाते हैं तथा इसकी जड़ उदर रोग में औषधि के रूप में प्रयुक्त होती है।

देवदार/देवदारू/भद्रदारू/अमरदारू/दयार

चौड़ाई में फैली हुई बड़ी-बड़ी शाखाओं वाला देवदार 160 से 180 फीट तक ऊँचा, सदाबहार तथा सैकड़ों वर्ष की आयु वाला होता है। पर्वतीय समाज में इसे शुभ तथा देवों का प्रतीक माना जाता है। सुगंधित होने के कारण इसको चन्दन की भाँति शुद्ध माना जाता है। सर्प इसके निकट नहीं आते। इसके काष्ठ पर कीड़ा नहीं लगता है और वह शताधिक वर्षों तक टिकाऊ रहता है, इसलिए ईमारती लकड़ी के रूप में यह सर्वोत्तम माना जाता है। अनेक प्रकार के रोगों की औषधियों में इसका प्रयोग किया जाता है जैसे-ज्वर, वात, शिरशूल, श्वास रोग, अतिसार, राजयक्ष्मा, उदर रोग, योनिरोग, पाण्डुरोग, नेत्ररोग, कर्णरोग, हृदय रोग एवं उन्माद। इसका उल्लेख चरक संहिता तथा सुश्रुत संहिता में भी मिलता है। यह मिट्टी को नम और सेंद्रीय बनाता है तथा वातावरण को भी नम बनाये रखता है। जन-मान्यता के अनुसार गौरा के वरदान के कारण यह पतझड़ में भी हरा-भरा रहता है।

चीड़/सल्ला

अपेक्षाकृत उष्ण तथा कम ऊँचाई वाले पर्वतों पर होने वाले चीड़ वृक्ष का प्रमुख उपयोग जलावन के रूप में होता है। इनके तने से निकलने वाले रस का तारपीन तेल बनाकर उसको वात-औषधि एवं रंग बनाने हेतु प्रयोग में लाया जाता है। ईमारती लकड़ी के रूप में इसका प्रचुर प्रयोग होने पर भी यह मध्यम गुणवत्तायुक्त ही माना जाता है, क्योंकि इस पर कीड़ा जल्दी लगता है तथा इसकी आयु कम होती है। चीड़ के वृक्ष के आसपास के वातावरण तथा मिट्टी में नमी व सेंद्रीयता के स्थान पर अम्लता बढ़ जाती है। इसलिए चीड़ के वनों में अन्य वनस्पतियाँ बहुत कम पनप पाती हैं, इसकी सूखी पत्तियों को गौशाला में बिछाने हेतु प्रयुक्त किये जाने के अतिरिक्त अन्य प्राणियों हेतु इसका कोई भी उपयोग न होने के कारण भी पर्यावरण संतुलन की दृष्टि से इसे उत्तम नहीं माना जाता।

स्थानीय समाज में अनेक शताब्दियों से गाई जा रही इन लोक गाथाओं के रचनाकाल को सुनिश्चित कर पाना कठिन है। आज तक भी पिछड़े हुए पर्वत-समाज में पूर्व युगों में शिक्षा-संचार की व्यवस्था का पूर्ण अभाव था। तब आज की भाँति

जागरूकता के आन्दोलन भी नहीं चलते थे, फिर भी प्रकृति से निकटता के कारण वह निरक्षर समाज प्रकृति से ही शिक्षा ग्रहण करता था। प्रकृति का निरीक्षण करते हुए ही उसने पर्यावरण-हितैषी और पर्यावरण-सुरक्षा की दृष्टि से हानिकारक तत्त्वों के अंतर को पहचानने और हितैषी तत्त्वों के संरक्षण के महत्त्व को समझा। उनकी भावनाएँ लोक साहित्य की विभिन्न विधाओं में स्वतः व्यक्त होती गईं।

प्रकृति और मनुष्य के आत्मीय संबंधों के रोचक उदाहरण यहाँ की प्रायः सभी गाथाओं में मिल जाते हैं। गौरा की तरह 'रमौल' गाथा की नायिका हूँकाली भी अपने माइके की प्रकृति से सहोदरवत् स्नेह करती दिखाई देती है। उसे तथा उसके प्रेमी दूधकँवल को बन्दी बनाकर प्रताड़ित करने वालों से बदला लेने के लिए जब दूध कँवल का बहनोई सिदुवा रमौल भभूत का गोला फेंककर उन्हें आतंकित कर देता है, तो हूँकाली ही रमौल से विनती करके भोटान्त प्रदेश को बचाती है-

राख, राख म्यरा दादू, यो मेरी भोटान

रक्षा करो, रक्षा करो मेरे बड़े भाई, इस मेरे भोटान्त की रक्षा करो। वह भोटान्त के मनुष्यों के साथ वहाँ की प्रकृति, आजीविका और अन्य वस्तुओं की रक्षा हेतु भी प्रार्थना करती हुई कहती है कि- 'हे दादू (बड़े भाई)! मैं तेरे पाँवों पड़ती हूँ, इस हूण देश की रक्षा करो। यह मेरा माइका है। मैं तो तुम लोगों के साथ आ जाऊँगी, पर ये सब मुझे उलाहना देंगे कि पिंगला हूँकाली खुद तो चली गई, पर मैके को उजाड़ गई। इसमें आपका अपमान होगा, उपहास होगा, इसलिए- हे भाई! तुम इस बारूली भोटान्त को बचा दो। ये मेरे पर्वत-पहाड़, ये मेरे घुरड़-काँकड़, ये मेरे थार-थरेटी, कस्तूरी मृग, भेड़-बकरियाँ, ये मेरे चल्थी-फाफर के पौधे, यह च्यक्ती नामक मदिरा और माँस का भोजन, यह मेरा कातना-बुनना, ये मेरे करबच नमक के ढेर, ये भेड़ बकरियों के झुण्ड, ये मेरे पिता-माता, भाई-भतीजे, इन सबकी रक्षा कर रमौल दादू, इनकी रक्षा कर।'।

तब जग प्रसिद्ध योद्धा रमौला को दया आ गई। अपनी जन्म भूमि के समग्र परिवेश के प्रति इस स्नेह और चिन्ता के कारण ही हूँकाली के ससुराल को जाते समय पूरा प्रदेश उससे जुड़ा हुआ दिखाई देता है। हूँकाली सूर्यवंशी घोड़े पर चढ़कर जा रही है। हेमकुण्ड का लोकपाल उसे विदाई देने आया है। ऊँटाधुरा के हिमाच्छादित पंथ, पेड़-पौधों, पर्वत-चोटी, बुग्याल, घास के

मैदान, चँवर गाय, झुप्पु भेड़, मारूका कुत्ते आदि सबसे विदा लेती हुई सिसक-सिसक कर रोती हूँकाली जा रही है। गीत भोटान्त प्रदेश के प्राकृतिक वातावरण का परिचय देने के साथ-साथ प्रकृति और मनुष्य के स्वजनवत् संबंध की साक्षात् आत्मीय अनुभूति कराता है। इस गाथा में मध्य हिमालय के ऊँचे शिखरों से लेकर तराई-भाबर तक की पारिस्थितिकी एवं वनस्पतियों की जानकारीयाँ सगुंफित है। हूणदेश के ऊँचे पहाड़ों पर चल्थी-फाफर होते हैं, तो सिदुवा रमौल और विदुवा रमौल अपने पशुओं को लेकर जिस तराई भाबर में जाते हैं, वहाँ की कथा में साल-सागौन आदि का वर्णन मिलता है।

जीवन विषयक विविध विषयों के ज्ञान के साथ ही इन गीतों में सृष्टि के रहस्यों को खोजने की कुंजी भी मिलती है। प्रकृति ने अपने विकास और प्रसार की व्यवस्था स्वयं कैसे निर्धारित की है, इसके संकेत भी लोक साहित्य में छिपे मिलते हैं। एक कथा के अनुसार सृष्टि का प्रथम कृषक चूहा था, जो अपने मुँह में बीज भरकर अपनी चोंच से भूमि को खोदता हुआ पृथ्वी में घूमता रहता था और बीज बोता रहता था। कुमाऊँ के प्रसिद्ध नन्दा जागर में बीज-प्रसारक के रूप में पक्षी का वर्णन मिलता है।

शिव के साथ कैलाश क्षेत्र में रहती नन्दा को जीरा बासमती नामक चावल खाने की इच्छा होती है, लेकिन यह धान वहाँ नहीं मिलता। वह शिव-महादेव से विनती करती है कि- हे स्वामी! मेरे लिए जीरा बासमती धान मँगा दें। तब शिव ने श्वेत-सुनहरे पंछी को बुलाकर कहा-

*‘जा धँ चौड़ा पै’ कौनी, आबा में अनै की स्योदाई।
जीरौ बासमती बीजा ल्यै दे पँ सिवारे कैलाशा।।*

अर्थात्-हे पंछी! अन्न की खोज में जाकर जरा जीरा बासमती का बीज शिव के कैलाश में तो ले आओ।

अनाज का बीज खोजते हुए पंछी नन्दू मोहरी के क्षेत्र में पहुँचा। वहाँ बगीचे के पेड़ पर बैठकर ताक-झाँक करता रहा। नन्दू मोहरी खाना पकाकर पानी भरने गई, तो पंछी उसके घर के अन्दर गया। पहले उसने भात के तौले में तितर-बितर की, फिर घर के भीतर अनाज ढूँढा। उसे जीरा बासमती के बीज मिल गये, जिन्हें उसने अपने मुँह में भर लिया। पानी लेकर लौटने पर भात को तितर-बितर देखकर नन्दू मोहरी ने क्रोध में आकर शाप दिया कि- ‘आते समय तो तू श्वेत वर्ण का था, लेकिन अब तेरा रूप काला हो जाएगा।’

पंछी फुर्र से उड़कर कैलाश गया। वहाँ घर के चाख (बाहरी कक्ष) में पहुँचकर अपने मुँह में भरा कोरा अन्न फर्श पर गिरा दिया। कैलाश वासियों ने प्रसन्न होकर कहा कि- हे पक्षी! हम सदैव तेरा स्मरण करेंगे। पर्वो-त्योहारों पर पहले तुझे खिलायेंगे। ‘काले कौवा, काले कौवा’ कहकर तुझे आवाज देंगे। इसी भावना से यहाँ पर पंछियों को दाना देने तथा उत्तरायणी इत्यादि त्योहारों पर कौवे को पकवान खिलाने की परम्परा चली आई है।

पर्वत-मैदान, शीत-उष्ण सभी स्थानों पर विचरण कर सकने वाले कौवे और चूहे जैसे प्राणियों की भूमिका बीजों के प्रसारण में कितनी महत्वपूर्ण है, इसका बोध लोक साहित्य कराता है।

यहाँ दिये गये इन थोड़े से उदाहरणों से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि लोक साहित्य प्रकृति और मनुष्य-जीवन से संबंधित समस्त विषयों के ज्ञान का भण्डार है। इसके कलात्मक आवरण के अन्दर झाँकने पर वह ज्ञान प्रत्यक्षीकृत होता है।

संदर्भ

1. जोशी, जी.सी. कुमाऊँ हिमालय की जंगली खाद्य वनस्पतियाँ (कुमाऊँ हिमालय का लोक वनस्पति विज्ञान, सं. पी.सी. पाण्डे तथा अन्य), 1999, साइंटिफिक पब्लिशर्स (इण्डिया) जोधपुर।
2. जोशी, प्रयाग, कुमाऊँ गढ़वाल की लोक गाथाएँ, एक सांस्कृतिक अध्ययन, 1990, प्रकाश बुक डिपो, बरेली।
3. जोशी, प्रयाग, कुमाऊँ की लोक गाथाएँ (तृतीय भाग), 1994, प्रकाश बुक डिपो, बरेली।
4. जोशी, विनोद कुमार, वेद एवं आयुर्वेद में वर्णित कुमाऊँ क्षेत्रोत्पन्न कतिपय औषधि वनस्पतियाँ (कुमाऊँ हिमालय का लोक वनस्पति विज्ञान, सं. पाण्डे तथा अन्य), 1999।
5. तिवारी, वेद प्रकाश तथा अन्य, कुमाऊँ की वनौषधियाँ (कुमाऊँ हिमालय का लोक वनस्पति विज्ञान, पाण्डे), 1999।
6. पोखरिया, देवसिंह (ध्वन्यंकन एवं संपादन), नन्दा जागर, 1995, पं. गोविन्द वल्लभ पन्त लोक कला संस्थान, अल्मोड़ा।
7. भट्ट, दिवा, कुमाऊँ में वनस्पतियों से जुड़े लोक विश्वास (कुमाऊँ हिमालय का लोक वनस्पति विज्ञान, सं. पाण्डे), 1999 साइंटिफिक पब्लिशर्स (इण्डिया), जोधपुर।

उत्तराखण्ड की जनजातीय कलाएँ

डॉ. शेखरचन्द्र जोशी

उत्तराखण्ड में भोटिया, सौका, जौहारी, रं, जाड, वनरावत/ राजी, थारू, बुक्सा तथा जौनसारी अनुसूचित जनजातियाँ हैं। जनजातियाँ उत्तराखण्ड के कुमाऊँ एवं गढ़वाल जनपदों के मैदानी तथा पर्वतीय अंचलों में रहती हैं। थारू तथा बुक्सा जनजातियाँ मुख्यतः कुमाऊँ की तराई के मैदानी क्षेत्र में निवास करती हैं। जौनसारी गढ़वाल की तराई में भी रहती हैं। जौनसारी सहित अन्य जनजातियाँ पर्वतीय क्षेत्र में निवास करती हैं। सौका/ जौहारी/ रं/ जाड/ मारछा एवं तौल्ला को पूर्व में एक ही नाम 'भोटिया' से जाना जाता रहा। सौका पिथौरागढ़ की जौहार (वैली) घाटी में तथा 'रं' जनजाति भी पिथौरागढ़ के दारमा, व्यास और चौदास घाटियों में रहते हैं। चमोली जनपद के पर्वतीय क्षेत्र में मारछा तथा तौल्ला क्रमशः माणा तथा नीति घाटियों में निवास करते हैं। जाड जनजाति उत्तरकाशी के नीलंग तथा जुदांग घाटियों में निवास करते हैं।

उत्तराखण्ड की इन जनजातियों की कला-संस्कृति अपने आपमें एक दूसरे से पृथक है। इन जनजातियों में सौका, रं, तौल्ला, मारछा एवं जाड, भोटिया सभी मुख्य रूप से ऊनी कला एवं हस्तकला के काम में अपनी विशिष्ट पहिचान रखते हैं। ये सुंदर कारपेट, दन तथा आसन आदि बनाते हैं। भेड़-बकरियों के ऊन निकालने से लेकर उसकी साफ-सफाई कर प्राकृतिक ऊन से तथा रंग कर भी रंगीन दन व आसन बनाये जाते हैं। इन्हें रंगने के लिए प्राकृतिक-वनस्पतियों का प्रयोग किया जाता था, जैसे डोलू तथा दार हल्द से पीला, मजेठ से लाल, काफल से हरा आदि। इनमें ज्यामितीय, प्राकृतिक तथा इच्छानुसार मनवाँछित भांत बुने जाते हैं। नीले, काले, भूरे रंग की पृष्ठभूमि वाले इन भांतों में प्रारम्भ में प्रायः ड्रेगन होता था, जो कि तिब्बत तथा चीन का प्रभाव है। धीरे-धीरे शेर, हिरन, मोनाल पक्षी, घुरल, भेड़ आदि भी बनाये जाने लगे। राजनेताओं के मुख चित्र, भारत का नक्शा आदि भी मांग के अनुसार दन और

कालीन में स्थान पाने लगे। घर में दन बुनना प्रत्येक लड़की को बचपन से ही सिखाया जाता है। उसकी शादी पर उसे घर वाले एक सुन्दर सा दन जरूर देते हैं। दन घर के बैठक और शयन दोनों में काम आता है। ये दन प्रायः निम्नलिखित आकार के बनाये जाते हैं-

1. बड़ा आकार (4' × 6' से अधिक और 6' × 9' अथवा माँग पर)
2. सामान्य आकार (3' अथवा 4' × 6')
3. मध्यम आकार (2'.5'' × 5' और 2'.5'' × 2'.5'')
4. सोफा सेट आकार (2' × 5')
5. छोटा साइज (1'.5'' × 1'.5'' और 2' × 2')

इनके द्वारा शाल, पंखी-चुटखा, थुलमा आदि भी बनाये जाते हैं। विशेष रूप से पश्मीना जो कि अत्यधिक गरम तथा भार में भी हल्का होता है। इन सबको बनाने में वे क्रमशः पिठाच या पिठियाचान, राँच, खड्ढी तथा करघा (लूम) का प्रयोग करते हैं। वर्तमान में सभी प्रकार की बुनाई के लिए उनके द्वारा करघा में प्रशिक्षण लेकर भी बुनाई की जा रही है। यद्यपि पिठाच या पिठियाचान उनकी प्रारम्भिक एवं पारम्परिक कला है, जिसमें वे ये सभी ऊनी कपड़े और चुटका आदि बनाते हैं। भीमतला, चमोली में ऊनी बुनाई का बड़ा प्रशिक्षण केन्द्र है। चमोली में ही

उत्तराखण्ड सरकार की मदद से यहाँ की इस जनजातीय कला को और अधिक विकसित करने के उद्देश्य से उनके समूह बनाकर उन्हें प्रशिक्षण दिया जाता है।

उड्यार (रॉक केक्स), खुले आसमान के नीचे, छप्पर बना कर रहने से हटकर भवन तथा मंदिर निर्माण करने में भी इस जनजाति ने देरी नहीं की। इनमें रानी गृह उड्यार, एक हथिया मंदिर, होंकारा देवी आदि प्रमुख हैं।

छुरमूल पूजें (पूजन), व्यास रिखी मेला, कंडाली मेला, कोल कम्फू या नन्दा देवी त्योहार, श्री ह्यान गबला देव, पांडव और बगड़वाल नृत्य - त्योहार, हरियाली मेला तथा जौलजीवी मेला, लोसर आदि में भोटिया जनजाति की हस्तकलाओं का विविध प्रदर्शन होता है। उत्तरकाशी के जाड-भोटिया हिन्दू तथा बौद्ध धर्म से प्रभावित होकर उनके मंदिरों के समान ही छोटे-छोटे मंदिर भी बनाने लगे हैं। यद्यपि भोटिया सहित प्रत्येक जनजाति का ग्राम देवता-देवी के अतिरिक्त इष्ट देवी अत्याधिक पूज्य होते हैं। फाफर बड़ा ही पवित्र चढ़ावा माना जाता है।

लकड़ी की हस्तकला में उत्तराखण्ड की प्रायः सभी जनजातियों ने प्रमुख दिलचस्पी ली। जौनसारी जनजाति उच्चकोटि का कार्य करती है। इनके द्वारा बनाये गये मंदिर एवं घरों में प्रयुक्त लकड़ी की नक्काशी देखते ही बनती है।



जौनसार क्षेत्र के महासु देवता के विभिन्न मंदिर, लाखामंडल आदि में शिल्प इनके इस कला पक्ष को उजागर करते हैं। ये लोग ऊन कला की भी जानकारी रखते हैं। इनके द्वारा 'नूने' त्योहार भेड़-बकरियों के ऊन निकालने की खुशी में मनाया जाता है। इनके बिसू मेला, जागड़ा महासु देवता की स्तुति में रात्रि जागरण, बूड़ी

दिवाई (एक माह विलम्ब से मनाई जाने वाली दीपावली) मोंड, पांचों अटकारी और माघ त्योहार मेले आदि में इनकी कला के दिग्दर्शन होते हैं। जौनसारी तंत्र-मंत्र कला में भी विश्वास रखते हैं तथा तदनुरूप तंत्र-मंत्र करते हैं। टोकरी निर्माण में भी ये अच्छी खासी रूचि रखते हैं।

थारू तथा बुक्सा भी लकड़ी की बहुत अच्छी नक्काशी करते हैं। उनके अपने घरों में प्रयुक्त होने वाली लकड़ी के

दरवाजों की बनावट तथा नक्काशी बड़ी ही सुंदर होती हैं। यद्यपि यह किसी विशेष घरों में ही दिखाई देती है।

सौका और रं जनजाति में भी लकड़ी की नक्काशी का सुंदर काम करने वाले चन्द कारीगर ही बचे हैं, जो अपनी इस कला को संरक्षित करने का प्रयास कर रहे हैं।

वनरावत/ राजी उत्तराखण्ड की ऐसी जनजाति है, जो आज भी जंगलों में ही विचरण करना पसन्द करती है। उनके पास जाने पर ये हम लोगों से दूर भाग जाते हैं। यद्यपि सरकार ने उनके लिए आवास बनाकर भी दिए हैं, जिसमें इस जनजाति के कुछ लोग रहते हैं।

राजी/ वनरावत लकड़ी के बर्तन बनाते हैं। इनके द्वारा कृषि कार्य में प्रयुक्त होने वाले औजार बनाए जाते हैं। कहावत है कि कुछ समय पूर्व तक ये लोग रात्रि में आकर आबादी वाले क्षेत्र में लोगों के घर के आगे ऐसे औजार और बर्तन बनाकर रख जाते थे, बदले में घर के लोग इनके लिए खाने-पीने का सामान तथा पुराने कपड़े आदि रख देते, जिन्हें ये उठाकर ले जाते थे। इनके द्वारा बनाए गए बर्तनों के नाम निम्नलिखित हैं-

पल्ली - लकड़ी का पात्र जिसे कठपाई भी कहते हैं, तौल/माप के काम आता है।

ठेका/ ठेकी - लकड़ी का ऐसा पात्र जिसमें दही तथा घी जमाया अथवा रखा जाता है।

नाली - एक पात्र जो मापने/ नापने के काम आता है।

हरपिया - ठेकी के समान पात्र होता है।

डोका- ठेकी से भी बड़े आकार का पात्र जिसमें दही से मट्ठा बनाया जाता है।

बोसा - खुदाई करने वाला औजार है।

बिन्डा- एक घड़ेनुमा आकार का बरतन जिसमें घी दूध या क्रीम रखा जाता है।

फिरका-छाछ बनाने वाला यंत्र/ औजार कहलाता है।

भदेली - दूध गरम करने वाला भारी तले का पात्र है।

वनरावत की भाँति थारू तथा बुक्सा भी लकड़ी के ऐसे ही काम आने वाले पात्र बनाते हैं। बैलगाड़ी के लकड़ी के पहिए तथा लकड़ी का कोल्हू बनाना भी इनकी प्रमुख कला है। यद्यपि अब इनका प्रचलन धीरे-धीरे कम हो चला है, इसके स्थान पर लकड़ी के पहिए न बनाकर रबर के टायर ही प्रयोग होने लगे हैं।

थारू व बुक्सा घास की टोकरियाँ तथा रस्सियाँ बनाने में अति निपुण हैं। पराल की चटाईयाँ, चारपाईयों की बिनाई, विभिन्न आकार की छोटी-बड़ी रंगीन टोकरियाँ, मछली मारने के जाल, झाड़ू, घास के बक्से, हाथ के पंखे, मछली रखने और पकड़ने की टोकरियाँ आदि बनाने में उन्हें महारथ हासिल है। इनको बनाने में वे जिस घास का प्रयोग करते हैं, उनकी ही भाषा में उन घासों के नाम निम्नलिखित हैं- उरई घास, वेब घास, गोदी घास, सन घास, सिरकी घास, बन्नी घास, मूँज घास, मिर्चा घास, सिंक घास, बेंत घास और बम्बू घास।

उपरोक्त सभी घास उन्हें आस-पास की नदियों तथा जंगलों

से मिल जाती है। यहाँ तक कि वे अब अपने घर के आस-पास भी तालाब बनाकर इन घासों को उगाने लगे हैं, जिससे उन्हें दूरदराज न जाना पड़े। उरई घास टोकरियाँ बनाने के लिए बड़ी अच्छी होती है। अब वे घास के स्थान पर पोलीथीन के द्वारा भी टोकरियाँ तथा चटाईयाँ बनाने लगे हैं। कुटारा व अन्य गाँव की कई महिलाएँ ऐसी टोकरियाँ बना रही हैं।

कॉटन की दरिया जिन्हें फटे-पुराने कपड़ों से बनाया जाता है। इसमें थारू महिला विशेष रूप से अच्छा कार्य कर रही हैं। ये महिलाएँ यह कार्य खेती कार्य के अतिरिक्त खाली समय में करती हैं तथा इससे धन अर्जित भी करती हैं। थारू तथा बुक्सा महिलाएँ अपने धारण करने वाले वस्त्रों को स्वयं सिलकर पहनती

हैं, यद्यपि अब ऐसी महिलाओं की संख्या नगण्य सी है। बुक्सा महिलाओं का मखमली अंगिया, गुनिया और लहंगा मुख्य पहनावा है। 'खूटा' बालों का जूड़ा विशेष आर्कषक होता है।

घरों में चिन्ह अंकन के अतिरिक्त मिट्टी में उत्कीर्णन (रिलीफ) की कला में बुक्सा जनजाति का विशेष उल्लेखनीय कार्य है। यह कलात्मक कार्य उनके द्वारा बनाए गए प्रायः सभी घरों की दीवारों में तथा विशेष रूप से उनके मकान के भीतर बने कुठल में स्पष्ट दिखाई देता है, कुठल जो अनाज रखने के लिए प्रयोग होता है। इनमें वे अपनी इच्छानुसार भगवान एवं देवी तथा प्रकृति पर आधारित विषयों का उत्कीर्णन एवं अंकन करते हैं। डॉ. विनिता भट्ट तथा डॉ. गीता अधिकारी के अनुसार महिलाओं द्वारा बनाए गए शीर्षक से इनकी विषयवस्तु का आभास होता है।

निष्कर्ष रूप में कहा जाय तो इनके द्वारा प्राकृतिक, सामाजिक, धार्मिक, दैनिक तथा ज्यामितीय विषयों पर उत्कीर्णन तथा अंकन किया जाता है। पूजा स्थलों, घर की दीवारों तथा आँगन को वे अनेक ज्यामितीय आकारों से अंकित भी करते हैं। उत्तराखण्ड के अधिकांश जनजातीय लोगों ने आज भी अपनी इस हस्तशिल्प परम्परा के ज्ञान की महत्ता को ठीक से नहीं समझा है, इसे तथा इसकी उच्चता को अनुमानतः से नीचे रखकर ही इस काम को करते रहे हैं, जो कि बड़ा ही दूर्भाग्यपूर्ण भी है। जो लोग इसकी महत्ता को बखूबी समझ पाये हैं, वे इसकी उच्च महत्ता के अनुरूप समुचित कार्य कर अनूठा प्रयोग भी कर रहे हैं, तथा उत्तराखण्ड की इस हस्तशिल्प को बढ़ावा दे रहे हैं। सरकार एवं संगठन भी इस दिशा में अपना-अपना योगदान देने की कोशिश कर रहे हैं, जिसे और बढ़ावा देने की आवश्यकता है। इन सबको चाहिए की वे इस हस्तकला को बढ़ावा देने के लिए पहल करें तथा उत्तराखण्ड में अथवा उत्तराखण्ड से बाहर प्रयास करें, यद्यपि कुछ किये जा रहे हैं और कुछ किये जाने अवशेष हैं।

1. शिक्षा के प्रत्येक स्तर में जनजातीय हस्तकला को पाठ्यक्रम

में सम्मिलित किया जाये।

2. जनजातीय कलाकारों की कला के संरक्षण, विपणन, प्रचार-प्रसार के समुचित प्रयास किये जाये।
3. राज्य में जनजातीय हस्तकला का एक बड़ा केन्द्र/ विश्वविद्यालय स्थापित कर विकसित किया जाय जो इनकी प्रत्येक जनजाति कला विधा से ज्ञानार्जन एवं धनअर्जन कर सके।
4. प्रत्येक जनजाति के किसी एक ग्राम/क्षेत्र को मॉडल के रूप में उसकी कला एवं हस्तशिल्प को और अधिक विकसित किया जाए।
5. जनजातीय कलाकारों को प्रोत्साहन/ पुरस्कार देकर सम्मानित किया जाय।
6. जनजातीय कलाकारों को दी जाने वाली सूचनाएँ उनकी भाषा-बोली में ही प्रचारित-प्रसारित की जायें (प्रायः अंग्रेजी में दी गई सूचनाओं के तथ्यों से वे अनभिज्ञ रहते हैं- फलस्वरूप उसका लाभ नहीं ले सकते हैं।)

उत्तराखण्ड जनजातीय कला एवं हस्तकला परम्परा की विशेष उपलब्धि यह है कि उन्होंने अपने तथा हमारे दैनिक प्रयोग की जो भी हस्तकला सामग्री बनाई, उसे बिना किसी छेड़-छाड़ के हमारे आस-पास की प्रकृति से लेकर ही उसका पूर्ण उपयोग होने तक अंततः किसी को कोई नुकसान पहुँचाये बिना, उसे उसी प्रकृति में ही विलीन कर दिया। यह हस्तकला पर्यावरण की दृष्टि से बड़ी ही इको फ्रेंडली है। यहाँ तक वे अब पोलिथीन का प्रयोग कर पोलिथीन रूपी कचरे को भी अपनी हस्तकला के माध्यम से उसे दैनिक उपयोग में लाने का काम कर रहे हैं। यह अति विशेष अनुकरणीय है।

उनके हस्तशिल्प में जीवन और प्रकृति के महत्त्व की महत्ता के पारम्परिक ताल-मेल एवं जागरूकता की एक ऐसी कड़ी दिखाई देती है, जिसे आज समूचा विश्व ढूँढ़ रहा है।

संदर्भ :

1. ऑफिस रिकार्ड ऑफ द रजिस्ट्रार जनरल इण्डिया
2. डॉ. एस.एस. पांगती, मनुस्यारी, ए.जेम इन द इण्डियन हिमालय, ट्रायबल हेरिटेज म्यूजियम मुनस्यारी, पिथौरागढ़ 2006
3. डूंगर सिंह ढकरीयाल 'हिमराज' 'हिमालयी- सौका सांस्कृतिक धरोहर, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली
4. डॉ. गीता मेहरा, 'कुमाऊँ की जनजाति की लोक कला एवं संस्कृति का एक अध्ययन' विशेषतया सीमांत जनपद पिथौरागढ़ के संदर्भ में अप्रकाशित पीएच.डी.
5. डॉ. गीता अधिकारी, 'बुक्सा जनजाति कला: एक अध्ययन अप्रकाशित पीएच.डी. एच.एन.बी. गढ़वाल विश्वविद्यालय, श्रीनगर 1996।
6. डॉ. विनिता भट्ट 'रिलीफ आर्ट एंड क्राफ्ट ऑफ बुक्सा ट्राइब्स' अप्रकाशित पीएच.डी. एच. एन. बी. गढ़वाल विश्वविद्यालय, श्रीनगर 2001

मनुष्य में ईश्वर खोजे: बाउल

दीपक कुमार सिन्हा

भारतीय भक्ति संगीत की परम्परा में बाउल भी एक है। यह बंगाल की अमूल्य सांस्कृतिक लोक सम्पदा है। यह लोक संगीत परम्परा महाप्रभु चैतन्य की संगीत परम्परा से ओत-प्रोत है। यही वजह है कि जब बाउल गायक-गायिकाएँ हुडुक और एकतारा पर श्री चैतन्य चरितामृत की सुर लहरियाँ छेड़ते हैं, तब उपस्थित जन समुदाय भक्ति भावना से सराबोर हो जाता है। बाउल गीतों के पोर-पोर में सांसारिक सुखों की नश्वरता, समर्पण, भक्ति और वैराग्य की भावना निहित होती है।

हिन्दी में जिसे बाउर कहते हैं, उसे ही बांग्ला में बाउल कहा जाता है। इसकी उत्पत्ति के विषय में यह मान्यता है कि यह व्याकुल अथवा बातुल शब्द से हुई है। बाउल शब्द के भावार्थ से मालूम होता है कि इसे मानने वालों ने अपने आपको भगवत प्रेम में समर्पित कर दिया है। इनकी भक्ति भावना को देखकर इन्हें 'उदासीन' भी कहा जाता है। कवि चण्डीदास ने अपने कई गीतों में बाउलों की चर्चा की है। जैसे-

प्रेमे ढल-ढल येमन बाऊल

मान्यता है कि 1400 ई. के आसपास भक्ति आंदोलन के साथ बाउल गीतों का उद्भव हुआ। इसका दर्शन किसी प्रकार की धार्मिक कट्टरता, धार्मिक अनुष्ठान और कर्मकाण्ड से मुक्त है। इसे मानने वाले किसी धर्मशास्त्र के आचार-विचार और नियमों को नहीं मानते। ये भिक्षा नहीं मांगते, किन्तु इनका जीवन दान में प्राप्त वस्तुओं से ही चलता है। बाउल, सूफी, दरवेश, फकीर सबके गीत-संगीत में भक्ति और वैराग्य की भावना मुखरित होती है। इन्हें एक दूसरे के पर्यावाची कहा जा सकता है। कबीरपंथी और निर्गुणियों की परम्परा भी इसी श्रेणी में आती है।

किसी भी धर्म या सम्प्रदाय का व्यक्ति बाउल हो सकता है। सोहरावर्दी, चिश्ती, कायादोरी, मदारी, बिंदोआरी, नक्शाबाड़ी, कादिरी आदि मुसलमान भी बाउल होते हैं। बाउल पुरुष भी होते हैं और महिला भी। बहुत-सी महिलाएँ आजीवन अकेली रहती हैं। वे दूसरों के बच्चों को अपने बच्चे की तरह देखभाल करती हैं।

बाउल संगीत को चारण काव्य भी कहा जाता है। इस काव्य पर वैष्णव कवियों का विशेष प्रभाव है। 18वीं शताब्दी के लोकप्रिय कवि रामप्रसाद का भी इस संगीत पर गहरा प्रभाव है। उन्होंने दयामयी माता के रूप में काली के गीत गाये हैं और अनेक पदों की रचना भी की है। आज भी उनके गीत चारण कवियों द्वारा बड़ी रूचि से गाये जाते हैं। बाउलों के विषय में सर्वमान्य तथ्य यह है कि ये लोग ईश्वर अथवा खुदा के दीवाने होते हैं। इसका वर्णन इस गीत में भी मिलता है-

तोमरा सदल होए करे फकीरी
यदि भजीबरे ला शरीक ला,
केपे घूरे बड़ाओ दरगाह तला
बूझी खाबीरे नैबिदी कला, करछाओ एता फकीरी

इस गीत का तात्पर्य यह है कि पाप से दूर पुण्य को अपने समीप रखकर संसार में विचरण करना चाहिए, शरीर ईश्वर का दिया हुआ तीर्थ है। इसी शरीर में सब कुछ मिलेगा। स्वार्थ के संसार तीर्थों में मारे-मारे फिरना बेकार है।

सदी दर सदी बाउल गायिकाएँ, नेपथ्य में रहकर अपने समाज के पुरुषों की मदद करती थी। नृत्य गीत की रचना करती थी, कोरस में अपनी आवाज देती थी, पर अब वे भी मंच पर आने लगी हैं- पुरुष गायकों के समांतर। यह सारा कुछ परिवर्तन हाल के वर्षों में संभव हुआ है। पश्चिम बंगाल के बाउल-बहुल क्षेत्र बीरभूम, नदिया और बाँकुड़ा जिलों में अब तीव्रगति से बाउल गायिकाओं की संख्या बढ़ रही है। कुछ बाउल गायिकाओं ने देश में ही नहीं, फ्रांस, स्विजरलैण्ड, मोरक्को और अन्य देशों में भी अपने गान पेश किये हैं। देश-विदेश में यश अर्जित कर रही बाउल गायिकाओं में महत्वपूर्ण नाम है-संध्या रानी दासी, सुभद्रा शर्मा, उमा दासी, कृष्णा दासी और सुमित्रा दासी आदि। इन कलाकारों द्वारा जिस प्रकार के गीत गाये जाते हैं, उसमें यह गीत भी काफी लोकप्रिय है-

द्विजा शुद्रो इतर भद्र नई रे भेदाभेद विचार
ब्राम्हेन, क्षत्रिय, शुद्र मिले-मिशे एकाकार

अर्थात्-ऊँच-नीच या ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र में कोई भेद नहीं।

बाउलों के लिये उनका बाउल धर्म सार्वभौमिक है और संसार का हर इंसान उसमें शामिल है। इधर की कुछ आधुनिक बाउल गायिकाएँ जरूर अलग मिजाज के गीत गाने लगी हैं। जैसे सुभद्रा शर्मा गाती हैं-

कबे होबे स्वराज वर्षा, रेखेछो सेई भोरोसा
कोतो दिन जाबे आमार भग्रदशा

यानि, स्वराज वर्षा कब होगी? रखा है भरोसा कि एक दिन मेरी भग्रदशा खत्म होगी और मुझे मुक्ति मिलेगी।

आमतौर पर बाउलिनियों का उपनाम दासी या बाउलिनी होता है, पर सुभद्रा यह उपनाम नहीं लगातीं। सुभद्रा कहती हैं- 'मुझे नहीं लगता कि दासी या बाउलिनी उपनाम लगाने की योग्यता मुझमें है। मेरा लक्ष्य अपने भीतर के सत्य का संधान करना है।'

उत्तर चौबीस परगना जिले के बशीरहाट की रहने वाली कृष्णा दासी बताती हैं- 'मैंने बाल्यकाल से ही बाउल गान गाना शुरू किया। मैं जब मंच पर गाती हूँ, तब मुझे यह नहीं ध्यान रहता कि मेरे आसपास कौन है, यह भी ध्यान नहीं रहता कि मैं पुरुष हूँ या स्त्री। तब सिर्फ गान का ध्यान रहता है।'

बाउल समाज में स्त्री के लिये बहुत सम्मान जनक जगह है। इसीलिये समाज के पुरुष कलाकार बाउलिनियों का बेहद आदर करते हैं। कृष्णा दासी कहती हैं- 'हाँ, सम्मान की बात एकदम सही है।' एक अन्य गायिका संध्या रानी दासी कहती हैं- 'जब मैं तीन साल की थी, तभी से बाउल गान गा रही हूँ। अब शादी हो गयी है, बच्चे हैं, तब भी गा रही हूँ। पिछले 25 वर्षों से मेरा संगी 'दोतारा' रहा है और मरते दम तक रहेगा।'

बाउल गायक-गायिकाओं के मुख्य वाद्ययंत्र एकतारा, खोल, करताल और दुगडुगी होते हैं। इन्हीं के साथ वे मंच पर या फिर कुछ रुपये, भोजन या अर्थोपाजन के लिये ट्रेनों, गाँवों और कस्बों में गाते हैं।

बाउल सम्राट पूर्णचन्द्र दास बाउल गायिकाओं की संख्या बढ़ने से उत्साहित हैं। वे कहते हैं- 'यह अच्छा है कि लोक मंगल के लिये, मनुष्य मात्र की मंगल कामना के लिये बाउलिनियाँ गा रही हैं और अपने कंठ का जादू प्रदेश में, देश में और विदेशों में बिखेर रही हैं।' बाउलिनियों के संध्या भाषा गान से सबका मंगल होगा, सबको आनन्द मिलेगा। पूर्णचन्द्र दास के आशीर्वाद से बाउलिनियाँ लोक मंगल के लिये साधना कर रही हैं और मनुष्य में खुदा को खोज रही हैं।

बंगाल का बाउल सम्प्रदाय चार सौ वर्षों से भी पुराना है। मध्ययुग के बांग्ला साहित्य में 'बाउल' शब्द का काफी व्यवहार हुआ है। कृष्णदास कविराज के 'चैतन्य चरितामृत' ग्रंथ में आठ बार बाउल का उल्लेख मिलता है। मालाधार बसु के 'श्रीकृष्ण विजय' और रागात्मिक पद में भी इस शब्द का व्यवहार हुआ है। चैतन्य देव ने तो स्वयं को बाउल ही माना है। सुप्रसिद्ध बांग्ला लेखक असीत कुमार बंधोपाध्याय ने 'बांग्ला साहित्ये सम्पूर्ण इतिवृत्त' में लिखा है कि 'बाउलों ने अठारहवीं शताब्दी में उत्कृष्ट अध्यात्म संगीत की रचना की।' उन्होंने दो पुराने बाउल गायकों लालन शाह फकीर और पांज शाह की चर्चा करते हुए लिखा है कि लालन शाह ने गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर को भी बहुत प्रभावित किया था। गुरुदेव ने लालन शाह के बाउल गानों का संग्रह भी प्रकाशित कराया था। रवीन्द्रनाथ की काव्य रचना भी बाउल संगीत से काफी प्रभावित रही है। इसी प्रकार आधुनिक काल में बाउल गानों को विश्व भर में प्रतिष्ठित करने का जिसे श्रेय जाता है, वे हैं-पूर्णचन्द्र दास। उनकी परम्परा को आगे बढ़ा रही हैं कृष्णा दासी, संध्या दासी, उमा दासी, सुमिता दासी और अन्य बाउलिनियाँ। जब वे एकतारा या दोतारा हाथ में लेकर गाती हैं, तब लगता है कि मानों वक्त ठहर जाता है-

जे बोझे ना मनेर कथा दाओ जे आमार एथो व्यथा

अर्थात्-जो मन की बात नहीं समझता और मुझे दर्द देता है।
बाउलिनियों का यह गीत भी बहुत मशहूर है-

आमी एमन मानुष पेलाम ना रे, जे आमाय व्यथा दिलो नो

यानि मुझे ऐसा मनुष्य नहीं मिला, जिसने मुझे दर्द नहीं दिया। बाउल की तरह बाउलिनियाँ हमेशा परमात्मा अर्थात् सत्य

से आत्मा का मिलन के गीत गाती हैं और उनके लिये परमात्मा मनुष्य के भीतर ही है।

सुप्रसिद्ध बाउल गायक पूर्णचन्द्र दास जैसे आधुनिक बाउल गायक के अलावा, चारण काव्य पर अनुसंधान के फलस्वरूप ललन फकीर, मदन बाउल, गगन हरकाड़ा जैसे बाउल गायकों के नाम भी प्रकाश में आये हैं। पूर्णचन्द्र दास के पिता खेपा बाउल (नवानीदास) का बाउल गीत जब महाकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने सुना तो इतने प्रभावित हुए कि शांति निकेतन में आयोजित पौष मेले में उन्हें आमंत्रित किया था। उस समय रवीन्द्रनाथ ठाकुर जी खेपा बाउल को प्रतिमाह एक सौ रुपये दिया करते थे।

माकी काजुमी नाम की एक जापानी महिला जापान में प्रसिद्ध बाउल गायक साधन बैरागी के बाउल संगीत से प्रभावित होकर भारत चली आयी और बाउल संगीत सीखने लगी। वह धीरे-धीरे बाउल गायन में सफल और निपुण हो गयी। माकी ने बाउल जीवन शैली को अपनी जीवन शैली बना लिया है। अब वह अधिकतर बांग्ला में ही बात करती हैं। उन्होंने भारत को ही अपना घर मान लिया है। उसे यहाँ की नागरिकता भी प्रदान कर दी गयी है।

बाउल गायन में एक तार या दो तार के वाद्य का उपयोग कलाकार करते हैं। एकतार वाले वाद्य को एकतारा और दो तार वाद्ययंत्र को दोतारा कहा जाता है। इसका दण्ड दो पतले बाँसों से बना होता है। बाउल उनमें से किसी एक बाँस को पकड़कर दूसरे हाथ की पहली या दूसरी कँगली से तार को झंकृत करते हैं। इसका आधार अर्थात् निचला भाग सूखी हुई लौकी का बना हुआ होता है। यह वाद्य धुन की निखारता को बनाये रखता है। आनन्द लहरी, जिसे गुबगुबी कहा जाता है। यह एक प्रकार का झंकार उत्पन्न करने वाला तबला है। इसमें चमड़े के साथ एक जोड़ी तांत के तार लगे रहते हैं। तार के दूसरे छोर पर छोटे तबले बंधे रहते हैं। बाउल नृत्य करते हुए एक हाथ से एकतारा अथवा दोतारा और एक हाथ से डुग्गी बजाते रहते हैं। कभी-कभी वे पाँव में नुपूर भी पहनते हैं।

बाउल नृत्य कथकलि से मिलता-जुलता तो होता ही है, इसके नृत्य में नितंबों की थिरकन और उनके परिभ्रमण में कथक की झलक भी दिखाई देती है। बाउल कलाकार केसरिया वस्त्र

धारण करते हैं। इनके बाल लम्बे होते हैं। ये अपने ललाट पर चंदन का टीका लगाते हैं। ये अपना हाथ आकाश की ओर ऊपर करके गायन करते हैं। ऐसी मान्यता है कि बाउल गायन के दौरान इनके द्वारा आकाश की ओर हाथ उठाना उल्लास का प्रतीक है। इसी प्रकार महिला बाउल भी केसरिया वस्त्र धारण करती हैं। उनके लम्बे केश एक योगिनी के जूड़े की तरह बँधे होते हैं।

बाउल गीत गायन की अपनी एक विशेष शैली है। बाउल गीत साधारणतः चार प्रकार के स्वर समूहों में से किसी एक से आरंभ होता है। साथ ही इसमें द्रुत और विलम्बित गीतों का बेहतर उदाहरण मिलता है। बाउल गीत की प्रथम पंक्ति या स्थायी की धुन एक तरह की तथा शेष पंक्तियों की धुन अलग होती है। लेकिन अंतरे साधारणतः एक ही धुन में गाये जाते हैं। प्रथम पंक्ति को छोड़ दूसरी सभी पंक्तियों के छंद भी एक प्रकार के होते हैं।

बाउल ग्रामवासियों को परामर्श भी देते हैं। उनके सुख-दुख में शामिल होते हैं। ये अपने गीतों के माध्यम से ग्रामीणों को आध्यात्मिक शिक्षा के अलावा राष्ट्रीय एकता के साथ ही अंध-विश्वास, कर्मकाण्ड और जातिवाद की बुराईयों की यथार्थों के अपने गायन का विषय बनाकर प्रचार करते हैं।

शांति निकेतन के साथ-साथ कोलकाता के बेलुर मठ बाउल गायकों का पसंदीदा प्रदर्शन स्थल रहा है। इसी प्रकार वीरभूम जिले के बिल्वा क्षेत्र में प्रतिवर्ष मकर संक्रान्ति के अवसर पर बाउल उत्सव का आयोजन किया जाता है। इस उत्सव को देखने के लिये देश-विदेश के हजारों पर्यटक आते हैं और तीन रातों तक बाउल की स्वर लहरियों से भाव विभोर रहते हैं। यह स्थान गीत गोविन्द के रचयिता परम आदरणीय प्रातः स्मरणीय जयदेव जी की जन्मस्थली है।

बाउल सम्प्रदाय के लोग शरीर को पूर्णता प्राप्ति का साधन मानते हैं। परमात्मा के साथ एकाकार हो जाना ही उनका लक्ष्य है। जो दृश्य है वह रूप है। अदृश्य अथवा अरूप का कोई आकार नहीं होता। दृश्यमान जगत से आध्यात्मिक जगत की ओर जाने के मार्ग की तलाश ही चारण कवियों की साधना का केन्द्र बिन्दु रहा है।

बाउल मानते हैं कि मनुष्य की देह में ही परम पुरुष का

निवास है। इस परम पुरुष को वे 'मानेरमानुष' कहते हैं तथा इसी मानेर मानुष की आराधना के लिये प्रेरित करते हैं। बाउल जप-तप, पूजा-पाठ, तीर्थ-व्रत को व्यर्थ और धर्म शास्त्र के आचार या नियमों में विश्वास नहीं रखते हैं।

बाउल कहते हैं कि हृदय के आलोक केन्द्र के वास्तविक रूप से परिचित होकर उसे प्रज्वलित करने का प्रयास करना चाहिए। प्रस्तुत है एक बाउल गीत-

*तीर्थ गीये की फॉल पाबी मोन
जोदी तीर्थे जाबे ताबे कारो तार आयो जान
जा तोर घुमाय माने ओरे चीनली ना तारे
शे ना जागीते तीर्थ फाल की फाल धारे*

अर्थात् तीर्थ जाने से क्या फल मिलेगा? अगर तीर्थ जाना है तो पहले उसका आयोजन करो। जो तुम्हारे हृदय में सोया हुआ है, उसे तुमने कहाँ पहचाना? उसके न जागने से तीर्थ यात्रा से भी क्या मिलेगा? संत नित्यानंद ने भी एक बार श्री चैतन्यदेव को बंगलादेश से अपने एक पत्र में सांकेतिक भाषा में लिखा था-

*बाऊल के कोहियो कोहिया गैछे
आऊल बाजारे न बिकाये चाऊल*

महान विद्वान नलिनीरंजन पण्डित के अनुसार बाउल का एक सम्प्रदाय विशेष के रूप में वर्णन प्राचीन ग्रंथों में नहीं पाया जाता है। आज से लगभग 400 वर्ष पूर्व बाउल सम्प्रदाय के पहले प्रवर्तक बाउल रामदास ठाकुर ने अपना अखाड़ा खोला, उनके चार प्रधान शिष्य थे-नदेरचाँद, स्वरूप कृष्ण, फकीरचाँद और जगन्नाथ।

भगवान चैतन्य देव के कथनानुसार मनुष्य में साढ़े चौबीस चन्द्र होते हैं। इसकी गणना इस प्रकार की जाती है। बीस चन्द्र हाथ और पैर के नाखून, ऊगल, गरल, रोहिणी, उन्माद एक-एक चन्द्र के बराबर और ललाट को आधे चन्द्र में गिना जाता है। इस विचारधारा के अनुसार ऊगल विष्ठा के बराबर, गरल मूत्र के बराबर, रोहिणी रक्त के समान और उन्माद वात के बराबर है। बाउलों के अनुसार जो कोई इसे साढ़े चौबीस चन्द्र कर लेगा, वह अमर हो जाएगा। परन्तु वे इसे स्वीकार नहीं करते कि वे साढ़े

चौबीस चन्द्र की साधना कर रहे हैं। गोपनीय ढंग से साधना करते हैं।

कविगुरु रवीन्द्रनाथ के लेख और कविताओं से सर्व-साधारण की यह धारणा बन गयी है कि बाउल लोग एक प्रकार से उदासी सम्प्रदाय के हैं जो सर्वसाधारण के लिये अपने गीतों की रचना करते हैं। बाउलों की गीत रचना का उद्देश्य सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का प्रचार है न कि कवित्व शक्ति अथवा मुर्शिद फकीर जैसा भावरस का प्रकाश।

भावेर भावि ना होईले भाव दांडाबे किसे रे से भावे
से जे गाछेर ऊपरे लतार बसीत, ताहार ऊपरे फूल
फूलेर ऊपरे भ्रमरा गुंजरे, कालिया मबाइल कूल
जलेर ऊपरे स्थलेर बसति ताहार ऊपरे ठेऊ
ठेऊयेर ऊपरे मानुष रतन तारि कि चिनेछ केऊ?

यह गीत कवि चण्डीदास की रचना में पाया जाता है। इस गीत में मनुष्य देह की तुलना एक वृक्ष से की गयी है। मनुष्य की ग्रीवा लता के समान, नासिका के छिद्र दो फूलों के समान और

श्वास-प्रश्वास की तुलना भ्रमर से की गयी है। मनुष्य देह के अंतर्गत जल है, उस जल के ऊपर मांस, मांस के ऊपर अस्थि, उसके बाद श्वास-प्रश्वास जल की लहर के समान हैं। इस लहर से मनुष्य का जीवन सुन्दर ढंग से चलता रहता है। अगर वह लहर रुक जाये तो जीवन शेष हो जाए। देह तत्त्व की इस भावधारा ने बांग्लाभाषा तथा उस समय के बंगाल के कवियों पर यथेष्ट प्रभाव डाला।

बाउल गीत बंगाल की अमूल्य सम्पदा समझी जाती है। बंगाल के विभिन्न जिलों में बाउल गीतों का विभिन्न प्रकार से नामकरण हुआ है। फरीदपुर में इन गीतों को विचार गीत कहते हैं। मयमन सिंह जिले में इसको लौआगीत अथवा मुर्शिदगीत भी कहा जाता है।

बाउल-बाउलिनियों के गीतों की विचार-वस्तु काफी मिलती-जुलती है। पुरुष हो या स्त्री, बाउलों का सर्वप्रिय गीत है-

जे खोजे मानुबे खुदा सेई तो बाउल

अर्थात्-जो मनुष्य में ईश्वर खोजे वही बाउल है।

लोक साहित्य में रतिप्रसंग

डॉ. राजेन्द्र रंजन चतुर्वेदी

रति शरीर और मन की भूख है। 'जि तौ बु चैं, बु तौ जि चैं' कहानी मनुष्य की रति की प्रचंड शक्ति का आख्यान है। पति परदेश गया और इधर उसकी पौरी में कोई ब्राह्मण टिक गया। रात को यार आया जब वह अपने यार के पास थी, तभी बालक के रोने की आवाज आयी। वह एक बार-फिर दो बार उसे चुप करा आयी, परन्तु तीसरी बार रोने पर उसे मार दिया। जब यार को शक हुआ और वह लड़के को देखने गया, तो उसने यार को मार कर कोठे में गहरा गड्ढा खोदकर गाड़ दिया। पौरी में टिके ब्राह्मण ने यह सारी कहानी आँखों से देखी थी। सबेरे वह आगे चला तो सराय में इसकी चर्चा की। जिस व्यक्ति से चर्चा की, संयोग से वह उसी स्त्री का पति था। पति घर आया और उसने ब्राह्मण के बताये स्थान को खोदा तो स्त्री ने पति को भी मार डाला तथा हल्ला किया कि मेरे पति को चोट्टा ने मार दिया है। इसके बाद स्त्री सबके मना करने पर भी जब सती होने लगी, तो जिस ब्राह्मण ने सारी कहानी को अपनी आँखों से देखा था, उसने पूछा कि- 'तैने अपना लड़का मारा, मालिक मारा और यार भी मार दिया, अब तू धरमेसुरी बनकर सती होने जा रही है! तो स्त्री बोली कि इसका बयान मेरी सहेली 'माली की बेटी' देगी।

मालिन जादूगरिनी थी, उसने विमान मँगाया और ब्राह्मण को बिठाकर अप्सराओं के पास ले गयी। अब तो ब्राह्मण परी-परी चिल्लाने लगा। मालिन बोली- 'पहलौटी के बेटे को चामुंडा पर बलिदान करने पर परी मिल सकती है।' दूसरे दिन ब्राह्मण बलि के लिये लड़के को साथ लाया। जैसे ही काटने को हुआ कि मालिन ने हाथ पकड़ लिया और कहा कि इसी आग में स्त्री ने पति, पुत्र और यार, तीनों को मारा था। 'बेदान सहर' की साहूकारनी भी इसी प्रकार अपने पुत्रों को मरवाने का प्रयास करती है।

ब्रज लोकवार्ता-साहित्य में निम्नलिखित रति-अभिप्राय प्राप्त होते हैं- विवाह पूर्व रति, अनुलोम रति, प्रतिलोम रति, देवर रति, विधुर रति, परनारी और परपुरुष रति, प्रेम बनाम विवाह, वेश्या रति, रति संबंधी वर्जन, रति संदेह, वर्जित रति और परिहास रति।

विवाह पूर्व रति - जब नल धूमासुर के किले में पहुँचता है तो मोतिनी नल पर मुग्ध हो जाती है तथा नल के साथ 'सार-फाँसे' खेलती है। जब दानव आता है तो अपने जादू के जोर से नल को मोम की मक्खी बनाकर जूड़े में लगा लेती है।

अनुलोम रति- रावण रूप-परिवर्तन करके राजा तज की रानी के पास पहुँचता है। रिसालू मैहते को धोखा देकर सीलनदे तक पहुँचते हैं। सर्राफ तमोली की छोरी को छल-पूर्वक अपने घर लिया लाता है। जब नल मोतिनी को लेकर जहाज पर आता है, तब सेठ के लड़कों का मन डिग जाता है तथा उसे प्राप्त करने के लिए वे नल को समुद्र में ढकेल देते हैं। राजा भोज का नौकर परकाया-प्रवेश विद्या के द्वारा राजा के शरीर में प्रवेश करके रानी से रतिदान माँगता है। झिलमिला जोगी छोटी रानी को जादू के जोर से वशीभूत करके अपने यहाँ रख लेता है।

'यार होय तौ ऐसौ होय' में दूसरा राजकुमार दूती को भेजकर राजकुमारी का अपहरण करता है। इसी प्रकार 'बिल्ली मूसौ और स्यापुँ' कहानी में दूसरे देश का राजा दूती के द्वारा राजा की बेटी को अपहृत करवा लेता है। हरिपाल की कहानी में माँ-रानी को डकैत घेर लेते हैं। इसी प्रकार तमोली की छोरी को चोर घेर लेते हैं। कीचक बलपूर्वक द्रौपदी से छेड़छाड़ करता है। नागराज ने राजकुमारी को बंधन में पटक रखा है। पटवारी तथा कारिन्दा जैसे राज-कर्मचारी अपने पद-अधिकार के दबाव में ठकुरानी के समीप जाने का साहस बटोरते हैं।

प्रतिलोम रति- नटिनी, बनजारिन, रेवा, चित्रलेखा, फूलनदे, साहूकारनी तथा मोरा गीत की नायिका की आसक्ति प्रतिलोम रति के उदाहरण हैं। पहली पत्नी के मरने पर स्यालकोट के राजा ने दूसरा विवाह कर लिया। नई रानी फूलनदे और राजा की उम्र में इतना अंतर था कि फूलनदे की आँखों में राजा नहीं, उसका जवान लड़का पूरनमल था। बाँदी बहाना बनाकर पूरन को रानी के महलों में ले आयी, परन्तु पूरन सीधा सच्चा युवक था।

नई रानी के प्रस्ताव को सुना तो वह विस्मित हो गया। पूरन के जवाब ने फूलनदे को इतना आहत कर दिया कि वह आपा भूल गयी। उलटकर उसने राजा से शिकायत की कि पूरन ने मेरे सत को डिगाने का प्रयास किया है। इसी प्रकार खाती के बेटे द्वारा राजा की बेटी को चोरों द्वारा बचाया जाता है। 'राजा की बेटी' 'खाती के बेटे को' चित्तरसारी में ले जाकर जब रति का प्रस्ताव करती है तब 'खाती का बेटा' कहता है कि मैंने तुझे बहिन कह दिया था, अब अनुचित प्रस्ताव मुझे स्वीकार नहीं। राजा की बेटी 'चोर-चोर' हल्ला मचाती है तथा उसे दंडित कराने का प्रयास करती है।

आल्हा में कई स्त्रियाँ अपनी काम तुष्टि के लिये पुरुष को पशु बना लेती हैं। ठग की बेटी राजकुमार के साथ भाग निकलती है। तमोली की छोरी घसखुदा राजा में तो परियाँ मृत राजकुमार को जीवित करके उसके साथ रति क्रीड़ा करती हैं। 'बेदान सहर' में साहूकारनी दानव को चाहने लग जाती है तथा अपने पुत्र को मरवाने का प्रयास करने में सहयोग करती है। एक राजकुमारी बनजारे से प्रेम करने लग जाती है। बनजारा उसे लेकर बाजार जाता है, बाग में जाता है, ताल पर जाता है। परन्तु जब अपने देश में पहुँचता है तो गृहिणी के पूछने पर उत्तर देता है कि- 'ना मैं लायौ दूसरी रे महलों की रानी ना लायौ मेंहमान जी/ रात कों पीसे तेरौ पीसनोँ री महलों की रानी दिन में खिलावै नंदलाल जी'।

रानी की बेटी को इतना बुरा लगा कि वह बेसर बेचकर जहर खरीदती है और पीकर सो जाती है।

चूड़ी पहनाने के लिये मनिहार आता है तो स्त्री कहती है - 'ए मनहरबा के छोरा! मोय हरौ चुरौ पहराय दै, जा झोरी ऐ धरौ उतार कें, अब मेलतेमेल मिलाय दै। काहू बिध मन मेरौ समझाय दै।' स्वयं दूती का संदेश तो ब्रज गीतों में बिखरा हुआ है-

मेरे घर नाँ है भरतार पपैया बोली बोलै।

नट का छोरा कितनी भावमय मुद्रा में नाच रहा था। रानी ने रीझकर ननद से कह ही तो दिया 'देखौ बीबी नट के कौ रूप त्यारे बिरन ते द्वै तिल आगरौजी।' राजा ने सुना तो नट को इनाम के रूप में रानी दे दी। रानी से नटिनी बन कर गयी तो सही पर नट की सिरकी देखकर उसे राजा के महल याद आये, नट की

गुदरी देखकर राजा की सेज याद आयी और नट के माँगे हुए टुकड़ों को देखकर नटिनी को राजा के थाल याद आये।

‘बदकार माता’ में राजा की लड़की का उद्दाम यौवन राजकुमार द्वारा गुंथे हारों का स्पर्श पाकर स्पंदित हो जाता है तथा यार की यारई कहानी में बादशाह की लड़की बादशाह के लड़के को देखकर बेहोश हो जाती है और जब होश आ जाता है, तब वह संकेत-विद्या के द्वारा उसे बुलाती है। ‘खाती कौ बेटा’ कहानी की ‘ब्याही’ की रीत भांति एक बाबाजी से है। ‘कंजूस साहूकार’ कहानी में साहूकार के लड़का की बहू कोतवाल से लगी है। उसका पति स्वयं इस रति का साक्षी बनता है। एक अन्य कहानी में तो वह अपने पति को तोप से उड़ा देने के लिये कोतवाल से आग्रह करती है, क्योंकि उसने वह पहचान लिया था।

परनारी और परपुरुष – नृत्य के गीतों में ताल पर धोबी, नदी पर मल्लाह, कुँआ पर धीमर, मुहल्ले में हलवाई तथा महलों में राजा के साथ रति-संबंधों की हुलहुली है। कहीं परौसी झाले दै- दै बोलता है और कहीं ‘लड़का साहूकार कौ’ रूमाल में लड्डुआ लावै। परनारी और परपुरुष के साथ संपर्क केवल रति भावना की ही तुष्टि नहीं करते, अपितु एक ऐसा आपराधिक सुख देते हैं, जो दुःसाहस से प्राप्त होता है। तभी तो जानबूझकर भी लाख मना करने पर भी धोबी पनारा पकड़कर चढ़ जाता है और अंत में चौधरी के द्वारा मार दिया जाता है।

विधुर रति – ‘विधुर रति तो गीतों का परिहास विषय है।’ ‘रंडुआ तो रोबे आधी रात सपने में देखी कामिनी’। रंडुआ ने माटी की लुगाई बनवाई वह गल गयी, काठ की बनवायी, तब जल गयी और सोने की कों चोर चुरा ले गये। गाँव में उसकी न तो कोई रोटी करता है और न उसका भात ही कोई रांधता है। रंडुआ ने दस का नोट दिखाया तो स्त्री कहती है कि अब तौ रंडुओं के वारंट कटवाऊँगी। एक गीत में तो एक-एक पलका पर सोलह – सोलह रंडुओं से रति का वर्णन है। लोकोक्ति प्रसिद्ध है – ‘रांड रंडापौ तब काटै, जब रंडुआ काटन देय।’

परिहास रति – साजन का संबंध परिहास रति का संबंध है। साजन को गाली गायी जाती हैं। अरे नंदनंदन! सुनो, तुम्हारी माँ यशोदा ने किसी काले से रति की थी। अरे लँगर! तेरी माँ तो मदन मद छाकी डोलती है, हुरकी गाती है अपने कुचों को ढंकती

भी नहीं है। नदी झुरमुट शीर्षक गीत में है कि अरे कुँवर! तेरी माँ विकट छिनार है, वह माली के बेटे से राजी रहती है। समधिन को दिल्ली और आगरे में ढूँढा, धुर गुजरात में ढूँढा परन्तु वह तो कुंजों में मुरली-मनोहर के साथ मिली।

‘दसरथ भूप रहे का हिंजरा’ जो खीर खाकर के पुत्र जने थे! इसी प्रकार दूधावती, काजल और छटी के गीतों में इसी प्रकार के संबंध गाये जाते हैं।

साली-जीजा तथा सरहज के बीच भी उपहास-परिहास होता है। एक लाड़ी-गीत में नायक कहता कि दाइजौ मानिक मोती सभी कुछ छोड़ दूँगा। सरहज को धरेजे के रूप में दे दीजिये, परन्तु उधर से उत्तर आता है-

*साइबौ ऊ दिंगे दाइजौऊ दिंगे, दिंगे मानिक मोती जी राज।
सात बरस की लड़लड़ी दिंगे, सरहज न दिंगे धरेजे जी राज।*

बींझ नामक लोकगीत में माँई और भांजे के प्यार-परिहास का प्रसंग है।

वर्जित रति – भाई-बहिन तथा बाप-बेटी की रति वर्जित है, किन्तु भ्रान्ति के कारण नवलदे पर वासुकि की दृष्टि पापपूर्ण हो जाने के कारण वह कोढ़ी हो गया था। गौसना गढ़ी से संबंधित अनुश्रुति में राजा ने दरबारी से पूछा- घोड़ी पर चढ़ते है, बछेड़ी पर चढ़े कि नहीं। दरबारियों ने स्वीकृति दे दी, परिणाम बेटी का शाप और बाप का नाश।

अजमाइन संज्ञक गीत में सोने की खुरपिया और सूपे की बेंट लेकर भैया-बहिन खेत नराने गये। खेत नराने साँझ हो गयी और दोनों सो गये-

*सोउत – सोउत है गयौ भोर
भैया सों है गयौ बहिनियाँ कों पेट
ता पर मइया जहर विष खाय
तेरौ पेट कहाँ लै जाय।*

गंगा पार की बेटी बिरजो बरसाने में ब्याही थी। किसी दूत ने राजा से बिरजो की सुंदरता के संबंध में कहा तो राजा उसे प्राप्त करने के लिये चिन्तित रहने लगा। घर के लोगों को चिन्ता का रहस्य ज्ञात हुआ तो उसे समझाया कि यह तो तुम्हारी मौसी की

लड़की है। पत्नी को मालुम हुआ तो उसने धिक्कारी कि मौसी की बेटी तो तुम्हारी बहिन है और बहिन पर बुरी निगाह रखता है, वह अंधा होता है। गंगा में खड़े होकर स्वयं बिरजो ने तीन बार समझाया, परन्तु राजा न माना। बिरजो ने शाप दिया 'मौसी के बेटा कोढ़ चुवावै रे' और डूब गयी।

रति अपने व्यापक अर्थों में प्रेम तथा सौंदर्य भाव तथा आमोदप्रियता में प्रतिफलित होती है।

प्रभुत्व कामना - रति संबंधों पर अधिकार मनुष्य का जैविक स्वभाव है। पुरुष नहीं चाहता कि उसकी स्त्री को कोई देखे भी। रति संबंधों पर अधिकार का तनिक सा संदेह भी उसके पौरुष को चुनौती बन जाता है, प्रतिहिंसा की भावना जग जाती है तथा युद्ध का कारण उपस्थित हो जाता है। चौधरी के द्वारा धोबी का ही वध नहीं होता, राजा हरदौल को जहर दिलवा देता है। सक्का द्वारा हाथ पकड़ने और मनिरा के साथ परिहास करने के कारण वह पत्नी को तलवार मार देता है। पराये पुरुष से हँसने के अपराध में पति विजय रानी से तब तक नहीं बोलता, जब तक ननद परिस्थिति का स्पष्टीकरण नहीं कर देती।

नारी के मन में अपने रति संबंध पर किसी दूसरी स्त्री के अधिकार की भावना 'सौत' के रूप में व्यक्त होती है। वह पुरुष से क्या कहे, उस सौत के प्रति उसका मन ईर्ष्या और प्रतिहिंसा से भर जाता है तथा उस भावोत्तेजना में वह जघन्य अपराध कर लेती है। अनेक गीतों में उसे परघरिया ननद से शिकायत है - घर की खाँड किरकिरी लागै, बाहर कौ गुर मीठौ। वह ननद से शिकायत करती है, घर में सास-सुसर, जेठ, देवर और ननदी सभी से निहारे करती है-

'देवर राजा एक जस जेउ जाटिनियाँ कौं
उलटौ डोला फेरियै जी महाराज।'

परन्तु सभी का उत्तर एक ही है-

'भभज डोला फेरौ न जाय भइया जी
ऐ प्यारी लागै जाटनी जी महाराज।'

कहीं-कहीं स्त्री इस अन्याय के विरुद्ध विद्रोह करती है-

हमारे बलम ने रंडी राखी हमनें राखे सिपहिया।

अथवा -

ग्वे तौ तिहारे साहिबा तकत बिरानी नार।

डाढ़ी तौ झारूँ ब्वा के बाप की गौछन धरूँगी अंगार।

रति संबंध पर अधिकार की यह भावना इतनी प्रबल है कि इसके कारण हिंसात्मक संघर्ष होते हैं। इन कारणों से समाज ने विवाह के रूप में रति संबंध का नियमन ही नहीं किया। सतीत्व, ब्रह्मचर्य तथा पतिव्रत जैसे जीवन मूल्यों का भी प्रतिपादन किया है। कामवासना की निन्दा करते हुए इतने गीत रचे गये हैं। संतों ने इन्द्रिय दमन का उपदेश किया है, परंतु लाख-लाख बंधनों के होते हुए भी लोकवार्ता में - 'अररर भमर उठत नदिया में जुबना नाँय डटत अंगिया में' के रूप में यौवन का वेग नदी के समान किनारों को तोड़कर बहता है अथवा व्यक्तित्व में तनाव, कुँठा एवं अन्तर्द्वंद्व को जन्म देता है। गालियाँ गाना तथा गीत गाना लोकवार्ता की शायद तनाव मोचन प्रक्रिया है।

कँवर जनजाति में बीजबोहनी

डॉ. उषा वैरागकर आठले

छत्तीसगढ़ की अनेक जनजातियों की जीवन की धुरी शिकार, वनोपज संग्रहण और कृषि है। इनका जीवन सरल, सहज और प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति पर ही टिका होता है। इनकी जीवन शैली एवं इन्हें प्राप्त सुविधाएँ अभी भी आदिम स्तर से बहुत आगे नहीं बढ़ पाई हैं। अतः इनके जीवन में अनेक ऐसी परिस्थितियाँ और समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं, जिनका हल वे अपनी सीमित बुद्धि और कौशल के आधार पर नहीं कर पाते। उनकी इस कमी को धर्म और जादू पूरा करते हैं। उनके जीवन में अनेक खतरे होते हैं और ऐसी अनेक दुर्घटनाएँ होती हैं, जिनका अंदाजा पहले से नहीं लगाया जा सकता। इन दुर्घटनाओं और खतरों का कारण ये लोग पारलौकिक शक्तियों को मानते हैं। वे इन पर विजय प्राप्त करने के लिए धर्म और जादुई कर्मकांडों का सहारा लेते हैं। वे इन पारलौकिक शक्तियों को प्रसन्न करने एवं उनकी कृपा प्राप्त करने के लिए अनेक अनुष्ठान करते हैं, ताकि उनके कोप से उन पर विपत्तियाँ न आ सकें।

कँवर जनजाति में ज्येष्ठ मास की अक्षय तृतीया के दिन अच्छी फसल, सुरक्षित जीवन तथा समस्त क्रियाकलापों की सफलता के लिए एक धार्मिक अनुष्ठान होता है, जिसे 'बीजबोहनी' कहा जाता है। रायगढ़ जिले की धर्मजयगढ़ तहसील के ग्राम बोकरामुड़ा में अक्ती (अक्षय तृतीया) के दिन सुबह यह अनुष्ठान आरम्भ होता है। गाँव का बैगा अपने गमछे के एक छोर में धान-बीज और दूसरे छोर में खुर्रू महुआ (सुखाकर मटके में भुना हुआ फूल) बाँधकर कांसे की थाली में चावल और सरई का लासा (सरई वृक्ष का सूखा लाख जैसा पदार्थ), एक कोरी लाल मटकी में पानी और तेंदूपत्ते की एक छोटी टहनी लेकर घर से निकलता है। उसके साथ उसका

बेटा, जो आगे उसका उत्तराधिकारी होगा तथा कुछ अन्य बच्चे भी होते हैं। गाँव से लगे जंगल में वे सर्वप्रथम 'भालूपाठ देवरास' में आते हैं। (देवरास आदिवासी पूजा स्थान है। ये कभी-कभी काफी दूर-दूर होते हैं। गाँव के चारों ओर जंगल में विभिन्न प्रकार के पुराने पेड़ों का समूह, जिन्हें उनके पूर्वज पवित्र मानते थे, उनके नीचे रखे अनगढ़ पत्थरों में विभिन्न देवी-देवताओं का वास मानकर पूजा की जाती है। इनके अलग-अलग नाम भी होते हैं। देवरास का अर्थ ही होता है- देवी-देवताओं का वास। यहाँ का कोई भी पेड़ काटा नहीं जा सकता, साथ ही इस इलाके में टंगिया चलाने की मनाही होती है।) बैगा मटकी और थाली को जमीन पर रखकर उकड़ू बैठ जाता है और पेड़ के नीचे स्थापित देवताओं पर तेंदू की टहनी से पानी छिड़ककर थोड़े चावल और खुरू महुआ अर्पित करता है। तत्पश्चात् सरई लासा को धूप की तरह जलाता है। दोनों हाथ जोड़कर सिर झुकता है।



इस सरल पूजा के बाद अनुष्ठान आरम्भ करते हुए धान और खुरू महुआ बंधा गमछा अपने बेटे के कंधे पर रखता है। देवरास के सामने की जमीन पर एक गोला खींचता है। बैगा का बेटा गमछे से धान बीज निकालकर बच्चों एवं उपस्थित एक-दो व्यक्तियों को देता है। एक व्यक्ति खींचे हुए गोले में खेत में धान छींटने जैसा ही धान छींटता है। बच्चे उसका अनुकरण करते हैं। तीन बच्चे सरई या तेंदू की लकड़ी के छोटे से हल से खेत तैयार करने जैसी नकल करते हुए गोल-गोल घूमते हैं। एक बच्चा किसान और हल के सामने दो बच्चे बैल बनने का अभिनय करते हैं। बैगा मटके के पानी को तेंदू की पत्तेदार टहनी से बीजों पर छिड़कता है। इस पूरी प्रक्रिया में न तो कोई गीत गाया जाता है और न ही कोई मंत्रोच्चार जैसी ध्वनि निकाली जाती है। सबकुछ सरल-सरल तरीके से एक

नाटक या खेल जैसा सम्पन्न किया जाता है। परन्तु इस अनुष्ठान में सभी उपस्थित व्यक्ति बड़ी गम्भीरता के साथ सम्मिलित होते हैं। बैगा के आदेशों का पूरी आस्था के साथ अनुकरण करते हैं। खेत की जुताई-बुवाई का अनुकरण करने के बाद वह छोटा सा हल उसी पेड़ पर टांग दिया जाता है। बच्चे बचा हुआ धान अपने गमछे के एक छोर में बाँध लेते हैं और अपने-अपने घर जाकर कोठी में उस मुट्ठीभर धान को डाल देते हैं। अन्य घरों में बैगा थोड़ा सा धान और खुरू महुआ प्रसाद जैसा वितरित करता है। वे लोग भी धान को अपने-अपने घरों की कोठी में डाल देते हैं। कँवर जनजाति में इस बीजबोहनी अनुष्ठान के बिना न कोई खेती का काम शुरू कर सकता है, न महुआ भूनकर खा सकता है और

न ही नये मटके का पानी पी सकता है। लोक साहित्य के अध्येता श्री वसंत निरगुणे का यह कथन उचित जान पड़ता है कि 'जनजातीय समूहों के जीने के अपने नियम होते हैं, उनके धार्मिक विश्वास, अनुष्ठान और आज्ञाओं का पालन वे प्रायः अक्षरशः करते हैं।'

‘ भालू पाठ

देवरास' में अनुष्ठान के बाद बैगा एवं अन्य लोग दूसरे देवरास की ओर प्रस्थान करते हैं। 'डेहारिन देवरास' में डककुरू के पेड़ के नीचे स्थापित देवताओं की भी पहले की तरह बैगा पूजा करता है। पूजा के पश्चात् बच्चों को पेड़ के नीचे एक तरफ अर्द्धचन्द्राकार खड़ा किया जाता है। उनके हाथों में छोटी-छोटी सूखी टहनियाँ हथियारों के प्रतीक रूप में होती हैं। बैगा उकड़ू बैठकर अपने हाथों से मिट्टी उठाकर उनके सामने फेंकता जाता है, मानो जानवरों के दौड़ने से धूल उड़ रही हो। बच्चे जमीन पर जोर-जोर से टहनियाँ पटकने लगते हैं, मानों किसी घेरे हुए पशु को मार रहे हों। (कँवर जनजाति के लोग खरगोश, हिरण, चीतल, साम्हर, बरहा, सुअर आदि का शिकार करते हैं। हालाँकि अब जंगल

कटते जा रहे हैं और उनमें जानवर भी विलुप्तप्राय हो रहे हैं।) थोड़ी देर बाद बच्चे टहनी से मारना बंद कर देते हैं और अपनी-अपनी टहनियाँ पेड़ के नीचे रख देते हैं। बैगा पेड़ के नीचे लासा जलाता है, उसके चारों ओर तेंदू टहनी से पानी छिड़कता है। हाथ जोड़कर सिर झुकाता है। बच्चों को एक पंक्ति में खड़ा कर किये हुए शिकार के भाग के प्रतीक रूप में खुरू महुआ देता है, बच्चे बारी-बारी से अपने-अपने गमछे फैलाकर उसे ग्रहण कर गमछे के दूसरे छोर में बाँध लेते हैं। बैगा अन्य लोगों को भी खुरू महुआ देता है। खड़े होकर मटकी को हाथ में लेकर प्रस्थान मुद्रा में तेंदू टहनी से पानी छिड़कता है। उसका बेटा थाली उठा लेता है। बैगा

अपने कंधे पर मटकी रखकर अगले देवरास की ओर चलने लगता है। यह अनुष्ठान शिकार करने में आसानी एवं सुरक्षा की कामना के लिए होता है। भालूपाठ में सेमरिया देवता की पूजा करके भालू से रक्षा की प्रार्थना की जाती है कि जब लोग जंगल में लकड़ी इकट्ठा करने या अन्य कामों के लिए जाएँ, तो भालू



किसी को नुकसान न पहुँचाए। बोकरामुड़ा गाँव के लोगों का विश्वास है कि नियमित रूप से भालूपाठ में पूजा करने के कारण ही उनके गाँव के किसी भी व्यक्ति को अब तक भालू ने कोई नुकसान नहीं पहुँचाया है। डेहरिन देवरास में स्थापित गरसिया ठाकुर से शेर से रक्षा के लिए प्रार्थना की जाती है। उनका यह विश्वास है कि गाँव में शेर की दहाड़ सुनने के बाद भी गरसिया देवता के कारण शेर उनका कुछ नहीं बिगाड़ता।

इन दो देवरासों में पूजा-अनुष्ठान के बाद बैगा अन्य देवरासों में भी जाता है और वहाँ के पेड़ों के नीचे स्थित पत्थर रूपी देवताओं को उसी तरह चावल और खुरू महुआ अर्पित करता है और पानी छिड़कता है। दोनों हाथ जोड़कर सिर नवाता है। अंत में

गाँव के बाहर स्थापित खूँट देवता की पूजा करता है। ये लकड़ी के छोटे-छोटे खूँटे होते हैं, इनमें कलात्मक कटाइयाँ होती हैं। ये भी संख्या में एकाधिक होते हैं। ये पूर्वजों द्वारा स्थापित होते हैं। पुरखों ने गाँव की सुरक्षा के लिए, बाहरी आक्रमण से बचने के लिए, पूर्वजों के आशीर्वाद के संकेत रूप में, देवी-देवताओं के नाम पर इन खूँटों की स्थापना की है। इनकी भी चावल और खुरू महुआ चढ़ाकर पूजा की जाती है।

ग्राम बोकरामुड़ा में विभिन्न देवरासों में देवताओं के नाम हैं- सेमरिया देवता, गरसिया ठाकुर, पुजेरी या पुरइन बाई, मटिया देवता, ठाकुर देवता, धनमौली, मसवासी देवता, दादी दानव (12

भाई) आदि। बैगा अपने पिता से विरासत में मिली बैगई को पूरी आस्था और क्षमता के साथ सम्हालते हैं। सभी कर्मकांड और अनुष्ठान वे उसी तरह सम्पन्न करते हैं। बीजबोहनी के दिन वे सर्वप्रथम भालूपाठ देवरास, डेहारिन देवरास, मातालीम देवरास तत्पश्चात् बड़े देवरास होते हुए अंत में खामखूटा

की पूजा करते हैं। खामखूटे में खमेसरी खामखूटा, भंडारगढ़ी, कोठारदेहिन, डोकरीदाई और महादेव खूँटा प्रमुख हैं। बस्ती में एक महादेव खूँटा होता है, जिनकी आम दिनों में पानफूल देकर पूजा की जाती है। विशेष पर्व-तिथियों पर ही देवरास में पूजा होती है।

बैगा सफेद धोती-कुर्ता एवं गमछा धारण करता है। अन्य गमछे में एक ओर धान और दूसरे छोर में खुरू महुआ बाँधकर लाता है। उसके एक हाथ में कोरी लाल मटकी और उसके नीचे रखा जाने वाला टेका और दूसरे हाथ में काँसे की थाली में चावल, सरई लासा और खुरू महुआ रखने के लिए दोना होता है। तेंदूपत्ते की छोटी सी टहनी पानी में डूबी हुई होती है। इस

तरह बैगा और उसके द्वारा सम्पन्न अनुष्ठान भी एकदम सादगीपूर्ण होते हैं।

कँवर जनजाति के इन अनुष्ठानों को देखकर रेमंड विलियम्स की लिखी बात याद आती है- 'आदिवासियों का जीवन ऐसी अनिश्चितताओं और संभावनाओं से भरा होता है, जो अनिवार्य नहीं होती, परन्तु फसल जैसे अजैविक आर्थिक लक्ष्य से जुड़ी होती है। अतः इनका सामना करने के लिए किसी सहज-सामाजिक युक्ति का सहारा लेना पड़ता है। इस सामाजिक युक्ति का महत्त्वपूर्ण अंग सामूहिक उत्सव होता है।' सामूहिक उत्सवों में नृत्य, गायन, वादन, अनुष्ठान, कर्मकाण्ड सम्मिलित होते हैं। आदिवासी व्यक्ति इन सामूहिक उत्सवों में प्रशिक्षित होता है। इनमें भाग लेने के कारण वह वास्तविक कठोर यथार्थ से दूर होने लगता है। यह दूरी समूचे समाज को संचालित करने लगती है। इन्हीं क्षणों में ऐसे आवेग उत्पन्न होते हैं और उस सीमा तक बढ़ते हैं, जहाँ 'काम' किये जाने की स्थिति बनती है। आदिवासी व्यक्ति इन सामूहिक क्रियाकलापों में भाग लेने के कारण बदलने लगता है। इन आदिवासी उत्सवों में सामूहिक आवेग के कारण काम करना प्रीतिकर हो जाता है और श्रम करने

के लिए व्यक्ति तैयार हो जाता है। बीजबोहनी जैसे अनुष्ठान खेती की प्रक्रिया शुरू होने के पहले ही व्यक्तियों को श्रम करने तथा कार्य की सफलता हेतु आकस्मिक संकटों से रक्षा करने हेतु अलौकिक शक्तियों का आशीर्वाद प्राप्त कर निश्चित कर देते हैं। साथ ही एक जाति- समूह को आपस में जोड़कर भी रखते हैं। वस्तुओं के अनियंत्रित भोग पर संयम का अंकुश लगाते हैं।

कँवर समाज के इन अनुष्ठानों में समूचे समाज की भौतिक उपस्थिति आवश्यक नहीं होती। सभी लोग अपनी आजीविका सम्बंधी कामकाज निपटाते रहते हैं और सबका प्रतिनिधित्व बैगा ही करता है। व्यक्तिगत पूजा का महत्त्व नहीं है। देवता हैं पर मूर्तिपूजा नहीं है। जनजातियों में देवताओं के शिल्प का विकास बहुत ही कम हुआ है। ये किसी भी पत्थर के रूप में पूज्य होते हैं अनगढ़ पत्थरों के बाद खूँटे के रूप में देवताओं की पूजा होती है। ये लकड़ी के खूँटे अनेक देवी-देवताओं के प्रतीक रूप हैं। इस अमूर्तता के कारण इनमें धार्मिक या साम्प्रदायिक संघर्ष की स्थिति निर्मित नहीं होती। इनके अनुष्ठानों में प्रायः धन का अपव्यय नहीं होता। बैगा धार्मिक मुखिया होने के बावजूद आजीविका के लिए बैगई नहीं करता।

संदर्भ

1. विजय शंकर उपाध्यय एवं विजय प्रकाश शर्मा, भारत की जनजातीय संस्कृति
2. वसंत निरगुणे, आदिवर्त - छत्तीसगढ़ की जनजातियाँ
3. क्रिस्टोफर कॉडवेल, इल्युजन एंड रियलिटी
4. डॉ. शिवकुमार तिवारी, म.प्र. की जनजातीय संस्कृति

भरथरी आख्यान में संगीत

डॉ. (श्रीमती) आशा खरे

मध्यप्रदेश का मालवा अंचल अपनी लोक संस्कृति तथा लोक संगीत के लिये सुविख्यात है। मालवी जनमानस, धर्म के प्रति अधिक सजग तथा आस्थावान है, जो यहाँ की लोक गाथाओं में दृष्टव्य है। मालवा में प्रचलित लोक गाथाओं में सर्वाधिक लोकप्रिय 'भरथरी' है। भरथरी लोकगाथा की उत्सभूमि महाकवि कालिदास की उज्जयिनी नगरी है। भरथरी स्वयं उज्जैन नगरी से जुड़े कथा नायक हैं। वर्तमान में मालवा में 'भरथरी' गायन दो रूपों में प्रचलित है। पंवाड़ा अर्थात् लोक गाथा तथा लोक भजन शैली के अंतर्गत कथात्मक गीत के रूप में।

तत्कालीन मध्यप्रदेश आदिवासी लोक कला परिषद्, भोपाल द्वारा 1988 में आयोजित 'भरथरी' गायन समारोह में लेखिका को भरथरी गायक श्री प्रभुदयाल भोपा का चिकारा वादन के साथ भरथरी गायन सुनने तथा ध्वन्यांकित करने का सुअवसर प्राप्त हुआ था। उस समय श्री प्रभुदयाल भोपा का भरथरी गायन व्यवसायिकता की गंध से अछूता था। मालवा की पावन माटी की भीनी-भीनी सुगंध, नैसर्गिकता तथा मौलिकता इसमें विद्यमान थी। मालवी ग्रामीण अंचलों के घर-आँगन तथा खेत-खलिहानों तक ही सीमित रहने वाले इस भरथरी गायन का नगरीय मंच से प्रथम साक्षात्कार इसी भरथरी समारोह में हुआ था।

श्री प्रभुदयाल ने सारंगी तथा रावण हत्था से मिलता-जुलता लोक तंत्री वाद्य चिकारा की संगति पर 'भरथरी' गायन प्रस्तुत किया। चिकारा वादन गायक स्वयं करता था। इस लोकवाद्य के हत्था में रावणहत्था की तरह घुँघरू गुंथे थे। अतः चिकारा के स्वर तथा घुँघरूओं की खनकती हुई ध्वनि का समिश्रण अत्यंत कर्णप्रिय, चित्ताकर्षक तथा प्रभावोत्पादक लगता था। श्री प्रभुदयाल भोपा के भरथरी गायन में किसी भी तालवाद्य का प्रयोग नहीं होने पर भी बराबर सात मात्रा का वजन मिलता था, जिसे दर्शाने में चिकारा वादन विधि सक्षम थी।

मंच पर उपस्थित होकर गायक ने सर्वप्रथम उपस्थित दर्शकों/ श्रोताओं का अभिवादन किया तथा मंच पर आसीन होकर चिकारा को स्वर में मिलाया फिर भरथरी गायन की धुन के स्वरों का वादन आरंभ किया। प्रायः लोकगाथा के आरंभ में सुमरनी अथवा बंदौनी का गायन, गायक द्वारा किया जाता है, किन्तु इस भरथरी गायन में गायक ने सीधे लोकगाथा का गायन आरंभ किया था। सर्वप्रथम चिकारे पर भरथरी की धुन बजाना, कुछ पंक्तियाँ गाने के पश्चात् पुनः चिकारा वादन, इसी क्रम से संपूर्ण कथा गायन प्रस्तुत किया गया। स्वतंत्र चिकारा वादन समाप्त करने के पश्चात् तथा गायन आरंभ होने के पूर्व गायक चिकारे पर उन्हीं स्वरों का वादन करता था, जिन स्वरों से उसे गायन आरंभ करना होता था। गायन के मध्य चिकारा का वादन मंद-ध्वनि में होता था। गायन के साथ कोई टीका अथवा व्याख्या, गायक द्वारा प्रस्तुत नहीं की गई। श्री प्रभुदयाल भोपा के कंठ में सुरीलापन, स्वरों में परिपक्वता थी। आवाज मंजी हुई तथा गायन में कुशलता और सजगता थी। सम्पूर्ण भरथरी गायन मध्यलय में निबद्ध था।

भरथरी

राजा चंद्रमा बिना वो कैसे चांदणी रे।
 ज्ञानी भरथरी जी ओ राजा.....
 तारा बिना केली वो रैन।
 ज्ञानी भरथरी जी ओ राजा.....
 राजा कदनी चढ़ सुरा की सिकार नी रे।
 ज्ञानी भरथरी जी ओ राजा.....
 सजनी आया म्हाँर म्हेँल।
 ज्ञानी भरथरी जी ओ राजा.....
 राजा घोड़ा री कसिया जी मुख पर हँसला रे।
 ज्ञानी भरथरी जी ओ राजा.....
 चला जाये डूंगर के माय।
 ज्ञानी भरथरी जी ओ राजा.....
 चाला सिरन की सिकार।
 ज्ञानी भरथरी जी ओ राजा.....
 राजा एकरी बन वो दुसरा उतरया रे।
 ज्ञानी भरथरी जी ओ राजा.....
 काँई सुरे से मारग, मारग एकी है जी।

राजा मारगली मारो री, दो वनचार नी रे।
 ज्ञानी भरथरी जी ओ राजा.....
 काँई सुरे से मारग, मारग एकी है जी।
 मारग ली में तोरी चढ़या सुरा की सिकार नी रे।
 ज्ञानी भरथरी जी ओ राजा.....
 मारग ही में लांग्या मार।
 ज्ञानी भरथरी जी ओ राजा.....
 राजा उठाई री बंदूक मारग मार रियो रे।
 ज्ञानी भरथरी जी ओ राजा.....
 लागी सीना माय मारग मरी जावे जी।
 मारगली करे रे विलाप।
 ज्ञानी भरथरी जी ओ राजा.....
 राजा मारगली झुरेगा, वन के माय नी रे।
 ज्ञानी भरथरी रे जी ओ राजा.....
 पिंगळा झुरेगा उज्जणी, माय थारी वो।
 ज्ञानी भरथरी जी ओ राजा.....
 राणी झुरे म्हेँला माय।
 ज्ञानी भरथरी जी ओ राजा.....
 अन राजा यू उठाई मारग ने घोड़ा नाकिया रे।
 ज्ञानी भरथरी रे जी ओ राजा.....
 लीनी उज्जेनी की वाट।
 ज्ञानी भरथरी रे जी ओ राजा.....
 राजा ये गिरिवन वो दुसरा उतरया रे।
 ज्ञानी भरथरी रे जी ओ राजा.....
 सामी मिला गुरु गोरख नाथ, पाँव लागी रिया जी।
 ज्ञानी भरथरी जी ओ राजा.....
 तें तो दूरी रे हटी पापी या हतियारा रे।
 ज्ञानी भरथरी जी ओ राजा.....
 काँई सुरे से मारगली, मारग एकी था जी।
 राजा उठाई मारग ने नीचई नाकिया रे।
 गुरु के पाँव लागी जाव।
 ज्ञानी भरथरी जी ओ राजा.....
 गुरु रे गोरख ने अमरत की छांटी वना कय रे।
 ज्ञानी भरथरी जी ओ राजा.....
 मारग जिन्ना होई जावे।

ज्ञानी भरथरी जी ओ राजा.....
 चला जावे ढूंगर के माय, मारग चला जावे री।
 गुरु जी मैं तोरी चालूनी थारी वो लारनी रे।
 ज्ञानी भरथरी जी ओ राजा.....
 चेला वणेंगा तमारा।
 ज्ञानी भरथरी जी ओ राजा.....
 राजा थारी पिंगला की भिकछा मांगी लाव रे।
 ज्ञानी भरथरी जी ओ राजा.....
 माँ के करि भिकछा लाज दी जे, लावणूंगा जी।
 राजा घोड़ा री कसियारी मुख पर हँसला रे।
 ज्ञानी भरथरी जी ओ राजा.....
 करिया भगवा सो वेस।
 ज्ञानी भरथरी जी ओ राजा.....
 ली जी उज्जेनी की वो वाट।
 ज्ञानी भरथरी जी ओ राजा.....
 चले जांय म्हैला के माय।
 ज्ञानी भरथरी जी ओ राजा.....
 तें तोरे भिकछारी दे वो री राणी पिंगला जी।
 मैया पिंगला जी वो राणी
 ज्ञानी भरथरी जी ओ राजा.....
 जोगी जम्मा से दूर छेटी पड़ रिया जी।
 अब राजा कणी ने दिया रे उलटा ज्ञान नी रे।
 ज्ञानी भरथरी जी ओ राजा.....
 कोन ने दीजी खोटी सीख, जोगी वणिरिया जी।
 राणी गुरु ने दिया ओ सीधा ज्ञान नी रे।
 मैया पिंगला जी ओ राणी.....
 सीख मैया तिन ने दियो ओ राणी पिंगला जी।
 राजा मैया करि केणा तम छोड़ी दी जो रे।
 ज्ञानी भरथरी जी ओ राजा.....
 लांग्या घर की वो नार।
 ज्ञानी भरथरी जी ओ राजा.....
 अब राजा काँई रे टोटा जी धन तेरे मालिकां।
 ज्ञानी भरथरी जी ओ राजा.....
 काँई फूटे गया भण्डार जोगी वणरिया जी।
 राजा जलम का जोगी रे परणा जानि लेती रे।
 ज्ञानी भरथरी जी ओ राजा.....

लेती इसवर का नाम दन मेरा चैन करती जी।
 राजा दागारी लागा री नुगरा लील का रे।
 ज्ञानी भरथरी जी ओ राजा.....
 धोया रे हीट्या नी जावे।
 ज्ञानी भरथरी जी ओ राजा.....
 राजा कणी के बैटूंगा छत्तर छाया नी रे
 ज्ञानी भरथरी जी ओ राजा.....
 कणी पे करूंगा दन में चैन।
 ज्ञानी भरथरी जी ओ राजा.....
 तें तो भिकछा दे तो वो राणी पिंगला ए।
 मैया पिंगला जी ओ राणी
 ज्ञानी भरथरी जी ओ राजा.....
 जोगी जम्मा से ओ दूर छेटी पड़ रिया जी।
 ज्ञानी भरथरी जी ओ राजा.....
 लांग्या घर की वो नार, ज्ञानी भरथरी रे जी।
 अब राजा धूनी तो धोंकई दूँ आपन म्हैल में रे।
 ज्ञानी भरथरी जी ओ राजा.....
 आसन उज्जयनी नगरी का राज यहीं करणा रे।।
 ज्ञानी भरथरी जी ओ राजा.....
 सिपरा माई का असनान ययीं जो करणा जी।
 तें तो भिकछा दे ओ रे मैया पिंगलाजी, राणी पिंगला जी।
 जोगी जम्मा से दूर छेटी पड़ी रिया जी।
 ज्ञानी भरथरी जी ओ राजा.....
 राजा लांरां री लई चालो, परणी नार ने रे।
 ज्ञानी भरथरी जी ओ राजा.....
 हिल-मिल चालां दोनों साथ, जोग पूरो करां जी।
 पिंगला लारां तो लई चालू, गुरुजी काँई केगा ये।
 जनता काँई केगा जी ओ राणी.....
 कोई तो केगा घर की नार, कोई ओ बेन केगा जी।
 पिंगला अपने लगोगा उलटा दोस नी ऐ।
 राणी पिंगला जी ओ मैया.....
 तें तो रीजो म्हेंला माय राणी पिंगला जी।
 पिंगला झररि झररि राणी केई रोवे ये।
 पिंगला क्योई रोवो जी ओ राणी.....
 खोई-खोई नैणां पायब नीर।

राणी पिंगला जी ओ मैया.....
 पिंगला लिखियो ला लेख राणीं ना मटेगा ये।
 राणी पिंगला जी ओ मैया.....
 ती तो रीजो उज्जनी माय, राणी वो पिंगला जी।
 राजा लारां तो ले चालो परणी नार, राजा भरथरी जी।
 ओ तें तो भिकछा देवो री मैया पिंगला जी,
 ये राणी पिंगला जी।
 जोगी जम्मा से ओ दूर छेटी पड़ रिया जी।
 राजा मैया का केना तम छोड़ी दीजो जी।
 ओ राजा भरथरी जी ओ राजाऽऽऽऽ
 लाग्यां घर की ओ नार, राजा भरथरी जी।
 अब राजा कन ने दिया उलटा ज्ञान,
 ज्ञानी भरथरी जी।
 कोन द जे खोटी सीख, राजा भरथरी जी।
 रानी गुरु ने दिया ओ राणी,
 गोरख ने दिया सीधा ज्ञान।
 रानी पिंगला जी ओ राजा.....
 राजा मइया कर के न तम छोड़ी दीजो रे।
 ज्ञानी भरथरी जी ओ राजाऽऽऽ

- श्री प्रभुदयाल भोपा ने भरथरी का उपरांकित अंश गया था

	स्वरलिपि	सात मात्रा का वजन	
चिकारा वादन			
सा ऽ ऽ	ग रे ऽ ऽ	रे ग ग	रे सा ऽ सा
×	2 3	×	2 3
रे ग रे	ऽ ऽ सा ऽ	ऽ ऽ म	ग रे ऽ ऽ
×	2 3	×	2 3
प ऽ ऽ	ध प म ग	रे सा ऽ	प ऽ ऽ ऽ
×	2 3	×	2 3
सा प ऽ			
×			
गायन -			
	सा प प-	प प-	प - प -
	रा ऽ जा ऽ	च न्द्र ऽ	मा ऽ बि ऽ
	2 3	×	2 3
प ध ध	ध - ध -	ध - प	प म ग

ना ऽ बो	के ऽ सी ऽ	चा ऽ ऽ	द ऽ णी
×	2 3	×	2 3
रे - -	रे ग ग रे	ग रे -	रे सा सा -
रे ऽ ऽ	ज्ञा ऽ नी ऽ	भ र ऽ	ध ऽ सी ऽ
×	2 3	×	2 3
घ सा सा	सा रे रे सा		
जी ऽ बो	रा ऽ जा ऽ		
×	2 3		
चिकारा वादन			
ग रे ऽ	रे सा सा ऽ	ध सा ऽ सा	रे ग ग रे
×	2	×	2 3
ग रे ऽ	रे सा सा ऽ	सा ऽ ऽ	सा प ऽ ऽ
×	2 3	×	2 3
ध प -	म ग ऽ	रे सा ऽ	
×	2 3	×	
गायन	सा - सा -	सा रे -	प ग ग ग
	ता ऽ रा ऽ	बि ना ऽ	के ऽ सी बो
	2 3	×	2 3
ग रे रे	रे ग ग -	ग रे -	रे सा सा -
रै ऽ न	ज्ञा ऽ नी ऽ	भ र ऽ	ध री रे ऽ
×	2 3	×	2 3
घ			
सा - -			
जी ऽ ऽ			
×			
चिकारा वादन			
	ग रे ऽ ऽ	रे सा ऽ	रे ग ग रे
	2	×	2 3
ग रे रे सा	ऽ सा ऽ ऽ	रे ग ग -	रे सा म ऽ
×	2 3	×	2 3
म ऽ ऽ			
गायन			
	सा - सा -	सा रे -	प ग ग ग
	ता ऽ रा ऽ	बि ना ऽ	के ऽ सी बो

ग रे रे	2 3	×	2 3	ऽ ऽ ऽ			
रै ऽ न	रे ग ग -	ग रे -	रे सा सा -	×	सा सा सा -	सा रे -	प ग ग -
×	ज्ञा ऽ नी ऽ	भ र ऽ	ध री रे ऽ	सा सा सा -	आ या ऽ	न्हां ऽ रा ऽ	ग - रे
ध	2 3	×	2 3	स ज नी ऽ	×	2 3	न्हें ऽ ल
सा - -				2 3	ग रे -	रे सा सा -	सा - सा
जी ऽ ऽ				रे ग ग रे	भ र ऽ	थ ऽ री ऽ	जी ऽ वो
×				2 3	×	2 3	×
<i>चिकारा वादन</i>				रे ग ग रे			
	ग रे ऽ ऽ	रे सा ऽ	रे ग ग रे	रा ऽ जा ऽ			
	2 3	×	2 3	2 3			
ग रे रे सा	ऽ सा ऽ ऽ	रे ग ग -	रे सा म ऽ				
×	2 3	×	2 3				
म ऽ ऽ							
<i>गायन</i>							
	सा म म -	म म -	म - म म				
	रा ऽ जा ऽ	क द ऽ	नी ऽ च ड़				
	2 3	×	2 3				
म म -	म - म -	रे ग -	ग - ग -				
सु रा ऽ	की ऽ सि ऽ	का ऽ ऽ	र ऽ नी ऽ				
×	2 3	×	2 3				
ग रे -	रे ग ग रे	ग रे -	रे सा सा -				
रे ऽ ऽ	ज्ञा ऽ नी ऽ	भ र ऽ	थ ऽ री ऽ				
×	2 3	×	2 3				
ध सा सा	सा रे रे सा						
जी ऽ वो	रा ऽ जा ऽ						
×	2 3						
<i>चिकारा वादन</i>							
ग रे ऽ	रे सा सा ऽ	ध सा सा	सा रे रे सा				
×	2 3	×	2 3				
ग रे ऽ	रे सा सा ऽ	सा ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ				
×	2 3	×					
सा - -							

(सम्पूर्ण भरथरी गाथा उपरोक्तानुसार गायी जाती है।)

समारोह में उज्जैन के श्री आनन्दनाथ जोगी द्वारा भजन शैली में भरथरी गायन प्रस्तुत किया गया था। मालवा के नाथ सम्प्रदाय के जोगियों में भरथरी कथा गायन की प्राचीन परम्परा आज भी जीवित है। यहाँ के जोगी-गायक अपने भरथरी गायन में उनके विवाह से लेकर जोग धारण करने तक की कथा सम्मिलित करते हैं। इसी परम्परा का निर्वाह करते हुये श्री आनन्दनाथ जोगी ने संतवाणी से प्रभावित भरथरी कथात्मक गीत का भजन शैली में गायन प्रस्तुत किया, जो अत्यंत मार्मिक व हृदयस्पर्शी था, जिसे सुनकर श्रोतागण आत्मविभोर हो उठे थे। आपके गायन में प्रमुख वाद्य तंबूरा तथा ढोलक थे। इसके अतिरिक्त मंजीरा, घुँघरू तथा हारमोनियम भी गायन में प्रयुक्त था। तंबूरा वादन स्वयं श्री आनन्द नाथ जोगी कर रहे थे तथा अन्य वाद्य नाथ सम्प्रदाय के अनुयायी वादकगण द्वारा वादित थे। वादकगण वादन के साथ-साथ आवश्यकतानुसार गायन को दुहराते थे, अर्थात् रागी जैसी भूमिका का निर्वाह भी करते थे।

सर्वप्रथम आनन्दनाथ जोगी ने निर्मांकित पंक्तियों में वंदना गाई, जिसमें एक-दो स्वर ही प्रयुक्त थे। अतः उसकी स्वरलिपि नहीं दी जा रही है।

सतगुरु देव भगवान महाकाल
गजानन्द गणपति महाराज,
अन्नपूर्णा मैया देव।

श्री आनन्दनाथ जोगी द्वारा गाये भरथरी के इस अंश में वर्णित कथांश इस प्रकार है- राजा भरथरी के मन वैराग्य भाव जागता है और वे गुरु गोरखनाथ की शरण में जाते हैं। गुरु गोरखनाथ की आज्ञानुसार भरथरी जोगी वेश धारणकर, अपने ही महल के आंगन में अपनी रानी पिंगला को माता कहकर भिक्षा देने की याचना करते हैं। पिंगला रूदन करने लगती है, तब भरथरी संसार की निस्सारता का उपदेश रानी पिंगला को देते हैं, जो निम्नलिखित है-

किया रोणां मेरी माई, बटाओ राणी,
 किया रोणां मेरी माई।
 ओटो पई तो फूटी हांडी, वो ही संग चलाई,
 वो ही संग चलाई।
 भाई बंधु सब कुटुम्ब कबीला
 जां का तां रह जाई, बटाओ राणी,
 किया रोणां मेरी माई।
 पांव पकड़ कर तिरिया रोवे
 टूट गयी है सगाई बटाओ राणी,
 किया रोणां मेरी माई।
 पाँच हात रो कपड़ो मंगायो
 कारा रा धोय ढंकाई, काया रा धोय ढंकाई।
 सात पाँच मिल चौकी निकाल्या,
 बन में डेरा लगाई, बटाओ राणी,
 किया रोणां मेरी माई।
 घांस फूस की चंवरी रचाई,
 भीतर काया ते धराई, भीतर काया ते धराई।
 ले पुलोसिन गावन लागा,
 भाग प्राणी अग्रि आई, बटाओ राणी,
 किया रोणां मेरी माई।
 कहे गोरखनाथ सुनो भाई साधो,
 भजना री राह बताई, भजना री राह बताई।
 पुत्र होई नी तलो सिलगायो,
 जां का तां पहुँचाई, बटाओ राणी,
 किया रोणां मेरी माई।
 बोलो गोरखनाथ भगवान की जय।

× प प प प	प - प प	प ध् म म	म म म ग्
* विया रो ऽ	णां ऽ मे री	मा ई ऽ ब	टा ओ रा णीं
×	0	×	0
गु गु - प म	गु - रे रे	सा सा - सा	रे गु गु गु
किया ऽ रो ऽ	णां ऽ मे री	मा ई ऽ ब	टा ओ रा णी
×	0	×	0
- सा - सा	सा गु गु -	- गु म म	म - म -
ऽ ओ ऽ टो	प ई तो ऽ	ऽ फू ऽ टी	हां ऽ डी ऽ
×	0	×	0
- गु - गु	गु - गु गु	रे रे - -	- - - -
ऽ वो ऽ ही	सं ऽ ग च	ना ई ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ
×	0	×	0
- म - म	ग - रे रे	सा सा - -	- - - -
ऽ वो ऽ वी	स ऽ ग च	ला ई ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ
×	0	×	0
सां - सां सां	- सां सां सां	प ध् नि ध्	प - प -
भा ऽ ई व	ऽ घु स न	कु टु म क	बी ऽ ला ऽ
×	0	×	0
- प - प	प - प प	प ध् म म	म म म ग्
ऽ जां ऽ का	तां ऽ र ली	जा ई ऽ ब	टा ओ रा णीं
×	0	×	0
गु गु गु प म	ग - रे सा	सा सा - -	- - - -
ऽ किया रो ऽ	णां ऽ मे री	मा ई ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ
×	0	×	0

श्री आनन्द नाथ जोगी ने उपरोक्तानुसार ही शेष कथात्मक गीत 'भरथरी' का गायन किया।

सांगीतिक अध्ययन - श्री प्रभुदयाल भोपा का भरथरी गायन षड्ज, ऋषभ, गंधार, मध्यम, पंचम तथा धैवत् इन छै स्वरों में आबद्ध है। सभी स्वर शुद्ध रूप में हैं। रे ग रे सा, म ग रे सा, प ध प म ग रे सा इन स्वर समूहों में बिलावल राग तथा प ग रे ग रे सा धा सारे सा इन स्वरों में भूपाली राग का झलक मिलती है। प ध प म ग रे सा, ध सा रे सा, ग रे सा ध इन स्वरावलियों में पहाड़ी राग स्पष्ट दिखाई देता है। रे प, सा रे प, व सा रे प ग इन स्वरों में कामोद राग की झलक दृष्टव्य है। रे प यह स्वर विन्यास का मोद तथा तिलक कामोद के राग वाचक स्वरों में महत्वपूर्ण है। गायक

मीड़ का प्रयोग इस प्रकार करता है—साप, रेप, साम।

इस भरथरी गायन में किसी भी ताल या लय वाद्य का प्रयोग नहीं हुआ है, किन्तु सात मात्रा का वजन बराबर गायन में मिलता है, जिसे दर्शाने के लिये सात मात्रा वाले रूपक ताल को स्वरलिपि में प्रयुक्त किया गया है। श्री प्रभुदयाल भोपा के चिकारा वादन की यह विशेषता है कि स्वर निष्पन्न करने के साथ-साथ सात मात्रा का वजन, गायन में दर्शाने में भी सक्षम है। प्रत्येक सात मात्रा के पश्चात् वे हत्था का ऐसे लयात्मक आघात का उपयोग चिकारा वादन में करते हैं, जिससे धुन पर भी आंच नहीं आती तथा नियमित रूप में सात मात्रा का वजन गायन तथा वादन में मिलता है।

श्री आनन्द नाथ जोगी द्वारा प्रस्तुत भरथरी गायन षड्ज रिषभ, गंधार, मध्यम, पंचम तथा धैवत, इन सात स्वरों में निबद्ध है। ऋषभ, गंधार तथा धैवत कोमल रूप में प्रयुक्त हैं। सा ग म ग

रे सा, प म ग रे सा इन स्वरों में भैरवी तथा सा रे ग प, ध म ग, रे ग रे सा इन स्वरावलियों में राग बिलासरवानी तोड़ी स्पष्ट रूप में दृष्टव्य है।

ढोलक एक ऐसा लोक वाद्य है, जिसका प्रयोग लोक संगीत में सर्वाधिक होता है। ढोलक वादन शैली तथा उसकी बनावट में अंतर पाया जाता है। मालवा में प्रचलित ढोलक वादन शैली का इस भरथरी गायन उपयोग में हुआ है। कहरवा ताल तथा मध्यलय में श्री आनन्दनाथ जोगी ने 'भरथरी' का गायन प्रस्तुत किया। मंजीरे की धीमी-धीमी लयात्मक ध्वनि ने भरथरी गायन को और भी रसपूर्ण बना दिया है।

उपरोक्त सांगीतिक अध्ययन यह साक्ष्य प्रस्तुत करता है कि लोक धुनों में कोई न कोई राग, कहीं स्पष्ट रूप में तो कहीं झलक के रूप में अवश्य निहित होता है, जिसे सप्रयास ढूँढना पड़ता है।



इस अंक के लेखक

- डॉ. महेन्द्र भानावत, 352 श्रीकृष्णपुरा, सेंटपॉल स्कूल के पास, उदयपुर, (राजस्थान) - 313001
- डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित, 2, बिलोटीपुरा, उज्जैन, (मध्यप्रदेश)
- डॉ. पूरन सहगल, निदेशक, मालवा लोक संस्कृति अनुष्ठान, मनासा, नीमच, (मध्यप्रदेश)
- डॉ. हरीमोहन पुरवार, संस्थापक एवं निदेशक, बुन्देलखण्ड संग्रहालय, उरई, (उत्तरप्रदेश) 285001
- डॉ. शिव चौरसिया, 130, विद्या नगर, सांवेर रोड, उज्जैन, (मध्यप्रदेश) 456 010
- निरंजन महावर, 26, सेन्ट्रल एवेन्यू, चौबे कॉलोनी, रायपुर, (छत्तीसगढ़)
- डॉ. पीसीलाल यादव, साहित्य कुटीर, गंडई पंडरिया, जिला-राजनांदगाँव, (छ.ग.)
- डॉ. आरती झा, पंडित शम्भूनाथ शुल्क, शासकीय स्वशासी महाविद्यालय, शहडोल, (मध्यप्रदेश)
- डॉ. रामनिवास शर्मा, रीडर, हिन्दी विभाग, पंजाबी यूनिवर्सिटी, पटियाला, (पंजाब)- 147002
- डॉ. बालेन्दु शेखर तिवारी, 6, शिवम् हरिहर सिंह रोड, मोराबादी, राँची, (झारखण्ड) - 834 008
- अभिषेक अवतंस, प्रवक्ता, अनुसंधान एवं भाषा विकास विभाग, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा, (उत्तरप्रदेश) -282008
- प्रो० शेरसिंह बिष्ट, वरिष्ठ आचार्य- हिन्दी विभाग, कुमाऊँ विश्वविद्यालय, एस०एस०जे० परिसर, अल्मोड़ा, (उत्तराखण्ड) - 263601
- दिवा भट्ट, हिन्दी विभाग, कुमाऊँ विश्व विद्यालय, एस.एस.जे. परिसर, अल्मोड़ा, (उत्तराखण्ड)- 263 601
- डॉ. शेखरचन्द्र जोशी, उपाचार्य चित्रकला, कुमाऊँ विश्वविद्यालय, सोबन सिंह जीना परिसर, अल्मोड़ा, (उत्तराखण्ड)
- दीपक कुमार सिन्हा, मंसारा का अखाड़ा, पटना सिटी, पटना, (बिहार) - 800 008
- डॉ. राजेन्द्र रंजन चतुर्वेदी, 1828, हाऊसिंग बोर्ड कॉलोनी, सेक्टर-13-17, पानीपत, (हरियाणा)
- डॉ. (श्रीमती) अर्चना श्रीवास्तव, माता गुजरी महिला महाविद्यालय, सिविक सेंटर, जबलपुर, (मध्यप्रदेश)
- डॉ. उषा वैरागकर आठले, आठले निवास, सिविल लाईन, रायगढ़, (छत्तीसगढ़)
- डॉ. (श्रीमती) आशा खरे, A/12, आचार्य निवास, नेवी नगर, कोलाबा, मुम्बई - 400005
- मायापति मिश्र, MIG 384, कटारा हिल्स, भोपाल, (मध्यप्रदेश)